प्रकीर्णक-पुस्तकमाला—८

पंचदश लोकभाषा-निबंधावली

[भारतीय लोकभाषाओं में से पन्द्रह भाषाओं और उनके साहित्य का संक्षिप्त परिचय]

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—३

प्रथम संस्करण, फाल्गुन, १८८१ शकाब्द; २०१६ विक्रमाब्द, १९६० खीष्टाब्द

मूल्य सजिल्द—४·५०

मुद्रक
तारा प्रेस, तारा प्रकाशन प्रा० लि०,
गया

विषय-सूची

निबंधकारों के परिचय

वक्तव्य

परिषद् से शोध-ग्रन्थों का प्रकाशन तो होता ही है, हिन्दी-साहित्य के अपूर्ण अंगों की पूर्त्ति के लिए साधारण और उपयोगी विषयों पर भी पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। ऐसी पुस्तकें प्रकीर्णक-माला के अन्तर्गत ही मानी जाती हैं। उसी प्रकीर्णक-माला के द्वितीय-पुष्प के रूप में 'चतुर्दशभाषा-निबंधावली' का प्रकाशन परिषद् से हो चुका है, जिसका पाठक-समाज में अच्छा स्वागत हुआ है। परिषद् के विभिन्न वार्षिकोत्सव-समारोहों के अवसर पर अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखित और पठित वे चौदहों निबंध मुद्रित कराकर वितरित भी हुए थे। वे निबंध भारतीय संविधान-द्वारा स्वीकृत चौदहों भाषाओं और उनके साहित्य के सम्बन्ध में थे। किन्तु पुस्तकाकार प्रकाशित करते समय उन निबंधों का तत्-तत् विद्वानों से पुनः संशोधन-परिवर्द्धन करा लिया गया था। इस बार उसी प्रकीर्णक-माला के अष्टम पुष्प के रूप में प्रस्तुत 'पंचदश लोकभाषा-निबंधावली' का प्रकाशन हो रहा है। ये पन्द्रहों निबंध भी परिषद् के विभिन्न वार्षिकोत्सवों के अवसर पर उसी रूप में पठित और वितरित हुए थे, जिस रूप में चतुर्दशभाषा-निबंधावली के निबंधों का पाठ और वितरण हुआ था। ये निबंध भारत की लोकभाषाओं और उनके साहित्य पर लिखे गये हैं। कहना न होगा कि इन लोकभाषाओं में साहित्य के मूल तत्त्व, सौंदर्य, संस्कृति और माधुर्य अधिकाधिक रूप में ओतप्रोत हैं।

इस निबंधावली के अन्तर्गत जिन पन्द्रह विद्वानों के निबंधों का संकलन और मुद्रण किया गया है, उनमें मगही भाषा और साहित्य के निबंधकार अब इस संसार में न रहे। अतएव पुस्तकाकार प्रकाशित करते समय उस निबंध का सम्पादन और परिवर्द्धन पटना-विश्वविद्यालय के विद्वान् प्राध्यापक डॉ॰ शिवनन्दन प्रसाद ने कृपापूर्वक करने का कष्ट उठाया है, अतः परिषद् उनका आभारी है। साथ ही, परिषद् उनका भी आभार स्वीकार करती है, जिनकी रचनाओं से यह निबंधावली समृद्ध और अलंकृत है। पुस्तक के अन्त में हम उन निबंधकारों का सचित्र परिचय दे रहे हैं, किन्तु खेद है कि उनमें से कुछ के चित्र प्रयत्न करने पर भी, उपलब्ध न हो सके। इस पुस्तक के निबन्ध अपनी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में सर्वाङ्गपूर्ण हैं, ऐसा दावा हम नहीं कर सकते। फिर भी हमारा प्रयत्न प्रशंसनीय समझा जायगा, ऐसा विश्वास अनुचित नहीं।

पंचदश लोकभाषा-निबंधावली

मैथिली भाषा और साहित्य

संक्षिप्त परिचय

किसी भाषा के स्वरूप का वास्तविक परिचय देने के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—(१) आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं में उस भाषा का स्थान, (२) उसके बोले जाने का क्षेत्र, (३) उसके बोलनेवालों की संख्या, (४) उसके साहित्य की प्राचीनता, (५) उसके साहित्य की वर्त्तमान परिस्थिति, (६) उसके साहित्य की गुरुता, (७) उसके साहित्य की प्रगति तथा (८) उस भाषा की अपनी स्वतंत्र लिपि। इन्हीं बातों के विचार करने से हमें किसी भाषा और उसके साहित्य का यथार्थ परिचय मिल सकता है।

उपर्युक्त विषयों का आलोचन करने के पूर्व अतिसंक्षेप में 'भाषा किसे कहते हैं' तथा 'उसका क्या महत्त्व है'—इन विषयों का भी दिग्दर्शन करा देना यहाँ अनुपयुक्त नहीं होगा। दूसरों को समझाने के लिए अपने हृदय के भावों को समन्वित रूप में लौकिक शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किये गये वाक्य-समूह ही 'भाषा' है। कभी-कभी अपने हृद्गत भावों को, आलोचन अथवा केवल स्मरण या आवृत्ति करने के लिए, ही, अपने मन ही में, अनभिव्यक्त रूप में भी, लोग विकसित करते हैं। उस अवस्था में भी उन भावों का अभिव्यञ्जक एक प्रकार की 'भाषा' ही है। इन दोनों प्रकार की भाषाओं में अन्तर इतना ही है कि दूसरे प्रकार की भाषा में शब्दों के वैखरी स्वरूप से साहाय्य नहीं लिया जाता है। इसमें केवल मानसिक व्यापार के द्वारा भाषा विकसित होती है।

भाषा की अभिव्यक्ति में शारीरिक बनावट का तथा भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का पूर्ण प्रभाव रहता है। इन्हीं कारणों से एक प्राणी की भाषा दूसरे प्राणी की भाषा से भिन्न होती है। पारस्परिक भेद होने पर भी जितने अंशों में उनके बोलनेवालों में साम्य है, उतने अंशों में उनकी भाषा में भी समानता रहेगी। अतः, पूर्व देश के वासियों की भाषाओं में परस्पर भेद रहने पर भी किन्हीं अंशों में कुछ तो ऐक्य है ही एवं यही साम्य पुनः पश्चिम-देशवासियों की भाषाओं में वैषम्य हो जाता है। मनुष्य होने के कारण तथा वैखरी शब्दों के द्वारा वर्णों के उच्चरित होने से भारतीय भाषाओं के साथ भारतेतर देशवासियों की भाषाओं में भी कुछ साम्य तो है,

फिर भी उपर्युक्त अन्य भेदकों के कारण इन दोनों प्रकार के देशवासियों की भाषाओं में परस्पर इतना अधिक भेद है कि एक की भाषा को दूसरे कुछ भी नहीं समझ सकते हैं।

इसके अतिरिक्त भाषाओं में भेद करनेवाला एक और भी कारण है। यह सभी जानते हैं कि किसी एक प्राणी का प्रत्येक अङ्ग परस्पर सम्बद्ध है। भाषा भी प्राणी का एक अङ्ग है। अतएव, प्राणी के साथ उसकी भाषा का एक प्रकार से अविनाभाव सम्बन्ध है। यही कारण है कि प्रत्येक प्राणी के लिए उसकी एक स्वाभाविक भाषा है, जिसे लोग उसकी 'मातृभाषा' कहते हैं। मनुष्य के बाह्य तथा आन्तरिक अंग सभी उसके पूर्वजों के रक्त से बने हैं। उन अंगों में उस मनुष्य की दैशिक तथा सामाजिक संस्कृति एवं सभ्यता का स्रोत अनादिकाल से बहता चला आया है और अनन्त काल पर्यन्त बहता रहेगा। अर्थात्, प्रत्येक मनुष्य का प्रत्येक अंग उसके पूर्वजों का तथा उस प्रान्त का, जिस प्रान्त में वह मनुष्य रहता है, तत्कालीन संस्कृति एवं सभ्यता का एक ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक प्रतीक है। उन अंगों में ओतप्रोत रूप से भूतकालीन समस्त मानवीय जीवन का प्रतिबिम्ब वर्तमान है। जबतक ये अंग सुरक्षित बने रहेंगे, तबतक उस प्रान्त की एवं उस समय की संस्कृति तथा सभ्यता की धारा अनवच्छिन्न रूप में, शीशे में मुख के प्रतिबिम्ब के समान, देखी जा सकती है। यही संस्कृति और सभ्यता की सम्पत्ति है, जिसे हम इन प्रान्तीय भाषाओं में देखते हैं। इसके नष्ट होने से अथवा इसमें विकार उत्पन्न कर देने से उस सम्पत्ति का मूलोच्छेद हो जायेगा, ऋषिमुनियों की तपस्या के द्वारा सुसंस्कृत रूप में प्रदर्शित भावनाओं की गौरवस्वरूप यह अनवच्छिन्न परिष्कृति के प्रतीकस्वरूप भाषा का अंत हो जायगा और उसके पश्चात् क्रमशः वह प्रान्त दीन, बर्बर, [illegible] जड़ एवं मूक, अथवा पशुप्राय [illegible] में परिणत हो जायेगा। [illegible] के किसी भी अंग का नाश होने से विकलांग, लँगड़े या लूले के समान [illegible] की [illegible] संस्कृति कलंकित हो जायेगी। अतएव, आवश्यकता तो इस बात की है कि [illegible] के समान [illegible] ही अन्त में [illegible] उस संस्कृति [illegible] का [illegible] करने के [illegible] हैं, जिनमें जीवन में, समाज में, देश में, तथा संसार [illegible] में [illegible] आदिकाल से वर्तमान मनुष्य की प्रत्येक भावना [illegible] [illegible]।

अस्तु, अब भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में [illegible] करने से यह मालूम होता है कि [illegible] है। इस क्रम के अनुसार [illegible] [illegible] की [illegible] हुई है।
[illegible]
[illegible] है [illegible]

[illegible] है। इस की

के अन्तर्गत अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी—ये तीन बोलियाँ हैं। ये बोलियाँ प्रधान रूप से उत्तरप्रदेश, मध्यभारत तथा मध्यप्रदेश में बोली जाती हैं। अवधी में कुछ ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिनमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ १६वीं सदी के मलिक मुहम्मद जायसी की लिखी हुई 'पद्मावत' है। गोस्वामी तुलसीदास-रचित 'रामचरितमानस' की भाषा अवधी ही है।

वस्तुतः, पूर्वीय हिन्दी-भाषा का ही यह एक नामान्तर है। इससे पूर्व के प्रदेशों में मागधी प्राकृत-भाषा का साम्राज्य कहा जाता है। यथार्थ में किसी भी भाषा की निर्णीत सीमा नहीं दिखाई जा सकती है। मानी हुई सीमा का उल्लंघन कर कुछ दूर तक भी उस भाषा का प्रभाव तथा अन्य भाषा के साथ सम्मिश्रण देख पड़ता है। अतएव, यद्यपि हिन्दी भाषा का शुद्ध स्वरूप यहीं तक सीमित है तथापि इससे पूर्व के प्रदेशों में बोली जानेवाली मागधी प्राकृत की पश्चिमीय अपभ्रंश तथा आधुनिक भाषा में भी हिन्दी का सम्मिश्रण स्पष्ट है।

मैथिली भाषा के स्वरूप का यथार्थ परिचय कराने के लिए मागधी-प्राकृत से निकली हुई भाषाओं का अति सक्षिप्त परिचय देना उचित जानकर केवल उनकी विशेषताओं का ही निर्देश यहाँ किया जाता है—

मागधी-विभाग—इस विभाग के अन्तर्गत भोजपुरी, उड़िया, असमीया, मैथिली एवं बँगला—ये भाषाएँ सम्मिलित हैं। इस मागधी विभाग का भौगोलिक दृष्टि से चार पृथक् भाग में वर्गीकरण किया जाता है—(१) **पश्चिमीय शाखा**—जिसके अन्तर्गत भोजपुरी है, (२) **पूर्व-दक्षिणीय शाखा**—जिसके अन्तर्गत उड़िया है, (३) **उत्तर-पूर्वीय शाखा**—जिसके अन्तर्गत असमीया है, तथा (४) **मध्य शाखा**—जिसके अन्तर्गत मैथिली, मगही एवं बँगला भाषाएँ हैं। यद्यपि तुलनात्मक तात्त्विक विचार करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि मगही भाषा मैथिली भाषा का ही एक किञ्चित् विकृत स्वरूप है, तथापि हमने यहाँ मगही को मैथिली से पृथक् ही इस समय रखा है।

उड़िया भाषा—उत्कल देश की भाषा है। सन १९२१ ई० की जन-गणना के अनुसार इसके बोलनेवालों की संख्या ६० लाख है। इस भाषा का आधुनिक स्वरूप १४वीं सदी में हमें सबसे प्रथम देखने में आता है। इस भाषा पर तेलुगु तथा मराठी भाषाओं का पूर्ण प्रभाव है। इस भाषा में प्राचीन तथा नवीन साहित्य है। इसकी लिपि भी स्वतंत्र है।

असमीया भाषा—बँगला तथा मैथिली भाषा से भिन्न है। इसके बोलनेवालों की संख्या १४ लाख ४७ हजार से कुछ अधिक है। इस भाषा का प्राचीनतम ग्रन्थ १५वीं सदी का मिलता है। इसकी लिपि बँगला-लिपि के ही समान है। केवल लृ, र एवं व में कुछ भेद है।

भोजपुरी—यह एक बहुत व्यापक बोली है। वस्तुतः, प्रधान रूप से अवधी तथा ब्रजभाषा की तरह यह उत्तरप्रदेश की बोली है। इसके बोलनेवालों की संख्या

२,०४.१२,६०८ है, जिसमें बिहार तथा उड़ीसा में केवल ६६,६१,७६६ हैं, परन्तु उत्तरप्रदेश में १,००,८५,१७१ हैं। अवशिष्ट अन्यत्र हैं।

भोजपुरी पर अर्ध-मागधी का पूर्ण प्रभाव है। अतएव, इसे कुछ विद्वानों ने अर्ध-मागधी के अन्तर्गत ही रखना उचित समझा है। इसमें पश्चिमीय प्रदेशों की संस्कृति की पूरी छाप है। इसे हम पूर्वीय हिन्दी कहें, तो कुछ भी अनुचित नहीं होगा। इसकी लिपि भी हिन्दी के समान, देवनागरी ही है।

वंग-भाषा—उपर्युक्त मागधी विभाग की मध्यशाखा का यह पूर्वीय अंश है। इसके बोलनेवालों की संख्या साढ़े चार करोड़ के लगभग है। इसके साहित्य का प्राचीन स्वरूप हमें १४वीं सदी के चण्डीदास के गीतों में देख पड़ता है। इसकी उन्नति क्रमशः बहुत हुई है और आज यह एक पूर्ण समृद्धिशाली भाषा है। इसकी स्वतंत्र लिपि भी है।

उपर्युक्त भाषाओं का कुछ परिचय देकर अब हम मैथिली भाषा का परिचय देने का प्रयत्न करते हैं, जिसके पश्चात् तुलनात्मक विचार करने से पूर्वीय भाषाओं में मैथिली के स्थान तथा महत्त्व का पूर्ण परिचय लोगों को स्वतः हो जायगा।

मैथिली भाषा—मुख्यतया उत्तर-पूर्व बिहार की मातृभाषा है। भारतवर्ष के सात जिलों (दरभंगा, मुजफ्फरपुर, मुँगेर, भागलपुर, सहरसा, शाहपुर और पूर्णियाँ) में और नेपाल के दो जिलों (रौतहट, सरलाही, सप्तरी, महुतरी और मोरंग) में यह भाषा है। इसका क्षेत्र लगभग १०,००० वर्गमील में व्याप्त है और इसकी जनसंख्या लगभग डेढ़ करोड़ है। इसका सांस्कृतिक केन्द्र दरभंगा तथा मधुबनी है। परन्तु मुँगेर, मुजफ्फरपुर, भागलपुर, पूर्णियाँ आदि शहरों में भी यहीं का व्यावसायिक और व्यावहारिक जीवन केन्द्रित है।

मैथिली भाषा-क्षेत्र के उत्तर में नेपाली, पूर्व में बँगला, दक्षिण में मगही और उड़िया तथा पश्चिम में हिन्दी है। बँगला, असमिया और उड़िया के साथ-साथ इसकी उत्पत्ति मागधी प्राकृत से हुई है। आधुनिक मैथिली का स्वरूप आधुनिक हिन्दी और आधुनिक बँगला के बीच में है। कुछ बातों में यह बँगला से और कुछ बातों में हिन्दी से मिलती-जुलती है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि यह हिन्दी की या बँगला की उपभाषा है। इसकी अपनी बहुत-सी स्वतन्त्र विशेषताएँ हैं, जो अन्य पड़ोसी भाषाओं की विशेषताओं से बहुत ही भिन्न और स्वतन्त्र हैं।

केवल व्याकरण की दृष्टि से ही नहीं, न केवल शब्दकोष और मुहावरों की विभिन्नताओं और विशेषताओं के कारण ही नहीं, और न केवल अन्य [illegible] में [illegible] [illegible] के कारण ही, बल्कि [illegible] [illegible] और [illegible] होने के कारण, [illegible] है।

[illegible] मैथिली की [illegible] और [illegible] है, [illegible] कहते हैं। यह लिपि प्राचीन [illegible]

लिपि से निकली है। इसके आधुनिक स्वरूप का विकास नवीं शताब्दी ईसवी में पूर्ण हो गया था और सरसरी निगाह से देखने पर प्राचीन बँगला, असमीया और उड़िया लिपियों की तरह लगती है। विद्वानों का कहना है कि बँगला आदि लिपियाँ मैथिली लिपि से पूर्ण प्रभावित हैं। इसका पूर्ण व्यवहार ११वीं सदी के श्रीधर कायस्थ के अन्धराठाढी के प्रस्तर-लेख में पाया जाता है। इधर आकर देवनागरी-लिपि में भी मैथिली लिखी जाने लगी है। मुद्रण की सुविधाओं के कारण तथा देवनागरी-लिपि के बढ़ते हुए अखिलभारतवर्षीय प्रचार के कारण, मैथिली की छपी हुई पुस्तकों में अधिकाश देवनागरी का ही प्रयोग होने लगा है।

मैथिली के साहित्य को, राजनीतिक, सामाजिक और भाषा विज्ञान की दृष्टि से, तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है—आदिकाल (१०००—१६००), मध्यकाल (१६००—१८६०), और आधुनिक काल (१८६०—१९५०)। प्रथम काल में गीति काव्य, द्वितीय में नाटक तथा तृतीय में गद्य की प्रधानता रही है।

आदिकाल—मैथिली का सबसे प्राचीन स्वरूप संस्कृत के ग्रन्थों में भाषा-पर्याय के रूप में मिलता है। यथा—वाचस्पतिमिश्र की 'भामती' में और सर्वानन्द की 'अमरकोष की टीका' में।

इसके बाद बौद्ध तान्त्रिकों के अपभ्रंशमय दोहे और भाषा गीत पाये जाते हैं। इनकी भाषा मिथिला के पूर्वीय भाग की बोली का प्राचीन रूप है। इन्होंने पद लिखने की परम्परा चलाई। परन्तु, इनकी विचारधारा का अग्रिम विकास मैथिली में नहीं मिलता। मुसलमानों ने जब बौद्ध मठ नष्ट कर दिये, तब कहाँ और कैसे इनका विकास होता रहा, इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता है।

इसी समय मिथिला में 'कर्णाट-वंश' के राजाओं का उदय हुआ। इन्होंने संगीत की परम्परा स्थापित की और क्रमशः उसके साथ मिथिला देशीय राग-रागिनियों की विशेषताओं को बढ़ाया। ऐसा जान पड़ता है कि इसी प्रसङ्ग में देशी गीतों की आवश्यकता का अनुभव हुआ और मैथिली गीतों का उत्थान आरम्भ हुआ। कर्णाट-वंश के अस्त होने पर 'ओइनिवार-वंश' का उदय हुआ। उसके संरक्षण में हिन्दू-संस्कृति और विद्या की तथा संगीत-पद्धति की परम उन्नति हुई।

ऐसे स्वर्ण-युग के आरम्भ में (लगभग १३२४ ई०) ज्योतिरीश्वरठाकुर का 'वर्ण-रत्नाकर' नाम का गद्य-काव्य का एक महान् ग्रन्थ मिलता है। इसमें विभिन्न विषयों पर कवियों के उपयोगार्थ सुबन्धु और बाण से भी बढ़कर लच्छेदार उपमाओं और वर्णनों को सजाकर रखा गया है।

ज्योतिरीश्वर के पश्चात् विद्यापतिठाकुर का युग (१३५०—१४५०) आता है। इस युग में 'ओइनिवार-वंश' का उत्थान और मातृभाषा के पुजारियों का उदय हुआ। इस युग के प्रधान कवि विद्यापतिठाकुर हुए। बंगाल में जयदेव ने कृष्ण-प्रेम-संगीत की जो परम्परा चलाई, उसी सुर में मैथिलकोकिल विद्यापति ने अपना सुर मिलाया और उसी

के साथ मैथिली काव्यधारा की, विशेषतः गीति-काव्य की, एक अनोखी परम्परा चलाई। विद्यापति अपभ्रंश के युग को व्यतीत कर 'देशी भाषा' या 'मातृभाषा' के युग के आने की घोषणा करते हैं। उनकी अलौकिक काव्य प्रतिभा ने, संगीत और छन्द पर समस्त पूर्वीय भारत में मैथिली का सिक्का जमा दिया।

विद्यापति की प्रसिद्धि बंगाल, उड़ीसा और आसाम में खूब हुई। इन देशों में विद्यापति वैष्णव कवि माने गये और उनके अनुकरण में असंख्य कवियों ने मैथिली में पदावलियाँ रचीं। इस अनुकरण से जो साहित्य बना, उसको 'ब्रजबूली'-साहित्य कहते हैं। इस साहित्य की परम्परा आधुनिक काल तक चली आई है। अपनी शताब्दी मे विश्वकवि रवीन्द्र ने 'भानुसिंहेर पदावली' के नाम से कई सुन्दर पद लिखे।

विद्यापति की परम्परा अपने देश (मिथिला) में भी चली। न केवल इनके शृंगारिक गीत, परन्तु शक्ति-शिव-विषयक कविताओं का भी (जिन्हें क्रमशः 'गोसाउनिक गीत' और 'महेशबानी' तथा 'नचारी' कहते हैं) लोग अभ्यास करने लगे। विद्यापति के समकालीन कवियों में अमृतकर, चन्द्रकला, भानु, दशावधान, विष्णुपुरी, कविशेखर, यशोधर, चतुर्भुज और भीषम कवि उल्लेखनीय हैं। इनके युग के पश्चात्कालीन कवियों (लगभग १६०० ई० तक) में, जिन्होंने इनकी शैली का अनुसरण किया, महाराज कंसनारायण के दरबार में रहनेवालों का नाम प्रमुख माना जाता है। इनमें सबसे प्रसिद्ध और लोकप्रिय कवि गोविन्द हुए। ये गोविन्ददास से भिन्न थे और इनकी पदावली 'कंसनारायण-पदावली' में मिलती है। इधर आकर खण्डवलाकुल के अभ्युत्थान के साथ विद्यापति के अनुयायियों का भी आविर्भाव हुआ। महिनाथ ठाकुर, लोचन झा, गोविन्ददास झा, रामदास झा, उमापति उपाध्याय, भानुनाथ झा, हर्षनाथ झा और चन्दा झा का नाम अन्य ऐसे विद्यापति-परम्परा के अपरकालीन कवियों में अग्रगण्य माना जाता है। इसके अतिरिक्त नैपाल में तीन कवि बड़े प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने विद्यापति के शिव-शक्ति-विषयक पदों का विशेष अनुकरण किया, उनके नाम हैं— सिद्ध नरसिंह, भूपतीन्द्रमल्ल और जगत्प्रकाशमल्ल।

मध्यकाल—(१) मध्यकाल में, मिथिला में कई वर्षों तक अस्थिरता और अराजकता रही। 'ओइनिवार वंश' के नष्ट होने के बाद मिथिला के विद्वान्, कवि और संगीतज्ञ नैपाल के राजदरबारों में संरक्षण और प्रोत्साहन के लिए गये। वहाँ के मल्ल-राजा काव्य और नाटक के बड़े प्रेमी थे। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि मैथिली साहित्य का एक बड़ा अंश नैपाल में लिखा गया।

नैपाल में जो साहित्य लिखा गया, उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण नाट्य साहित्य था। पहले संस्कृत के नाटकों में मैथिली गानों का सन्निवेश करना आरम्भ हुआ। क्रमशः संस्कृत और प्राकृत का व्यवहार कम होने लगा और मैथिली में ही सम्पूर्ण नाटक लिखे जाने लगे। अन्त में संस्कृत नाटक की भी रूपरेखा छोड़ दी गई और एक अभिनव गीतिनाट्य की परम्परा स्थापित हुई।

इन गीतिनाट्यों की विशेषता यह थी कि इनमें संगीत का सामंजस्य प्रधानता रहता थी। अधिकांश कथानक संकेत में ही व्यक्त होता था और गद्य का व्यवहार कम-से-कम लिखित रूप मे नहीं होता था। राजसभाओं में ही ये नाटक अभिनीत होते थे। रंगमंच खुला रहता था और अभिनय दिन में ही होता था। कथानक नवीन नहीं हुआ करते थे—बहुधा पुराने पौराणिक आख्यान या नाटक को ही फिर से गीति-नाट्य का रूप देकर अथवा केवल संशोधन करके उपस्थित कर देते थे।

नेपाली नाटककारों की कार्यभूमि मुख्यतः तीन स्थानों में रही—भातगाँव, काठमाण्डु, और पाटन। भातगाँव में सबसे अधिक नाटक लिखे गये और अभिनीत हुए। मुख्य नाटककार पाँच हुए—जगज्ज्योतिर्मल्ल, जगत्प्रकाशमल्ल, जितामित्रमल्ल, भूपतीन्द्रमल्ल और रणजितमल्ल। इनमें सबसे अधिक नाटक रणजितमल्ल ने लिखे। इनके बनाये १७ नाटकों का पता अबतक लगा है। काठमाण्डु में सबसे प्रसिद्ध नाटककार वंशमणि झा हुए। पाटन में सबसे बड़े कवि और नाटककार सिद्धनरसिंहदेव (१६२०—१६५७) हुए।

नेपाली नाटक की परम्परा एक प्रकार से १७६८ ई० में नष्ट हो गई; जब महाराज पृथ्वीनारायण शाह ने वहाँ के मल्ल राजाओं को हराकर गुरखों का राज्य स्थापित किया, किन्तु किसी रूप से आज भी यह परम्परा भातगाँव में प्रचलित है।

मध्यकाल—(२) जिस समय नैपाल के राजदरबारों में गीति-नाट्य की परम्परा बन रही थी, उसी समय मिथिला में जनता के बीच और बाद में खण्डवलाकुल के अभ्युत्थान होने पर राजसभा में एक दूसरे प्रकार की नाट्य-प्रणाली भी बन रही थी, जिसको **'कीर्त्तनिया नाटक'** कहते हैं।

'कीर्त्तनिया-नाटक' का आरम्भ प्रायः शिव या कृष्ण के चरित्र का वर्णन करने की इच्छा से हुआ। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कीर्त्तनिया नाटक धार्मिक नाटक होते थे। इनमें मनोविनोद या दृश्य-काव्य के आनन्द की पूर्ण सामग्री रहती थी, किसी सम्प्रदाय या देव-भक्ति की विशेष सामग्री नहीं रहती थी।

कीर्त्तनिया का अभिनय रात को होता था। इसके अभिनेताओं की मण्डली समाज के सभी भागों से बनती थी। उसका प्रमुख 'नायक' कहलाता था। कीर्त्तनिया का अपना विशेष संगीत हुआ करता था, जिसे 'नारदीय' कहते हैं।

कीर्त्तनिया नाटकों के आरम्भ में भी केवल मैथिली गानों को संस्कृत-नाटकों में रखा जाता था। इन गानों के द्वारा बहुधा संस्कृत-श्लोकों का या वाक्यों का अर्थमात्र ललित भाषा में स्पष्ट किया जाता था। स्वतंत्र गान का उपयोग अधिकतर केवल स्त्री-पात्र या छोटे पात्र ही करते थे। क्रमशः सम्पूर्ण नाटक मैथिली गानमय होने लगे। क्वचित्-क्वचित् ही संस्कृत और प्राकृत का उपयोग होता था। विशेषतः गद्य तो कथनोपकथन में ही होता था। कीर्त्तनिया नाटक की सबसे परिपक्व अवस्था में संस्कृत और प्राकृत का बिलकुल प्रयोग नहीं होता था। संस्कृत-नाटक का ढाँचा भी नहीं रहता था। एक प्रकार के

सारे कथात्मक भाग के रूप में चौपाइयों और दोहों में कथनोपकथन होता था; कहीं-कहीं उचित गानों का भी समावेश रहता था। मंगलाचरण, 'नान्दी' गीत (जिसमें नाटक के समस्त पात्रों का परिचय और प्रस्तावना होती थी), अंतिम अथवा चौपाईमय कथनोपकथन—यही इसका क्रम होता था।

कीर्तनिया नाटककारों को तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है—१३५०-१७०० तक, १७००-१८०० तक और १८००-१८२० तक।

पहले काल में विद्यापति का 'गोरक्षविजय', गोविन्द कवि का 'नलचरितनाट', रामदास का 'आनन्दविजय', देवानन्द का 'उषाहरण', उमापति का 'पारिजातहरण' और रमापति का 'रुक्मिणीहरण' आदि गिने जा सकते हैं। इनमें सबसे लोकप्रिय और प्रसिद्ध उमापति हुए। इनके ही आधार पर कीर्तनिया अभिनेताओं का साधारण नामकरण किया जाता है।

दूसरे काल के मुख्य नाटककार हैं—लालकवि, नन्दीपति, गोकुलानन्द, जयानन्द, श्रीकान्त, कान्हाराम, रत्नपाणि, भानुनाथ और हर्षनाथ। इनमें लालकवि का 'गौरीस्वयंवर', नन्दीपति का 'कृष्णकेलिमाला', कान्हाराम का 'गौरीस्वयंवर' और हर्षनाथ का 'उषाहरण' तथा 'माधवानन्द' अधिक प्रसिद्ध और साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

तीसरे काल के लेखक विश्वनाथ झा, बालाजी, चन्दा झा और राजपंडित बलदेव मिश्र हैं। इनके नाटकों में प्राचीन कवियों के गानों और पदों की ही पुनरुक्ति अधिक है। नाटकीय संघर्ष का अभाव है और कीर्तनिया के बुझते दीपक के क्षणिक आलोक का आभास है।

मध्यकाल—(३) सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में मैथिली नाटक का एक विकास आसाम में भी हुआ, जिसको 'अंकिया नाट' कहते हैं। यह उपर्युक्त दोनों नाटकों की परम्पराओं से भिन्न प्रकार का हुआ। इसमें लगभग सम्पूर्ण नाटक गद्यमय ही होता था। सूत्रधार पूरे नाटक में अभिनय करता था। अभिनय से अधिक वर्णन-चमत्कार या पाठ की ओर ध्यान था। इन नाटकों का उद्देश्य मनोविनोद नहीं था, प्रत्युत वैष्णव-धर्म का प्रचार करना था। अधिकतर ये नाटक कृष्ण की वात्सल्यमय और दासत्वरूप भाव-पूर्ण लीलाओं का वर्णन करते थे। इनमें एक से अधिक अंक नहीं होते थे।

'अंकिया नाटकारों' में शंकरदेव (सन् १४४६-१५५८ ई०), माधवदेव और गोपालदेव के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध शंकरदेव हुए। इनका 'रुक्मिणीहरण' आसाम में सबसे अधिक लोकप्रिय नाट है।

मध्यकाल—(४) अन्य प्रकार के साहित्य का मध्यकाल में गौण स्थान अवश्य है, परन्तु है ही नहीं, ऐसी बात नहीं। स्वतंत्र गद्य का कोई विशेष ग्रन्थ नहीं है और न उसमें कोई विशेष साहित्यिक परम्परा चली, परन्तु प्राचीन दानपत्र तथा अन्य प्रकार के पत्र आदि मिलते हैं, जिनसे मैथिली गद्य के स्वरूप का विकास जाना जा सकता है। इनमें उस समय की 'बहिआ (भृत्य)-प्रथा'-सम्बन्धी विषयों का पूर्ण ज्ञान होता है।

गीति-काव्य का जहाँ तक सम्बन्ध है, पद्य का विकास विद्यापति के अनुयायियों में ही मिलता है और उनकी चर्चा प्रसंगवश ऊपर की जा चुकी है। विद्यापति परम्परा के अतिरिक्त जो गीति काव्य के लेखक हुए, उनमें मज्जनकवि, लालकवि, कर्णश्याम प्रभृति मुख्य हैं।

पद्य का एक नया विकास लम्बे काव्य, महाकाव्य, चरित और 'समर' के रूप में हुआ। इनके लेखकों मे 'कृष्णजन्म'-कर्ता मनबोध, नन्दीपति, रतिपति और चक्रपाणि उल्लेखनीय हैं।

तीसरी धारा काव्य-कर्त्ताओं की वह हुई. जिसमें सन्तों ने (विशेषकर वैष्णव सन्तों ने) गीत लिखे। इनमें सबसे प्रसिद्ध साहेबरामदास हुए। इनकी पदावली का रचना-काल सन् १७४६ ई० है।

आधुनिक काल—सन् १८६० ई० से १८८० ई० तक मिथिला में आधुनिक जीवन का सूत्रपात हुआ। सिपाही विद्रोह से जो अराजकता छा गई थी, वह दूर हुई। पश्चिमीय शिक्षा का प्रचार होने लगा, रेल और तार का व्यवहार आरम्भ हुआ, स्वायत्त-शासन की सुविधा होने लगी, मुद्रणालयों की स्थापना होने लगी। इसी समय कतिपय साहित्यिक एवं सामाजिक संस्थाओं की स्थापना विहार, उत्तरप्रदेश तथा राजस्थान आदि प्रदेशों में हुई, जो नवजागृति के कार्य को पूर्ण करने में दत्त-चित्त हुई, यथा मैथिल-महासभा, मैथिल विद्वज्जन समिति, मैथिल छात्र-संघ, सम्मेलन, प्रभृति। फलस्वरूप लोगों की अभिरुचि प्राचीन साहित्य के अन्वेषण और अध्ययन की ओर गई और नवीन रूप के युगानुरूप साहित्य की सृष्टि हुई।

नवयुग निर्माण मे कवीश्वर चन्दा झा का नाम सबसे महत्त्वपूर्ण है। इनकी 'महेशवानियां' और अन्य गीतों से नहीं, बल्कि इनके विलक्षण महाकाव्य 'रामायण' की रचना से मैथिली भाषा का गौरव अधिक बढ़ा। इन्होंने आधुनिक गद्य का सबसे पहले विद्यापति-कृत 'पुरुषपरीक्षा' के 'अनुवाद' मे उपयोग किया।

वास्तव मे आधुनिक युग गद्य का युग है। समाचारपत्रों का होना नवीन गद्य की सृष्टि मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसीलिए, 'मैथिल-हित-साधन', मिथिलामोद', 'मिथिलामिहिर' और 'मिथिला' के नाम मैथिली गद्य के विकास में अमर हैं। मैथिली-लेखशैली की वैज्ञानिक पद्धति का निर्णय महामहोपाध्याय डॉक्टर उमेश मिश्र, श्रीरमानाथ झा, और मैथिली वैयाकरणों के द्वारा, विशेषतः पंडित दीनबन्धु झा के द्वारा हो जाने से आधुनिक गद्य का रूप दृढ़ और परिष्कृत हो गया है।

उपन्यास और कहानी आधुनिक युग की प्रमुख देन हैं। इन क्षेत्रों में पहले अनुवाद अधिक हुए, जिनमें परमेश्वर झा की 'सीमन्तिनी आख्यायिका' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आरम्भ मे श्रीरासबिहारीलालदास, श्रीजनार्दन झा (जनसीदन), श्रीलेखा झा और श्रीपुण्यानन्दझा की कृतियाँ प्रसिद्ध हुईं। इधर डाक्टर श्रीहरिमोहनझा ने 'कन्यादान' और 'द्विरागमन' में मैथिली-उपन्यास को बहुत दूर तक पहुँचा दिया। स्वयं,

चामत्कारिक भाषा, और सजीव चित्रण इनकी विशेषताएँ हैं। 'सरोज', 'यात्री', 'व्यास', श्रीयोगानन्दझा प्रभृति गत दशक के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। इन्होंने सामाजिक जीवन के निकटतम पहलू दिखलाने की चेष्टा की है।

गल्प-लेखकों में 'विद्यासिन्धु', 'सरोज', 'किरण', 'भुवन', 'सुमन' तथा 'व्यास' उल्लेखनीय कलाकार हैं। श्रीहरिमोहनझा हास्य-रस की अत्यन्त हृदयग्राही कहानियाँ लिखते हैं। इनके व्यंग्य की कटुता कभी-कभी अप्रिय हो जाती है। श्रीगंगानन्दसिंह, श्रीनगेन्द्रकुमार, श्रीमनमोहनझा, श्रीउमानाथझा और श्रीउपेन्द्रनाथझा हमारे उच्च श्रेणी के कहानीकार हैं। रमाकर, शेखर, यात्री और अमर कल्पनाशील कहानियाँ लिखते हैं।

निबन्ध के स्वरूप आदि में देशोन्नति की भावना व्याप्त है। मुरलीधरझा, रामभद्र-झा, श्रीगंगानन्दसिंह, भुवनजी, त्रिलोचनझा, चेतनाथझा, उमेशमिश्र, बलदेवमिश्र प्रभृति गम्भीर लेख लिखते हैं। भाषा और साहित्य पर लिखनेवालों में महावैयाकरण श्रीदीनबन्धुझा, डॉक्टर श्रीसुभद्रझा, डा० श्रीजयकान्तमिश्र, श्रीगंगानन्दसिंह, श्रीगंगापति सिंह, श्रीनरेन्द्रनाथदास प्रभृति अग्रगण्य हैं। दार्शनिक गद्य श्रीक्षेमधारीसिंह, सर गंगानाथ झा आदि ने लिखा है।

मैथिली भाषा में बहुतसे व्याकरण लिखे गये हैं, किन्तु महावैयाकरण पं० श्रीदीनबन्धु-झा द्वारा रचित 'मिथिला-भाषा-विद्योतन', नाम का सूत्र तथा भाष्यरूप में विद्यमान सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ के समान व्याकरण प्रायः आधुनिक किसी भी भाषा में नहीं है। हेमचन्द्र-रचित प्राकृत व्याकरण के पश्चात् प्रायः यही एक ग्रन्थ व्याकरण के महत्त्व को दिखलाने-वाला भाषा में है।

आधुनिक मैथिली काव्य की दो मुख्य धाराएँ हैं—एक प्राचीनतावादी और दूसरी नवीनतावादी। प्राचीनतावादी कवि महाकाव्य, खण्डकाव्य, परम्परागत गीति-काव्य, मुक्तक काव्य आदि लिखते हैं। इनमें मुख्य कवि चन्दाझा, विन्ध्यनाथझा, गणनाथझा, जीवनझा, रघुनन्दनदास, लालदास, बदरीनाथझा, दत्तवन्धु, सीतारामझा और मुक्तिनाथझा, जीवनाथझा, काशीकान्तमिश्र 'मधुप' आदि हैं। नवीन धारा में देशभक्ति का काव्य, आधुनिक गीति-काव्य, वर्णनात्मक और हास्यात्मक काव्य गिनाये जा सकते हैं। इनमें क्रमशः यदुवर और राघवाचार्य, भुवन, सुमन, ईशनाथ, मधुप, मोहन, यात्री, अमर और हरिमोहनझा अग्रगण्य कहे जा सकते हैं।

नाटक की पुरानी परम्पराएँ समाप्त हो गई हैं और जीवनझा ने प्रचुर आधुनिक गद्य का समावेश कर नवीन नाटक की नींव डाली है। रघुनन्दनदास, आनन्दझा और ईशनाथ झा के नाटकों का स्थान आधुनिक काल में महत्त्वपूर्ण है। इधर एकांकी नाटकों का विशेष प्रचार हुआ है। इनके लेखकों में तन्त्रनाथझा और हरिमोहनझा तथा हरिश्चन्द्र झा प्रभृति के नाम प्रमुख हैं।

मैथिली साहित्य का प्राचीन और मध्यकाल भारतवर्ष के किसी भी साहित्य से कम महत्त्वपूर्ण और सम्पन्न नहीं है। आधुनिक काल में मैथिली को जो संसर्ग बंगला और हिन्दी के

साथ करना पड़ा है और राजनीतिक कारणों से इसे प्राचीन शिक्षा-पद्धति तथा नवीन शिक्षा-पद्धति में तथा स्वतन्त्र भारत के विधान में परिगणित भाषाओं में उचित स्थान अबतक नहीं मिलने के कारण इसकी जो हानि हुई है, वह अकथनीय है।

यह स्पष्ट है कि मैथिली भाषा और साहित्य में जो संस्कृति और सभ्यता भरी हुई है, उसकी रक्षा करना सबके लिए अत्यावश्यक है। इतनी अवहेलना सह्य करती हुई भी जो मैथिली आज भी अपने पैरों पर खड़ी है, यही इसके महत्त्वपूर्ण तथा समृद्धिशाली होने का पूर्ण परिचय दे रहा है। हिन्दी की यह उपभाषा नहीं है। यह एक स्वतंत्र और पूर्ण प्रगतिशील भाषा है। इसका साहित्य सर्वाङ्गपूर्ण है। भाषा-शास्त्र के अध्ययन के लिए इस भाषा में पर्याप्त मसाला है, जिसे कोई भूल नहीं सकता। इसकी लिपि में लिखे हुए ग्रंथ लाखों की संख्या में संसार के पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। फिर भी, इस भाषा का उन्मूलन करने का प्रयास खेदजनक है। परन्तु, कुछ भी हो, कोई पक्ष में हो या विपक्ष में, इसकी उन्नति दिन-दिन होती ही जायेगी, इसमें सन्देह नहीं।

मगही भाषा और साहित्य

पात्रता और योग्यता भिन्न वस्तुएँ हैं। मगही बोली में भाषा कहलाने की पात्रता जितनी है, उतनी वर्त्तमानकाल में भाषा अथवा साहित्य कहलाने की योग्यता नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से 'मगही प्राकृत' अति प्राचीन है, शौरसेनी आदिक प्राकृतों की परवर्त्ती कदापि नहीं। 'मगही' शब्द 'मागधी' का अपभ्रंश है। मागधी मगध की जनभाषा थी। अत्यन्त प्राचीन काल से मगध की जनता के जीवन के साथ उसका अभिन्न सम्बन्ध रहा है। यद्यपि उसका अधिकांश साहित्य मौखिक ही रहा, तथापि प्रकाशित प्राचीन नाटकों में मागधी और अर्ध-मागधी का प्रचुर प्रयोग प्राप्त होता है। कई अधिकारी विद्वानों ने 'पालि' को अति प्राचीन मागधी ही बतलाया है[1]। इस भाषा को भगवान् बुद्ध ने अपनाया और इसका यश देश-देशान्तर में फैल गया। पीछे चलकर पालि विदेशों में तो चलती रही, परन्तु बौद्धों के बीच भाषा की दृष्टि से दो दलों की सृष्टि हो गई। एक ने तो शुद्ध संस्कृत को ग्रहण किया और दूसरे ने गाँवों में छिपी मगही को। सिद्धों की कृतियाँ प्रायः प्राचीन मगही में हैं। बौद्ध सिद्धों का समय आठवीं शताब्दी का आरम्भ माना जाता है। उस समय के सिद्धों ने मगही को अपने भावों और विचारों को प्रकाशित करने का माध्यम बनाया था, जिससे प्रकट है कि मगही सिद्ध युग से पहले भी मगध-प्रदेश की जनता की भाषा रही होगी और अपने विचारों को जनता तक पहुँचाने के उद्देश्य से ही सिद्धों ने उसे अपनाया था। इसलिए, मेरी समझ में, मगही अति प्राचीन प्राकृत होने के नाते भाषा कहलाने की पात्री है।

योग्यता का विचार करें, तो मगही में 'साहित्य' पर्याप्त नहीं है। मगही की ही कहावत है—'जे पूत दरबारी भेला देव पित्तर दुन्नो से गेला।' भारत-साम्राज्य का केन्द्र मगध ही रहा। इसलिए आन्तरिक और बाह्य—दोनों प्रकार के वैरियों की दृष्टि इसी पर रही। बहुतेरे बाहर चले गये, बहुतेरे मारे गये और नगण्य संख्या में जो बच गये, वे राजनीति में फँसे रहने के कारण न तो देवभाषा के लिए समय बचा सके, न पितृभाषा के लिए। मगध के मेधावी विद्वान् सात आठ सौ वर्षों से विदेशियों की भाषाओं पर ही प्रभुत्व-उपार्जन करने का प्रयास करते रहे हैं। मगही ने गाँवों की शरण तो पहले ही ग्रहण की थी। विदेशी सत्ता-स्थापन के परे और विदेशियों के सबल उपनिवेशों के बस जाने पर

---

१. देखिए—भरतसिंह उपाध्याय लिखित 'पालि-साहित्य का इतिहास' और भिक्षु जगदीश काश्यप लिखित 'पालि-महाव्याकरण'।

गाँवों में भी विदेशी भाषाएँ जोर पकड़ने लगीं। मगही भाषा का कलेवर इससे छिन्न-भिन्न हो गया। विविध प्रकार के साहित्यों की रचना तो दूर रही; सन्तों और गीतिकारों की रचनाओं के अतिरिक्त दूसरे ढंग की रचना की भी प्रायः बहुलता नहीं रही। इसलिए साम्प्रत अवस्था में मगही में 'भाषा' कहलाने की योग्यता सामान्यतः नहीं समझी जाती है।

प्राचीन मगही के वंशज, अथवा जिसे मगही में 'लरजर' कहते हैं, अनेक हैं। बंगभाषा 'देसिया मग्गही' की ज्येष्ठ सन्तान है। उत्कल, आसाम और मिथिला की भाषाएँ भी प्राचीन 'मग्गही' की ही सन्तति हैं। परन्तु 'शुद्ध मगही' विदेशियों के प्रभाव-भार से दबी हुई है।

लेखकों के अपेक्षाकृत अभाव के कारण इसमें कोई सर्वव्यापी और सर्वमान्य व्याकरण अबतक नहीं लिखा जा सका है। सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थ 'द लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इंडिया' के आरम्भ में बिहारी भाषाओं का सामान्य रूप से तथा मगही भाषा का अलग रूप से व्याकरण दिया है। किंतु, इसे व्याकरण की रूप-रेखा ही कह सकते हैं। ग्रियर्सन ने अन्यत्र अपने ग्रन्थ 'द सेवन ग्रामर ऑफ् बिहारी लैंग्वेजेज़' के एक खण्ड में स्वतंत्र रूप से मगही का व्याकरण लिखा है।[१] तदुपरि एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् केलॉग ने मगही भाषा का एक व्याकरण लिखा था, किंतु खेद है, इसकी प्रति अब दुर्लभ है।

हिन्दी में, आज से ७० वर्ष पूर्व मगही व्याकरण पर एक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसका आकार ७० पृष्ठों का था और जिसकी लिपि कैथी थी।[२]

मगही में, अगस्त, सन् १९५६ ई० में श्रीराजेन्द्र कुमार यौधेय का 'मगही भाषा के बेआकरन' का पहला भाग प्रकाशित हुआ। छप्पन पृष्ठों की इस पुस्तिका में मगही के माध्यम से पहली बार मगही भाषा-व्याकरण के १६१ नियमों का क्रमबद्ध उल्लेख हुआ है।

किंतु, उपरिलिखित प्रयासों को पर्याप्त और पूर्ण संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता। अभी मगही भाषा के रूप-रूपान्तरों का हिसाब नहीं लगाया गया है। सन्थाल, मुण्डा, ओराँव, हो आदि भाषाओं के बोलनेवाले तथा सुरगुज्जा-राज निवासी आज भी पर्याय रूप में एक प्रकार की मगही बोलते हैं; परन्तु बीसियों प्रकार के भेद इसमें वर्त्तमान हैं। केवल पटना जिले की बात लीजिए। उत्तर में टाल, तरियानी, जल्ला के तीन और दक्षिण में पूर्वी पटना और पश्चिमी पटना के दो—सब मिलाकर पाँच स्पष्ट भेद केवल पटना जिले में ही हैं—

टालक्षेत्र—कहो हथिन	कहो हथुन	कहते हैं
तरियानी—कहऽ हथिन	कहऽ हथुन	,,

१. यह खण्ड बिहार-हिंदी-साहित्य सम्मेलन के अनुसंधान-पुस्तकालय में सुरक्षित है।

२. सुनने में आया है कि इसकी एक प्रति पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' के पास सुरक्षित है।

जल्ला—कहऽ हीवऽ — कहता हूँ
पच्छिमी—कहित हियो — „
पूर्वी—कहऽ हियो — „

गया जिले में सनन्त क्रिया का संक्षिप्त नहीं, वरन् सुस्पष्ट रूप प्रयुक्त होता है। जैसे—कहैत हयु, कहैत ही इत्यादि।

राष्ट्रभाषा की दृष्टि से इन सूक्ष्म भेदों के पचड़ों में पड़ने से कोई तात्कालिक लाभ नहीं। 'मग्गही' वाङ्मय के उपयोगी और सुन्दर शब्दों का संचय अधिक उपादेय होगा। इसलिए संक्षिप्त रूप में 'मग्गही' की विलक्षणताएँ और विचित्रताएँ मननीय हैं। इनके प्रदर्शन के पूर्व एक बात कह देना मैं उचित समझता हूँ और वह यह है कि मगही के मुहावरे और शब्द बिहार-भर में भरे-पड़े ही हैं, पूर्वी उत्तरप्रदेश में भी पाये जाते हैं। भोजपुरी भाषा *'अर्धमागधी'* की कुलदीपिका है; उसकी संज्ञाएँ प्रायः *'मग्गही'* हैं। मैथिली में क्रियाओं के भेद के अतिरिक्त उच्चारण-मात्र का कुछ भेद है।

भाषान्तर के शब्द

मगही में मिश्रित होने के लिए भाषान्तर के शब्दों को अपना रंग-ढंग बदलना पड़ता है। जैसे—मौअत, हरगिस्सो, अदमी, नगीचे, सैलाब, तलाश्रो, बगइचा इत्यादि। सय्यद यूसुफ़पुर (सदीसोपुर), कमरउद्दीनगंज (कबुर्दीगंज), तुरबते औलिया (तिरपौलिया), कैवाँ मिकांह (कौश्राखोह) इत्यादि। इसी प्रकार, अँगरेजी के जज, कलट्टर, मजिस्टर, निस्पिट्टर, टीसन, टेन, टैम, लाइन इत्यादि। राष्ट्रभाषा प्रेमियों के लिए विचारणीय है कि देश की आत्मिका का शासन वे मानेंगे अथवा विदेशी शब्दों को दही में मूसल के समान रखेंगे। मगही वाली भाषान्तर के शब्दों का बहिष्कार नहीं करती; प्रत्युत सर्वतोभाव से उसे अपना लेती है—उसके परभाव को दूर कर देती है।

प्राकृत शब्दों का यथावत् प्रयोग

पश्चिमी हिन्दी में उर्दू के प्रभाव से अकारान्त का हलन्त उच्चारण करने का अभ्यास है। मगही में अकारान्त दीर्घ हो जाता है। जैसे—

संस्कृत	हिन्दी	मगही
हस्त	हाथ्	हाथा
कर्ण	कान्	काना
भक्त	भात्	भता
ग्राम	गाँव्	गामा
धर्म	घाम्	घामा
अग्र	आग्	अगा

विचित्रताएँ

'र' और 'ल' अक्षरों में बहुत उलटफेर दृष्टिगोचर होता है—

हिन्दी	मगही
जलना	जरना
फलना	फरना
छलना	छरना
टलना	टरना
ढलना	ढरना
दलना	दरना
बलना	बरना
गाली	गारी
थाली	थारी
उज्ज्वल	उज्जर
डाल	डाढ़
ग्लानि	गरान
उलझन	ओझड़ाहट (ओझराहट)
उलझाना	ओझड़ाना (ओझराना)
सुलझाना	सोझराना

संस्कृत के चार उपसर्गों का मगही में मौलिक प्रयोग होता है। वे हैं 'सम-सम', 'अनमन', 'उप्पे उप' और 'परा'। 'दीवार पर बल्ली सम सम बैठ गया'—इसमें 'सम' बराबर के अर्थ में भी हो सकता है, परन्तु 'सम्यक्' का अर्थ अधिक उचित है। 'अनमन' 'अनु अनु' अथवा 'अन्वनु' का प्राकृत है। 'गिलास में दूध उप्पेउप रखा हुआ है'; अर्थात् प्रायः अब अधिक डाला नहीं जा सकता—लबालब है। और 'परा जाना' भाग जाने (पलायन) या हट जाने के अर्थ में व्यवहृत होता है।

हिन्दी से मगही में मुहावरों का बड़ा अन्तर है। जैसे—'गाली' शब्द को लें। खड़ी बोली में प्रयोग है—'गाली' देता है। मगही में,—'गारी बकऽ हइ'। गारी पड़ना अथवा गारी पाड़ना का विशेष अर्थ है। जैसे—किसी की मौसी को किसी ने पूछा कि क्या यह तुम्हारी मामी है? यदि जानकर पूछता है, तो यह 'गारी पाड़ता है' और अनजाने, तो यह कहेगा कि 'हत! हमरा गारी पड़त।'

मगही में एक शब्द 'लस' है। कदाचित् यह रस रस का रूपान्तर है। परन्तु यह फारसी के 'उन्स' का पर्याय-सा प्रयुक्त होता है। 'बे लस' मानी 'उस्मठ' है। बोली में 'लस' रहना आकर्षक होता है। चीनी औंटने से जब लस धरती है, तब चासनी आ जाती है। उर्दू का 'बे-लौस' शब्द 'बे-लस' का अन्यथा रूप है। बे-लौस उसे कहते हैं,

जो लच्चो शब्दों में नहीं रहता। यह एक सद्गुण है। परन्तु बेलग उसगट (नीरस) को सहते हैं, जो दुर्गुण है।

मगही के कितने शब्द राष्ट्रभाषा के अंग बन जाने के योग्य हैं। जैसे—'टहकार इंजोरिया', 'दहदह रउदा', 'बुन्दछेंका', किचोड़ा (कर्दमपूर्ण), मसरना, अगराना, रस्से रस्से, बैर (या दुर) बेसाहना इत्यादि।*

अँगरेजी में, जो संसार की साम्प्रत भाषाओं में अतीव उन्नत और विस्तृत है, अनेक प्रकार के कोष उपलब्ध हैं। खड़ीबोली में भी वैसे कोषों के बिना काम नहीं चल सकता है। जब कभी वैसे कोषों का सम्पादन होने लगेगा, तब सभी प्रान्तीय बोलियों के शब्दों की आवश्यकता पड़ेगी। एक बार मुझे 'ख्याल' शब्द के पर्य्यायों के देखने की आवश्यकता पड़ी। मैंने देखा कि संस्कृतमूलक चौबीस शब्दों का प्रयोग होता है अथवा हो सकता है। उनमें कुछ तो ठेठ मगही, कुछ संस्कृत अथवा संस्कृतमूलक शब्दों का ठेठ मगही-प्रयोग और कुछ शुद्ध संस्कृत प्रयोग दीख पड़े—

१. परतीत—बालू के भीत आउ तिरिया के परतीत।
२. बिसवास—बिसवासे पर संसार के बेहवार चल्ले हे।
३. ग्यान—संत लोग ग्यान के बात बतावऽ हथ।
४. चेत—(होश) के अर्थ में। इससे 'घर चेतना' क्रिया बनती है।
५. चित्ता—गृह-जंजाल के चित्ता।
६. चिन्ता—सोच-समूह चिन्ता है।
७. सोच—किसी एक विषय का चिन्तन-मनन।
८. बुध—(अक्किल)।
९. सोग—(शोक)।
१०. ध्यान—(अवधान)।
११. स्मरण—का अर्थ 'याद' है, परन्तु सुमिरन में विशेषता है।
१२. सुध—सुध लेना खबर लेने के अर्थ में है।
१३. चिन्तन—भगवान् का चिन्तन।

---

*१. टहकार अँजोरिया (भोजपुरी) = शुभ्र चाँदनी
२. रउदा=रौदा (भोजपुरी=धाम, रौद्र)
३. बुन्दछेंका=वर्षा थम जाने पर रुके हुए राही को निकल जाने का अवकाश।
४. मसरना=धमकना (भोजपुरी)=खिसकना, संसरण
५. अगराना=प्रसन्न होना (भोजपुरी)
६. रस्से रस्से=धीरे-धीरे। 'रस रस सोख सरित सर पानी'—(तुलसी)
७. बैर बेसाहना=शत्रुता मोल लेना। 'आनेहु मोहि बेसाहि कि मोही'
(कैकेयी की उक्ति)—तुलसी

१४. बोध—अबोध, सबोध।
१५. सुधबुध—सुधबुध गँवा देना। बेखबर हो जाना।
१६. गम—(सुध) हमरा एकरुर 'गम्मे' में हल।
१७. भाव—अभिप्राय।
१८. भावना—मन की कल्पना, सोचावट।
१९. धारणा—किसी विषय के संपर्क में आने से जो भाव धरा रहता है।
२०. कामना—पाने की इच्छा।
२१. संकल्प—दृढ कामना।
२२. मनन—सोचना-गुनना।
२३. इच्छा—अभिलाषा, आकांक्षा, लालसा।
२४. तर्क—विचार, विमर्श, वितर्क।

इस ढंग पर परिश्रम करने से 'पर्य्यायकोष' बड़े सुन्दर बन सकते हैं और मगही बोली में शब्दों का अटूट भाण्डार और सामर्थ्य है।

अब रही मगही भाषा के साहित्यिक इतिहास की बात। महादेवी वर्मा की एक पंक्ति है—'परिचय इतना, इतिहास यही, उमड़ी कल थी मिट आज चली।' मगही भाषा, जैसा मैं कह आया हूँ, 'कल' तो नहीं उमड़ी थी; उसका भाषागत और साहित्यिक इतिहास भी पर्याप्त प्रचीन है। मगही साहित्य की परम्परा का संबंध आठवीं शती के सिद्ध कवि सरहपा तथा भूसुकुपा आदि से जोड़ा जा सकता है और इस तरह मगही साहित्य द्वारा ही हिन्दी साहित्य का प्रादुर्भाव माना जा सकता है। सरहपा के दोहाकोश और चर्यापद हिन्दी को मगही की देन हैं। इन रचनाओं के कई सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।[1] सिद्धों की परम्परा में मध्यकाल में होनेवाले संतों में भी मगही कवि हुए हैं। मध्यकाल में एक ओर मगही लोक-साहित्य में गोपीचंद और भरथरी की रचनाएँ दिखाई देती हैं, दूसरी ओर परिनिष्ठित साहित्य में कवि हरिनाम (पाठकबिघा, गया-निवासी), हरिदास निरंजनी और कवि भिमेखानन्द (बिहारशरीफ, पटना निवासी) के कीर्त्तन आदि संबंधी पद उपलब्ध होते हैं, जिनकी भाषा ठेठ मगही है।[2] मगही में लिखनेवाले सन्त कवियों में 'बाबा कादमदास', 'बाबा सोहंग

---

१ (क) डॉ० प्रबोधचंद्र बागची के संपादकत्व में 'जर्नल आव् द डिपार्टमेंट आव लेटर्ज, कलकत्ता युनिवर्सिटी' के अंतर्गत प्रकाशित। इसकी लिपि नागरी है।

(ख) रोमन अक्षरों में फ्रांसीसी भाषा में डॉ० शहीदुल्ला के शोध-प्रबन्ध 'La Chante Mystique de la Saraha Et de la Kanha' के अन्तर्गत प्रकाशित।

(ग) हिन्दी में राहुल सांकृत्यायन के संपादन में बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित (१९५७ ई०)।

२ दे० श्रीराजेन्द्रकुमार यौधेय का निबंध—'मगही के पुरान कवि'। 'बिहान' वर्ष १, अंक ६ (फरवरी १९५९ ई०)।

दास', 'बाबा हेमनाथदास' इत्यादि अनेक कवि हुए। कुछ दिन पहले जमुआँवा तथा गरुआ के भी अनेक सन्त कवि हुए। परन्तु 'कल' बाबू जयनाथपति ने प्रयास किया था। उनकी अकाल मृत्यु से और मगह-वासियों की श्रद्धाहीनता के कारण साहित्य-रूप में मगही भाषा 'आज' प्रायः मिट चली थी।

किंतु सौभाग्यवश लोकभाषा-साहित्य-संबंधी अध्ययन-अनुसंधान के फलस्वरूप तथा समय की आवश्यकता के कारण इधर कुछ वर्षों से मगही में एक ओर प्राचीन परंपरागत लोक-गीतों, लोक-कथाओं, मुहावरों, कहावतों तथा पारिभाषिक पदों के संग्रह का कार्य आरम्भ हुआ है, दूसरी ओर मगही भाषा में युगोचित नया साहित्य लिखकर उसे साहित्यिक प्रतिष्ठा प्रदान करने के सत्प्रयत्न भी हो रहे हैं।

मगही भाषा-साहित्य संबंधी आधुनिक प्रयास संक्षेप में अवलोकनीय हैं। ये प्रयास हिन्दी तथा मगही दोनों माध्यमों से हुए। हिंदी के अंगरूप में मगही को साहित्यिक मान्यता इस युग में तब मिली, जब १९४३ ई० में पटना-विश्वविद्यालय के पद्य संग्रह में श्रीकृष्णदेव प्रसादजी द्वारा लिखित 'जगउनी' और 'चाँद' शीर्षक कविताएँ अंतर्भुक्त की गईं। मगही भाषा-साहित्य का लेखा-जोखा प्रथम मगही-साहित्य सम्मेलन (एकंगर-सराय) के अवसर पर लिया गया, जब ६ जनवरी, १९५३ ई०, को श्रीरमाशंकर शास्त्री द्वारा लिखित 'मगही' शीर्षक पुस्तिका का प्रकाशन हुआ।

मगही का प्रथम उपन्यास 'सुनीति' की रचना नवादा (गया) के श्रीजयनाथ, मुख्तार ने की। यह शायद छपा भी था। इसमें अंतरजातीय विवाह एवं निम्न वर्गों के उद्धार की समस्या पर विचार मिलते हैं। एक लेखक द्वारा प्रस्तुत मगही (आधुनिक) कविताएँ संग्रहाकार प्रथम १९५२ ई० में प्रकाशित हुईं, जब रामप्रसाद सिंह 'पुंडरीक' ने पुंडरीक-रत्नमालिका के अन्तर्गत, उसके तृतीय भाग में, अपनी मगही रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इन कविताओं में लोकरुचि के अनुकूल सोहर, जँतसारी, झूमर, बिरहा, चैती, होली, कजरी, बारहमासा आदि छंदों का साहित्यिक उपयोग श्लाघ्य है। पुंडरीकजी ने मेघदूत और गीता के मगही अनुवाद भी प्रस्तुत किये।

इधर एक मगही कवि कालिदास का पता लगा है, जिनकी पुस्तक 'खेमराज भूषण' के शेष तेरह पृष्ठ एक पंसारी की दुकान से प्राप्त हुए [१]।

प्रकाशित मगही काव्य के बीच श्रीरामसिंहासन विद्यार्थी कृत-कविताओं का संग्रह 'जगरना' का नाम उल्लेख्य है। इस संग्रह मे राष्ट्रनिर्माण, ग्रामोद्धार आदि आधुनिक भावों के साथ-साथ प्रेम और सौन्दर्य के शाश्वत भाव भी व्यक्त हुए है। सुनने में आया है कि श्रीरामनरेश पाठक और श्रीसुरेश दुबे 'सरस' की कविताओं के संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं।

---

१ दे०—प्रो० रामनंदन का निबंध 'मुद्रित मगही साहित्य'।

आधुनिक मगही साहित्य का पुस्तकाकार प्रकाशन यद्यपि कम हो पाया है, फिर भी मगही भाषा में प्रकाशित पत्रिकाओं के माध्यम से जो साहित्य सामने आया है, वह परिमाण अथवा महत्त्व की दृष्टि से निराशाजनक नहीं है। पत्रिकाओं में मगही रचनाओं का प्रकाशन सर्वप्रथम 'तरुण तपस्वी'[1] द्वारा आरंभ हुआ, जिसमें हिंदी के साथ मगही रचनाएँ भी रहती थीं। पद्य के साथ मगही गद्य भी इसमें देखने को मिला। यह पत्रिका बाद में त्रैमासिक 'मागधी' में रूपांतरित हुई, जो कुछ दिन बंद होकर फिर १९५२ ई० में मगही परिषद् के तत्त्वावधान में पटना से निकली। इसके बंद हो जाने पर १९५५ ई० में पं० श्रीकांत शास्त्री और ठाकुर रामबालकसिंह के संपादकत्व में मगही मासिक पत्र 'मगही' का प्रकाशन बिहार-मगही-मंडल के तत्त्वावधान में हुआ। इस पत्रिका ने मगही साहित्य की रचना को प्रगति दी। अब डेढ़ साल से यह पत्रिका बंद है।

सन् १९५५–५६ ई० में औरंगाबाद (गया) से 'महान मगध'[2] के ९–१० अंक निकले। इसमें पं० श्रीकांत शास्त्री का मगही नाटक 'नया गाँव' छपा, जो बड़ा ही लोकप्रिय हुआ।

पिछले एक वर्ष से बिहार-मगही-मंडल का मासिक शोधपत्र 'बिहान' मगही भाषा में प्रकाशित हो रहा है, जिसके संपादकद्वय हैं—पं० श्रीकांत शास्त्री और प्रो० रामनंदन।

इन पत्रिकाओं के माध्यम से जो मगही साहित्य सामने आया है, उसका कुछ परिचय दे देना अप्रासंगिक न होगा।

आधुनिक मगही साहित्य के अंतर्गत इन पत्रिकाओं में प्रकाशित सर्वश्री कृष्णदेव प्रसादजी, श्रीकांत शास्त्री, रामनरेश पाठक, रुद्र, सदय, रामचंद्र शर्मा 'किशोर', सरस, योगेश, रामसिंहासन विद्यार्थी, गोबरगनेस आदि की कविताओं ने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया।

कहानियों में सर्वश्री राधाकृष्ण-कृत 'ए नेउर, तू गंगा जा', तारकेश्वर भारती-कृत 'नैना काजर', जयेन्द्र कृत 'चंपा', रामनरेशपाठक-कृत 'टार बनकन', श्रीमती पुष्पा आर्याणी कृत 'बोझ' आदि ने आज के मगही कहानी-साहित्य का स्तर ऊँचा किया है।

मगही में वैयक्तिक निबंध के उदाहरण शिवनंदनप्रसाद का 'मंजर' और प्रो० रामनंदन का 'परिकरमा' है। नाटकों में श्रीकांत शास्त्री-कृत 'नया गाँव' पर्याप्त प्रसिद्ध हुआ। प्रो० रामनंदन कृत 'रखनी' और 'कौमुदी-महोत्सव' भी उल्लेख्य हैं।

मगही में ज्ञानवर्द्धक लेख प्रस्तुत करने का श्रेय बिहार-मगही-मंडल के सभापति डॉ० विन्देश्वरीप्रसाद सिन्हा, डॉ० नरेश्वर प्रसाद, श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी', श्रीमती संपत्ति आर्याणी आदि को विशेष रूप से है।

किंतु इन पत्रिकाओं द्वारा, विशेष कर 'बिहान' द्वारा, जो और भी महत्त्वपूर्ण सामग्री सामने आई है वह है मगही भाषा, लिपि, शब्दभंडार, लोकगीत, लोककथा आदि के

१. एकंगरसराय से पं० श्रीकांत शास्त्री के संपादकत्व में प्रकाशित।
२. संपादक—श्रीगोपालमिश्र 'केसरी'।

संबंध में गवेषणापूर्ण लेखों का समूह, जिनमें योग देनेवाले हैं—प्रो० कपिलदेव सिंह, श्रीराजेन्द्रकुमार यौधेय, प्रो० रमाशंकर शास्त्री, श्री परमानंद शास्त्री, प्रो० रामनंदन आदि। मगही शब्द-सूची के अंतर्गत 'खेती के औजार, 'बैलगाड़ी के अंङ्ग', 'कुछ भूगोली शब्द, आदि 'बिहान' में प्रकाशित हुए हैं। मगही (कैथी) लिपि-संबंधी लेख प्रो० रामनंदन, श्रीगणेश चौबे आदि ने प्रस्तुत किये।

मगही लोक-गीतों तथा गीत-कथाओं के संग्रह एवं प्रकाशन की दिशा में भी प्रयत्न हो रहे हैं। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्त्वावधान में डॉ० विश्वनाथ प्रसादजी के निर्देशन और संपादकत्व में 'मगही संस्कार-गीत' संग्रह तैयार हुआ है, जिसका प्रकाशन होने ही वाला है। इसी तरह अन्य कोटियों के गीत तथा 'लोरिकाइन, 'चूहरमल' 'रेशमा' जैसी, मगही-क्षेत्र में प्रचलित, गीत-कथाओं के प्रकाशन की भी आवश्यकता है।

मगध कृषिप्रधान प्रदेश है। उसके प्राकृतिक दृश्य भी बड़े सुन्दर हैं। पौराणिक युग से ही उसमें ऐसी शासन सत्ता का प्रभाव रहा है, जो समय-समय पर समस्त भारत में व्याप्त रही। उसकी राजधानी पाटलिपुत्र अनेक शताब्दियों तक समस्त भारत राष्ट्र का शासन-केन्द्र रहा है। इसके अतिरिक्त हिन्दूमात्र के पूर्वजों की सद्गति का केन्द्र-स्थल गया नामक महातीर्थ भी मगध-जनपद के अन्दर ही है। इस प्रकार, समस्त भारत-राष्ट्र के विभिन्न प्रान्तों की जनता के साथ मगधनिवासियों का सांस्कृतिक-सम्पर्क रहता आया है। इस सम्पर्क का प्रभाव जन-जीवन पर लगातार पड़ते रहने से मगध की जनता के भावों का परिष्कार होता रहा है। इसीलिए मगही के लोक-गीतों में जनता के जीवन के जो वास्तविक चित्र मिलते हैं, वे भाव की सुकुमारता और काव्य की मनोहरता की दृष्टि से बहुत उच्चकोटि के प्रतीत होते हैं। मानव-स्वभाव और मानव-हृदय से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों के अतिरिक्त आध्यात्मिक भावों की अभिव्यंजना भी मगही की रचनाओं में सफलता के साथ हुई है। चूँकि, मौलिक लोक-साहित्य के संग्रह का प्रचलन अँगरेजों के शासन-काल में हुआ, इसलिए उस काल से पूर्व के लोक-साहित्य का कुछ पता नहीं चलता, पर जो लोक-साहित्य इस समय उपलब्ध है, उससे यह पता चलता है कि यह क्रम अनिश्चित-काल से चलता आ रहा है।

नीचे के उदाहरणों से मानव-जीवन के कुछ प्रसंगों के वर्णन स्पष्ट होंगे—

सोहर

साड़ी न लँहगा लहरदार लेबो भउजो हे।
चोली न अँगिया बुट्टेदार लेबो भउजो हे।
कँगना न लेबो पहुँची न लेबो।
बाला न लेबो चमकदार सुनु भउजो हे।

पुत्र-जन्म के अवसर पर गाये जानेवाले लोकगीत 'सोहर' में ननद अपनी भाभी से कहती है कि मैं इस खुशी के अवसर पर लहरदार लँहगा, बुटेदार अँगिया लूँगी। गहनों में मैं पहुँची न लेकर चमकदार बाला लूँगी।

लोरी

सूतश्र रे बबुआ कुकरुश्रा कटतो कान।
मइआ गेलथुन कूटे-पीसे, बाबू गेलथुन दोकान।
पीछू में जलमला बउआ, के धरतो नाम।
हमहि सेलौनियाँ बउआ धरबो नाम, गुनबो नाम।

इस लोरी में एक धाय बच्चे को सुलाते समय गा रही है। कहती है कि तुम्हारी माँ कूटने-पीसने गई है और बाप दूकान गये हैं। तू चुपचाप सो जा, नहीं तो कुत्ता कान काट लेगा।

विवाह के समय कन्या की विदाई का गीत

मइश्रा के रोश्रले सातों गंगा उमड़े बइबा के रोश्रले समुन्द्र हे।
भइश्रा के रोश्रले पटुक लोर भीजे, भउजी के जीश्ररा कठोर हे।
मइश्रा कहे बेटी नित उठी अइह, बाबा कहे छव मास हे।
श्रहे भइया कहे बहिनी काज परोज, लयबों मैं डड़िया पठाय हे।

इस गीत में कन्या के माता-पिता के रोने से गंगा और समुद्र के उमड़ने का वर्णन है। माता अपनी बेटी से कहती है कि तू नित्य ही मेरे घर आया करना और बाप कहता है कि छठे छमासे आना। भाई कहता है कि जब मेरे घर में कोई उत्सव होगा, तब मेरे पालकी भेजने पर आना। किन्तु भाभी कुछ नहीं कहती; क्योंकि उसका हृदय कठोर है।

मगध के प्रसिद्ध पर्व छठ का गीत

नारियल लावे गेलियै जी दीनानाथ बनिया दोकान,
बनिया केरा बेटवा जी दीनानाथ लेलें लुलुश्राय
दुर छी दुर छी गे बाँझिन दूर होइ जो।
तोहरे परिछवे गे बाँझिन मोर जोगिया होइले गे बाँझ।

पुत्र-जन्म के लिए छठ व्रत करनेवाली एक स्त्री बाजार में दूकान पर नारियल खरीदने जाती है, तो दूकानदार कहता है कि तू यहाँ से चली जा, नहीं तो तेरी छाया मेरी स्त्री पर भी पड़ जायगी, जिससे वह भी बाँझ हो जायगी।

इस प्रकार, जन-जीवन के सभी प्रसंगों के मार्मिक वर्णन मगही लोक-गीतों में पाये जाते हैं। ऐसे अनेक लोक गीत हैं, जिनमें वसन्त के उल्लास, बरसात के हिंडोले, विरह की कारुणिक दशा, पति-पत्नी और सास-पतोहू का कलह, ननद-भाभी का विनोद, भाई-बहन का स्नेह, माता-पिता का वात्सल्य आदि के हृदयग्राही-वर्णन बड़े स्वाभाविक ढंग से हुए हैं।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, मैंने मगही की प्राचीनता और सम्पन्नता के चित्र और उसकी वर्तमान प्रगति के विवरण आपके सम्मुख प्रस्तुत कर दिये। यदि इस मण्डली में लगन रही और कार्य आगे बढ़ा, तो अपने सामर्थ्य से मगही भाषा राष्ट्रभाषा की पुष्टि करने में समर्थ होगी।

मगही बोली रत्न-प्रसवा खान है। इसमें कर्मियों की आवश्यकता है। राष्ट्रभाषा के प्रेमियों को चाहिए कि इससे जितने रत्न संग्रह कर सकें, करें। इसको बहनों का सौभाग्य है कि उनके सपूतों ने उसे सुसज्जित रक्खा है। मगही भाषा की सन्तानें निजपर के कदाचार से शून्य हैं। इन उदारचरितों ने कोकिला की तरह दूसरी बोली सीख रखी है और भी-कभी ये परभृतिका की तरह अपने पालन करनेवाली की सुधि तक नहीं ले पाते।

भोजपुरी भाषा और साहित्य

भोजपुरी भारतवर्ष के एक विस्तृत भूभाग की मातृभाषा है और इसका विस्तार लगभग पचास हजार वर्गमील में है।

सर जॉर्ज ग्रियर्सन के मतानुसार भोजपुरी बिहार-राज्य के चंपारन, सारन, शाहाबाद राँची, पलामू और मुजफ्फरपुर जिलों तथा जसपुर-रियासत के कुछ भागों में बोली जाती है। उत्तरप्रदेश के बलिया, गाजीपुर, बस्ती, गोरखपुर, देवरिया और बनारस जिलों में तथा मिर्जापुर, जौनपुर और आजमगढ़ के अधिकतर भागों में तथा फैजाबाद के कुछ हिस्सों में बोली जाती है। बस्ती जिले से लेकर चंपारन जिले की उत्तरी सीमा पर अवस्थित नेपाल की तराई की जनता की और वहाँ के वन्य प्रदेश में बसनेवाले थारुओं की मातृभाषा भोजपुरी ही है।[1]

डॉ० उदयनारायण तिवारी नेपाल-राज्य की तराई का भोजपुरी क्षेत्र ग्रियर्सन की अपेक्षा अधिक विस्तृत बतलाते हैं।[2]

भौगोलिक स्थिति का प्रभाव

भोजपुरी-भाषी क्षेत्र को गंगा नदी दो भागों में विभाजित करती है। इसमें उत्तर की ओर से सरयू, गोमती और गंडक तथा दक्षिण की ओर से सोन नदी आकर मिलती है। इन नदियों में भयंकर बाढ़ आया करती है और फसलों को बर्बाद कर देती है। प्रकृति की इस विभीषिका से सतत संघर्ष के कारण यहाँ के निवासियों में आत्मनिर्भरता की प्रबल भावना है। नेपाल की तराई और छोटानागपुर को छोड़कर अन्य भागों की आबादी घनी है। फलतः, यहाँ के निवासियों को जीविकोपार्जन के लिए कलकत्ता, बम्बई, जमशेदपुर आदि औद्योगिक क्षेत्रों में और आसाम के चाय-बगानों में लाखों की संख्या में काम करना पड़ता है। भोजपुरी क्षेत्र के निवासी भागलपुर, पूर्णिया, हजारीबाग और संथाल परगना में बड़ी संख्या में बसे हुए हैं जहाँ इनका मुख्य व्यवसाय खेती है।

विदेशों में फिजी, ट्रिनीडाड, मोरिशस, दक्षिण अफ्रीका, केनिया और बर्मा में भोजपुरियों की बस्तियाँ हैं, जहाँ ये कभी खेती, मजदूरी या अन्य व्यवसाय के लिए

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इण्डिया, भाग ५, खंड २ (कलकत्ता १९०२ ई०) पृ० ४०।

२. भोजपुरी भाषा और साहित्य (बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५४ ई०) प्रथम खंड, पृष्ठ १०।

गये थे। मॉरिशस की पौने सात लाख की आबादी में भोजपुरी-भाषियों की संख्या दो लाख है[1]। एक लम्बी अवधि तक प्रवास में रहने पर भी इन्होंने अपनी भाषा और संस्कृति का परित्याग नहीं किया और उनमें बहुतों का अपनी मातृभूमि से संपर्क बना हुआ है।

नेपाल की तराई और उससे सटे हुए कुछ हिस्सों को छोड़कर शेष भोजपुरी-क्षेत्र की जलवायु स्वास्थ्यप्रद है और इसका प्रभाव यहाँ के निवासियों पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। स्वस्थ और बलिष्ठ शरीर तथा हाथ में लम्बी लाठी, यह है ठेठ भोजपुरी की पहचान। भोजपुरी युवक, संसार की सबसे सुन्दर सैनिक जातियों से टक्कर ले सकते हैं[2]। मुगलों की सेना में और सन् १८५७ ई० के विद्रोह के पूर्व ब्रिटिश सेना में भी भोजपुरियों का बड़ा सम्मान था। इन सब बातों का प्रभाव भोजपुरी भाषा पर परिलक्षित है।

सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने भोजपुरी को एक फर्मठ जाति की व्यावहारिक भाषा कहा है, जिसका प्रभाव संपूर्ण भारत में अनुभूत हुआ है और जो परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढालने के लिए सदा तैयार रहती है। हिन्दुस्तान को जागरित करनेवालों में बंगाली और भोजपुरी दो मुख्य हैं, जिसे प्रथम ने अपनी कलम से और दूसरे ने अपनी लाठी से पूरा किया है[3]।

भोजपुरी भाषाभाषियों की संख्या

ग्रियर्सन ने भोजपुरीभाषियों की संख्या सन् १९०१ ई० की जन-गणना के आधार पर दो करोड़ बतलाई थी। श्रीवैजनाथसिंह 'विनोद' ने सन् १९५१ ई० की जन-गणना के आधार पर भोजपुरीभाषियों की संख्या २,८७,४३,६२६ बतलाई है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि नेपाल की तराई में बसनेवाली लगभग ३० लाख जनता और प्रवासी भोजपुरियों की संख्या इसमें सम्मिलित नहीं हैं। इस प्रकार, भोजपुरी भाषाभाषियों की संख्या लगभग साढ़े तीन करोड़ होती है।

भोजपुरी भाषा की उत्पत्ति

भारतवर्ष के पूर्वी भाषा समूह में भोजपुरी को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ग्रियर्सन ने मैथिली, मगही और भोजपुरी को बिहारी भाषा के नाम से अभिहित किया है और इसे वे मागधी अपभ्रंश से उद्भूत मानते हैं। उनके मतानुसार भोजपुरी बिहारी भाषा की एक बोली है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने, धातुरूपों के स्पष्ट भेद के कारण, इसे मैथिली-मगही से भिन्न एक पृथक् वर्ग —पश्चिमी मागधन—के अन्तर्गत रखा है। डॉ० श्याम-सुन्दर दास और डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि भाषाशास्त्री अवधी आदि के समान भोजपुरी को भी हिन्दी की उपभाषाओं की श्रेणी में रखने के पक्ष में हैं। डॉ० विश्वनाथ प्रसाद

१. प्रो० विष्णुदयाल, मरीच मुलुक, भोजपुरी (सितम्बर, १९५४ ई०) पृ० ९।

२. जयचंद्र विद्यालंकार, भारतभूमि और उसके निवासी, पृ० १०।

३. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इण्डिया, भाग ५, खंड २, पृ० ४।

४. भोजपुरी लोक-साहित्य : एक अध्ययन (ज्ञानपीठ, पटना, १९५८ ई०) पृ० २।

का मत है कि भोजपुरी प्राच्यवर्ग के अन्तर्गत आती है, जिसका पश्चिमी रूप अर्धमागधी और पूर्वी रूप मागधी —इन दोनों के बीच होने के कारण उसमें कुछ-कुछ अंशों में दोनों के लक्षण पाये जाते हैं[1]। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने बिहारी भाषाओं को दो भागों में विभक्त कर भोजपुरी को 'पश्चिमी बिहारी' के अन्तर्गत रखा है[2]। डा० उदयनारायण तिवारी ग्रियर्सन के मत का ही समर्थन करते हैं और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि बिहारी बोलियों में जितना पार्थक्य है, उसकी अपेक्षा उनमें एकता अधिक है और बिहारी बोलियों की पारस्परिक एकता इस बात को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करती है कि इनकी उत्पत्ति मागधी अपभ्रंश से हुई है[3]।

भाषा-विज्ञान की पहेली सुलझाने के फेर में न पड़कर मैं इस संबंध में इतना ही कहने की धृष्टता करता हूँ कि अवधी, भोजपुरी और मैथिली के किसी समानार्थक वाक्य पर नजर दौड़ाने से स्पष्ट मालूम होता है कि भोजपुरी मैथिली की अपेक्षा अवधी के अधिक निकट है।

भोजपुरी का नामकरण

भोजपुरी भाषा का नामकरण बिहार-राज्य के शाहाबाद जिले के 'भोजपुर' परगने के आधार पर हुआ है। इस जिले के बक्सर सबडिविजन में 'पुराना भोजपुर' और 'नया भोजपुर' नाम के दो गाँव हैं, जिन्हें मालवा के परमार राजपूतों ने, उस भू-भाग पर अपना आधिपत्य जमाने के बाद, अपने पूर्वज राजा भोज के नाम पर बसाया था। भोजपुर परगने का नाम इन्हीं गाँवों के नाम पर पड़ा है। भोजपुरी लोकगीतों में भोजपुर को देश की संज्ञा दी गई है[4]।

भोजपुरी का भाषा के अर्थ में सर्वप्रथम उल्लेख सन् १७८९ ई० में पाया जाता है, जो चुनारगढ़ की ओर जाती हुई फिरंगियों की सेना के सिपाहियों की बोली 'भोजपुरिया' के लिए आया है, जिन्होंने अपने को काशी के राजा चेतसिंह की रैयत बतलाया था[5]। इसके पश्चात् सन् १८६८ ई० में जॉन बिम्स ने भोजपुरी को एक बोली की संज्ञा देकर उस पर अपना लेख प्रकाशित कराया। तदनन्तर ग्रियर्सन, हॉर्नले, फ्रेजर आदि यूरोपीय और अनेक भारतीय विद्वानों ने इस भाषा को भोजपुरी के नाम से ही अभिहित किया है और अब यह भाषा इसी नाम से प्रख्यात है।

---

१. भोजपुरी के कवि और काव्य, संपादक का मन्तव्य (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५८ ई०)—पृ० ५-६।

२. भोजपुरी और उसका साहित्य (दिल्ली, १९५० ई०)—पृ० २१।

३. भोजपुरी भाषा और साहित्य, उपोद्घात, —पृ० १०६,१८०।

४. देस भला भोजपुरी हो सोवा, धरमपुर हो गाँव।
बाबा कोनहीं के महल के मचला, हँसा मोती हो मांव ॥ धंघा०

५. डॉ० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य, प्रथम खंड, पृ० ६।

भोजपुरीभाषी क्षेत्र में प्राचीन भारत के प्रमुख जनपदों में से झारखंड काशी, मल्ल कारुष और वृज्जि जनपद के अधिकांश खण्ड सन्निविष्ट हैं[१]। भोजपुरी की विभाषाएँ आज भी उन जनपदों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसी के आधार पर राहुलजी ने भोजपुरी को दो भागों में विभाजित कर उन्हें काशिका तथा मल्लिका नाम से संबोधित किया है और वृज्जि जनपद की भाषा को वज्जिका नाम देकर उसका अलग अस्तित्व स्वीकार किया है।[२] बौद्धयुग के वज्जि-जनपद के अन्तर्गत चंपारन, सारन का उत्तरी और मुजफ्फरपुर जिले का पश्चिमी भाग सम्मिलित था, जो आज भोजपुरीभाषी क्षेत्र है। ऐसी स्थिति में राहुलजी की वज्जिका को भोजपुरी की एक विभाषा मानने में कोई आपत्ति दिखलाई नहीं पड़ती है। आज भी नैपाल-तराई के थारू चंपारननिवासियों को 'बाजी' कहते हैं, जो वज्जि का अपभ्रष्ट रूप है।

भोजपुरी की विभाषाएँ

सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने भोजपुरी को चार भागों में विभाजित किया है। उत्तरी, दक्षिणी, पश्चिमी और नागपुरिया। गोरखपुर, देवरिया और बस्ती जिले में उत्तरी भोजपुरी; बनारस, आजमगढ़, पश्चिमी गाजीपुर, मिर्जापुर और जौनपुर में पश्चिमी भोजपुरी तथा शाहाबाद, सारन, बलिया और पूर्वी गाजीपुर में दक्षिणी भोजपुरी बोली जाती है, जिसे आदर्श भोजपुरी भी कहते हैं। छोटानागपुर के पलामू और राँची जिले में बोली जानेवाली भोजपुरी नागपुरिया कही जाती है। चंपारन जिले के बगहा थाने के वनों में बसनेवाले लगभग १५ हजार धाँगर (उराँव) अपनी जातीय भाषा के साथ-साथ इसी नागपुरिया भोजपुरी का व्यवहार करते हैं। चंपारन के वन-प्रदेश और नैपाल की तराई में बसनेवाली थारू जाति की भाषा थारू-भोजपुरी कही जाती है।

पूर्व में मुजफ्फरपुर जिले की मैथिली और पश्चिम में गोरखपुरी भोजपुरी के बीच में बोली जाने के कारण चंपारन की भोजपुरी को ग्रियर्सन ने 'मधेसी' नाम दिया है। और, कहा जाता है कि यहाँ वाले अपनी बोली को उसी नाम से अभिहित करते हैं। चंपारन जिले की उत्तरी सीमा पर नैपाल की तराई की बोली और चंपारन की बोली एक ही है। नैपाल के लोग अपने से भिन्न तराई के निवासियों को 'मदेसिया (मध्यदेशीय)' कहते हैं और उसमें उपेक्षा की भावना निहित रहती है। संभवतः, मदेसियों की भाषा होने के कारण ही इस क्षेत्र की भाषा का 'मधेसी' नाम दिया गया है। मैथिली और गोरखपुरी भोजपुरी के मध्यवर्ती होने के कारण इस क्षेत्र की भाषा का नाम 'मधेसी' है, यह धारणा भ्रान्तिमूलक है। वस्तुतः, आज तक हमने चंपारननिवासियों को अपनी भाषा को 'मधेसी' नाम से अभिहित करते कभी नहीं सुना है। यहाँ की बोली के लिए 'मधेसी' नाम अनुपयुक्त है और इसके बदले यहाँ की बोली को पूर्वी भोजपुरी की संज्ञा

१. डॉ० राजबली पाण्डेय, हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (काशी, १९५८ ई०)—पृ० १२।
२. जनपदभाषाओं का प्रश्न, मधुकर (बुन्देलखंड प्रान्त निर्माण-अंक) वर्ष ३ अंक १, १९, पृ० १९८।

दी जानी चाहिए। पूर्वी क्षेत्र की भाषा के लिए, जो कई बातों में आदर्श भोजपुरी या उत्तरी भोजपुरी से भिन्न है, पूर्वी भोजपुरी नाम ही समीचीन होगा।

जब से कतिपय मैथिली के विद्वानों ने यह कहना आरंभ किया है कि चंपारन मिथिला का एक अंग है और यहाँ की भाषा मैथिली है। वे अपने कथन के समर्थन में एक मध्य-कालीन श्लोक का हवाला देते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि कौशिकी और गंडकी के मध्य का भूभाग तैरभुक्ति (तिर्हुत) है।[1]

मुस्लिम आधिपत्य के पूर्व चौदहवीं शताब्दी में कर्णाटक वंश के राजाओं के राजत्व काल में चंपारन मिथिला का एक अंग था। राजनीतिक सीमाएँ घटती बढ़ती रहती हैं और उनकी अपेक्षा सांस्कृतिक सीमाओं में अधिक स्थायित्व रहता है। मुजफ्फरपुर जिले के सीमावर्ती कुछ गाँवों को छोड़कर संपूर्ण जिले की भाषा भोजपुरी है। इन गाँवों के निवासी मैथिली और भोजपुरी का समान रूप से व्यवहार करते हैं। इनके मैथिली वाक्यों में केवल क्रियापद मैथिली के रहते हैं और उनकी वाक्य-रचना और शब्द-योजना भोजपुरी की रहती है। वे उच्चरित होते समय भोजपुरी की ध्वनि-प्रणाली पर आधारित रहते हैं। उनके गीतों की भाषा मुख्यतः भोजपुरी ही है। चंपारन के निवासियों के रस्म रिवाज, वेश-भूषा और रहन-सहन मुजफ्फरपुर जिले के मैथिली क्षेत्र की अपेक्षा गोरखपुर और सारन से अधिक साम्य रखता है। मिथिला और काशी के पंचांग, ज्यौतिष-पद्धति, लग्न और मुहूर्त्त की गणना-प्रणाली में भेद है। चंपारन में काशी का पंचांग व्यवहृत होता है। यहाँ के पंडित ब्राह्मणों के पास जो संस्कृत की प्राचीन पोथियाँ हैं, वे देवनागरी-लिपि में और जो हिन्दी की पोथियाँ हैं, वे कैथी या देवनागरी-लिपि में हैं। यहाँ के निवासी अपने को काशी पाठ या काशी-क्षेत्र के अन्तर्गत मानते हैं। ऐसी स्थिति में चंपारन को भाषिक या सांस्कृतिक दृष्टि से भी मैथिली-क्षेत्र कहना अनुचित और अव्यावहारिक है।

भोजपुरी का व्याकरण

भोजपुरी के व्याकरण के नियम सरल और सुबोध हैं। सर जॉर्ज ग्रियर्सन के कथनानुसार भोजपुरी 'तात्कालिक व्यवहार के लिए निर्मित एक हस्तगत वस्तु है, जो व्याकरण की जटिलताओं के भार से अधिक बोझिल नहीं है[2]।'

भोजपुरी में संज्ञा और विशेषण के प्रायः तीन रूप होते हैं—लघु, गुरु और विस्तृत। सामान्य अर्थ में लघु का और कभी-कभी उपेक्षा या संकेत के अर्थ में विस्तृत रूप का प्रयोग होता है। कतिपय संज्ञा पदों के दो गुरु रूप होते हैं, जिनमें एक घनिष्ठता,

---

१. गङ्गाहिमवतोर्मध्ये नदीपञ्चदशान्तरे
तैरभुक्तिरिति ख्यातो देशः परमपावनः।
कौशिकीं तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै
योजनानि चतुर्विंशद्व्यायामः परिकीर्त्तितः॥

२. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इण्डिया, भाग ५, खंड २, पृ० ५।

सार के रूप में मिलते हैं। उत्तरी और पश्चिमी भोजपुरी का 'देह' शब्द आदर्श भोजपुरी में 'पोंह' हो जाता है।

होना के अर्थ में सामान्य वर्तमान काल के उत्तम पुरुष में पश्चिमी भोजपुरी में 'हईं' और आदर्श भोजपुरी में 'बानी' का प्रयोग होता है। इसके अन्य पुरुष में आदर्श भोजपुरी में 'बा' या 'बाड़े' का प्रयोग होता है, जिसके स्थान में बनारसी बोली में 'बाय', मधेसिया बोली में 'बाड़ै' और गोरखपुर की बोली में 'बाड़े' का प्रयोग होता है। चंपारन में बा, बाटे, बाड़े ये तीनों रूप मिलते हैं।

अब सकर्मक 'देख' धातु को लें। देख धातु के सामान्य भूत के उत्तम पुरुष में बनारसी, भोजपुरी और चंपारन की बोली में 'देखली', सारन में 'देखुई', पश्चिम चंपारन में 'देखनी' और आदर्श भोजपुरी में 'देखलीं' रूप पाया जाता है। इसी प्रकार, भविष्यत्काल में आदर्श भोजपुरी में 'देखबि' रूप है और चंपारन की भोजपुरी में 'देखब'। पश्चिम चंपारन में ल को न में बदलने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

भोजपुरी की सभी विभाषाओं में पुरुषवाचक सर्वनाम के उत्तम पुरुष के एकवचन में 'हम' प्रयुक्त होता है, किन्तु बहुवचन में आदर्श भोजपुरी में 'हमनी' रूप होता है और पश्चिमी एवं उत्तरी भोजपुरी में 'हमलोग' या 'हमलोगन'। आदर्श और चंपारन की भोजपुरी में मध्यमपुरुष में सामान्यतः 'तूं' का और अनादर के अर्थ में तैं का प्रयोग मिलता है, किन्तु पश्चिमी तथा उत्तरी भोजपुरी में विकल्प से 'तैं' का प्रयोग होता है।

वस्तुतः, भोजपुरी की एक विभाषा में प्रयुक्त होने वाले रूप समीपवर्ती दूसरी विभाषा में भी विकल्प से पाये जाते हैं, अतः भोजपुरी की विभाषाओं के प्रयोगगत भेदों का विधिवत् उल्लेख और उनके प्रयोग का क्षेत्र-निर्धारण एक कठिन कार्य है। भोजपुरी की उपभाषाओं की भाषा में उतनी भिन्नता नहीं है, जितनी उनके उच्चारण में है।

पश्चिमी भोजपुरी का हॉर्नले[1] ने, आदर्श भोजपुरी का जॉन बिम्स[2] ने और नागपुरिया भोजपुरी का फादर बुकाउट और पादरी पीटर शान्ति नवरंगी[3] ने विद्वत्तापूर्ण व्याकरण लिखा है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इण्डिया' में भोजपुरी और उसकी विभाषाओं का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया है। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने भोजपुरी के व्याकरण और उसके भाषा-विज्ञान का वैज्ञानिक पद्धति से विधिवत् अध्ययन किया है और इस विषय पर 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' नामक उनका ग्रंथ हिन्दी में अद्वितीय है।

भोजपुरी की ध्वनि

भोजपुरी की ध्वनि की अपनी विशेषताएँ हैं। इसमें ह्रस्व और दीर्घ दोनों स्वरों का

---

१. ए कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ् दि गौडियन लैंग्वेजेज़ (लंदन १८८१ ई०)

२. नोट्स ऑन दि भोजपुरी डाइलेक्ट ऑफ् हिन्दी स्पोकेन इन वेस्टर्न बिहार (१८६८ ई०)

३. नवरंगीजी की पुस्तक 'सदानी भाषा तथा साहित्य' प्रकाशित है।

की द्योतक क्रियाएँ हैं : रेंड़ल[1], गभाइल[2], फुटल (प्रस्फुटित), भरल (परिपुष्ट), लरकल (झुका हुआ), झलकल (सुनहली आभा से युक्त) और पकल (परिपक्व)।

भोजपुरी शब्दों की अभिव्यंजना शक्ति प्रबल है। इसके कुछ क्रियापद नीचे दिये जाते हैं, जिनके पर्यायवादी शब्द हिन्दी में नहीं मिलते।

वरकल = किसी ठोस पदार्थ का आग की गर्मी से अर्द्ध-तरल अवस्था में पहुँच जाना।
बलकल = रेह या क्षार का जमीन की सतह से उपलकर ऊपर उठना।
बमकल = घाव का सहसा बढ़ जाना, अथवा सहसा उत्तेजित हो जाना।
परिकल = परका या परचा हुआ।

उपर्युक्त क्रियापदों की व्याख्या देने पर भी उनके ठीक-ठीक अर्थ व्यक्त नहीं हो सके हैं। भोजपुरी में ऐसी क्रियाओं की संख्या बहुत बड़ी है, जिनके प्रयोग से हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति में वृद्धि हो सकती है।

भोजपुरी का शब्द-भाण्डार बहुत समृद्ध है। ग्रियर्सन[3] और फैलन[4] के शब्द-कोशों में इसके बहुत-से शब्द सम्मिलित हैं, परन्तु भोजपुरी के शब्दकोश का निर्माण-कार्य अभी बाक़ी है। भोजपुरी के देशज शब्दों और उसके धातुपाठ का भी सम्यक् अध्ययन अत्यावश्यक है।

भोजपुरी मुहावरे

भोजपुरी में मुहावरों का भी बाहुल्य है, जिनका विधिवत् संकलन और अध्ययन आवश्यक है। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने पाँच हजार मुहावरों को 'त्रैमासिक हिन्दुस्तानी' में प्रकाशित कराया था; परन्तु अभी अगणित मुहावरे असंकलित हैं।

भोजपुरी का व्यावहारिक प्रयोग

भोजपुरीभाषी क्षेत्र में शिक्षा का माध्यम हिन्दी है और पढ़े-लिखे लोग अन्य प्रांतों के निवासियों से हिन्दी में ही बातें करते हैं। परन्तु इस क्षेत्र की जनता के, चाहे वह पढ़ी-लिखी हो या निरक्षर, दैनिक व्यवहार की भाषा भोजपुरी ही है। अन्य भाषाभाषियों की तरह जब दो भोजपुरीभाषी भी मिलते हैं, तब वे भोजपुरी में ही परस्पर बातें करते हैं। भोजपुरीभाषी विद्वान् भी साहित्य-चर्चा प्रायः भोजपुरी में ही करते हैं। पंचायतों और गोष्ठियों में सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श भोजपुरी में ही होता है। विवाह आदि मंगल कार्यों में भोजपुरी में ही गीत गाये जाते हैं और उपदेश, दृष्टान्त तथा मनोरंजन के लिए भोजपुरी में ही कथाएँ कही जाती हैं। प्रारम्भिक पाठशालाओं के शिक्षक और छात्र पठन-पाठन में भोजपुरी का ही व्यवहार करते हैं। अर्वाचीन

1. धान का वह कोमल पौधा, जिसके भीतर दाना उगने लगा हो।
2. धान का वह पौधा, जिसके भीतर दाना भरने की स्थिति में हो।
3. सिवेन्थ आइल्स ऑफ् बिहार, ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑफ् बिहारी लैंग्वेजेज़।
4. फैलन्स न्यू हिन्दुस्तानी-इङ्गलिश डिक्शनरी।

क्षेत्रों में चिट्ठी-पत्री में भोजपुरी का ही व्यवहार होता है। वस्तुतः, भोजपुरीभाषियों को अपनी भाषा के प्रति बड़ी ममता है और भोजपुरी के परस्पर प्रयोग से अपनापन और निरभिमान का बोध होता है।

अन्य भाषाओं के कवियों द्वारा भोजपुरी का प्रयोग

भोजपुरी एक सजीव और टकसाली भाषा है जिसके शब्दों, क्रियापदों और मुहावरों का प्रयोग अन्य भाषाओं के कवियों ने भी किया है। रामचरितमानस अवधी भाषा का ग्रंथ है, पर उसमें[1] भोजपुरी के प्रयोग बहुतायत से पाये जाते हैं। जायसी का पद्मावत भी अवधी भाषा का ही ग्रन्थ है, उसमें भी अनेक भोजपुरी के शब्द हैं। ब्रज-भाषा के कवियों की रचनाओं में भी अनेकानेक भोजपुरी के शब्द मिलते हैं।

भोजपुरी का साहित्य

भोजपुरी के अध्ययन का सूत्रपात करनेवाले ग्रियर्सन, हॉर्नले आदि यूरोपीय विद्वानों एवं डॉ० चटर्जी आदि परवर्त्ती भाषाविदों की धारणा है कि भोजपुरी में साहित्य का अभाव है। विगत तीस वर्षों की अवधि में भोजपुरी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में काफी छानबीन हुई है, जिसके फलस्वरूप हम उपर्युक्त विद्वानों की धारणा में कुछ संशोधन करने में समर्थ हो सके हैं। भोजपुरी में संत साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, इसका लोक-साहित्य बहुत समृद्धिशाली है। इसमें सैकड़ों लोक-कवियों की सरस रचनाएँ प्राप्य हैं तथा इसमें आधुनिक साहित्य का सर्जन भी हो रहा है। फिर भी, हमें इतना स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि भोजपुरी में प्राचीन शिष्ट साहित्य का अभाव है। भोजपुरी की पश्चिमी सीमा की भाषा अवधी और पूर्वी सीमा की भाषा मैथिली में प्राचीन शिष्ट साहित्य उपलब्ध हैं। भोजपुरी-क्षेत्र में स्थित मँझौली (बलिया), बेतिया (चम्पारन), हथुआ (सारन), सूर्यपुरा (शाहाबाद), डुमराँव (शाहाबाद), रामनगर (चम्पारन) आदि राजदरबारों में कवियों और पंडितों का समादर था। ब्रजभाषा, अवधी और संस्कृत में इनकी रचनाएँ उपलब्ध भी हैं, परन्तु भोजपुरी में इनकी रचनाएँ नहीं मिलती हैं।

वस्तुतः, इस क्षेत्र के पंडितों को इस प्रान्त की सांस्कृतिक राजधानी काशी के पंडित-समाज से प्रेरणा मिलती रही है, फलतः हम उनकी रचनाएँ संस्कृत में ही पाते हैं, जो व्यवहारतः उस युग की राष्ट्रभाषा थी। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा कृष्णभक्ति-शाखा की और अवधी राम-भक्ति शाखा की भाषा होने के कारण एक लम्बे काल तक उत्तरी भारत में काव्य की भाषाएँ रही हैं और इनका प्रभाव भोजपुरीभाषी क्षेत्र पर भी पड़ा। भोजपुरीभाषियों का दृष्टिकोण सदा व्यापक एवं उदार रहा है और उनमें संकीर्ण प्रान्तीयता की भावना पनपने नहीं पाई। इसलिए ब्रजभाषा और अवधी की काव्य-परम्परा अपनाने में उन्हें कोई हिचक नहीं हुई। भोजपुरी भाषाभाषियों का मध्यदेश से साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ रहा है

---

1. भुजबल बिस्व बितब तुम जहिया, धरिहहि बिस्नु मनुज तनु तहिया। —बालकांड, नारदमोह प्रसंग।

कि भोजपुरी में स्वतंत्र रूप से साहित्यिक परंपरा विकसित करने की आवश्यकता का उन्हें बोध ही नहीं हुआ।[१] यहाँ यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि खड़ीबोली के आदि गद्यकार पं० सदल मिश्र, आधुनिक गद्य-शैली के निर्माता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु-युग में खड़ीबोली के आदि कवि पं० चन्द्रशेखरधरमिश्र, गोस्वामी तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जीवनी के स्वनामधन्य लेखक बाबू शिवनन्दन सहाय, महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा, महामहोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा, प्रेमचन्दजी, महाकवि हरिऔधजी, हिन्दी के हितों के सजग प्रहरी पं० चन्द्रबली पाण्डेय, कामायनी के अमर कवि जयशंकर प्रसाद की मातृभाषा भोजपुरी ही थी। आज भी भोजपुरीभाषी क्षेत्र के प्रमुख विद्वान् डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, वैदिक साहित्य के प्रसिद्ध पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, राजा राधिकारमण-प्रसाद सिंह, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, भाषातत्त्वविद् डॉ० उदयनारायण तिवारी, डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रो० बलदेव उपाध्याय, डॉ० राजबली पाण्डेय, पण्डित परशुराम चतुर्वेदी आदि अपनी-अपनी अमूल्य रचनाओं से हिन्दी की ही श्री-वृद्धि कर रहे हैं।

भोजपुरी साहित्य को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—सन्त-साहित्य, प्रकीर्ण लोक-काव्य, लोक-साहित्य और आधुनिक साहित्य।

संत-साहित्य

भोजपुरी का संत-साहित्य विशाल है। भोजपुरी साहित्य का प्रारम्भिक रूप हमें आठवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक के सिद्धों और नाथपन्थी योगियों की वाणियों में मिलता है।[२] सिद्धों की वाणियों में हमें भोजपुरी, मगही, मैथिली, उड़िया, बँगला, असमिया आदि सभी पूर्वीय भाषाओं के मूल रूप की झाँकी मिलती है।

वस्तुतः, भोजपुरी के आदि कवि कबीर हैं, जो पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए थे। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कबीर-ग्रंथावली की भाषा पंजाबी, राजस्थानी और अवधी-मिश्रित खड़ी बोली है। परन्तु कबीर ने स्वयं कहा है—

बोली हमारी पूरब की, हमें लखै नहीं कोय।
हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का होय॥

इस दोहे में कबीर ने स्पष्ट किया है कि उन्हें ठीक-ठीक वही समझ सकता है, जो वस्तुतः पूर्वी प्रान्त का—उनकी बोलीवाले प्रान्त का रहनेवाला हो। कबीर काशी के निवासी थे, जहाँ की बोली पश्चिमी भोजपुरी है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनकी रचनाओं की मूल भाषा भोजपुरी ही थी। उनके ऐसे शिष्यों या भक्तों को, जिनकी मातृभाषा भोजपुरी नहीं थी, लेखनी या वाणी से उतरने के कारण उनकी रचनाएँ हमें विकृत रूप में मिलती हैं। सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी-साहित्य का बृहद्

१. डॉ० विश्वनाथ प्रसाद : भोजपुरी के कवि और काव्य, संपादक का मन्तव्य, पृ० ७।
२. (क) चौसठ घड़िए देल पसारा। पइठेल गराहक नाहि निसारा॥ —चर्यापद
(ख) थंभ विहूणी गगन रचीजै, तेल विहूणी बाती। —गोरखवाणी

इतिहास' में भी कबीर की कविताओं के सम्बन्ध में यह मत प्रकट किया गया है।[1] कबीर के अतिरिक्त इस संप्रदाय के अनेक संतों ने कविताएँ भोजपुरी में लिखी हैं।

भोजपुरी क्षेत्र में पाँच संत-संप्रदाय का उद्भव और विकास हुआ है। ये पाँच संप्रदाय हैं—कबीरपंथ (काशी), शिवनारायणी संप्रदाय (बलिया), दरियापंथ (शाहाबाद), सरभंग संप्रदाय (सारन) और [illegible] संप्रदाय (चंपारन)। सरभंग और शिवनारायण-संप्रदाय की प्रायः सभी रचनाएँ भोजपुरी में हैं, जिनमें आत्मानुभूति और चिन्तन की रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। डॉ० विश्वनाथ प्रसाद की धारणा है कि कृष्ण भक्ति-शाखा की मुख्य भाषा जैसे ब्रजभाषा थी, राम भक्ति शाखा तथा प्रेममार्गी भक्ति शाखा की मुख्य भाषा अवधी थी, वैसे ही कबीर आदि संतों की ज्ञान मार्गी भक्ति शाखा की मुख्य भाषा भोजपुरी थी।[2]

निर्गुणपंथी संतों के अतिरिक्त वैष्णव संतों और कथावाचकों ने भी भोजपुरी में पदों की रचना की है। सत्रहवीं शताब्दी के सारन के संत धरनीदास और उनके परवर्ती संत लक्ष्मीसखी? ... इसरदास और बलिया के बुलाकीदास, नवनिधिदास एवं टिकैतदास आदि संतों के भोजपुरी पद बड़े सुन्दर हैं।

भोजपुरीभाषी क्षेत्र व्रात्यों की भूमि है, जो वैदिक रूढ़ियों को नहीं मानते थे।[3] व्रात्यों की परंपरा से यहाँ की विचारधारा कुछ इस प्रकार अनुप्राणित है कि अनेक संतों को अपने-अपने मतों के प्रचार के लिए इस क्षेत्र में अनुकूल वातावरण मिल गया। बुद्धदेव ने भी इसी क्षेत्र (सारनाथ) में सर्वप्रथम अपने सिद्धान्तों का प्रचार आरंभ किया था।

इधर डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने इस क्षेत्र के दो संत-संप्रदाय—दरियापंथ और सरभंग-संप्रदाय के साहित्य का गवेषणापूर्ण अध्ययन उपस्थित किया है।[4] फिर भी, भोजपुरी संतों पर बहुत-कुछ काम करना अभी बाकी है।

प्रकीर्ण लोक-काव्य

भोजपुरी के लोक-काव्य के अंतर्गत मुख्यतः संगीतज्ञों, गायकों और नर्तकों की रचनाएँ आती हैं। भोजपुरी की कजली बहुत प्रसिद्ध है। काशी और मिर्जापुर में कजली-गायकों के अखाड़े हैं और सावन में कजलियों के दंगल हुआ करते हैं। ये कजलियाँ बड़ी सरस और हृदयस्पर्शी होती हैं। सन् १८८२ ई० में मँझौली के महाराज खड्गबहादुर मल्ल ने

---

1. हिन्दी-साहित्य का बृहद् इतिहास (काशी, १९५८ ई०) पृ० ३०२।
2. भोजपुरी के कवि और काव्य, संपादक का मन्तव्य, पृ० ७।
3. जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द १ (इलाहाबाद, १९३३ ई०) पृ० ३१४।
4. (क) संत-कवि दरिया : एक अनुशीलन और (ख) संत-मत का सरभंग-संप्रदाय—ये दोनों ग्रन्थ बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना से प्रकाशित हैं।

स्वरचित कजलियों का संग्रह 'सुधा-बून्द' के नाम से प्रकाशित कराया था। पूर्वी तो भोजपुरी-क्षेत्र की अपनी खास चीज है। छपरा के श्रीमहेन्द्रमिश्र की रसीली पूर्वियाँ, भोजपुरी-क्षेत्र और इससे बाहर भी काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं। इसी प्रकार, अनेक लोक-कवियों ने चैता, होरी और बारहमासों की रचनाएँ की हैं, जो ऋतुविशेष में गाये जाते हैं। ऐसे गायक कवियों की संख्या बहुत बड़ी है और उनमें अधिकांश की रचनाएँ अभी असंकलित हैं।

आज से लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व सारन जिले के भिखारी ठाकुर ने बिदेसिया नामक एक लोक-नाट्य की रचना की और स्वयं उसका अभिनय-प्रदर्शन भी आरंभ किया। यह नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। ठेठ भोजपुरी में लिखे गये इस लोक-नाट्य की भाषा सजीव है और इससे कई एक अंश बड़े सरस हैं। इसमें परदेसी पति की विवाहिता स्त्री का वर्णन इस प्रकार है—

तोरी धनि[१] बाड़ी रामा अंगवा की पतरी[२] से
लचकेली छतिया के भार रे बिदेसिया।
केसिया[३] त बाड़े जइसे काली रे नगिनियाँ से
सेनुरन[४] भरेला लिलार[५] रे बिदेसिया।
अँखिया त हउए[६] जइसे अमवा[७] की फकिया[८] से
गलवा[९] सोहे गुलेनार रे बिदेसिया।
बोलिया त बाटे[१०] जइसे कुहुके कोइलिया से
सुनि हिया फाटेला हमार रे बिदेसिया।
मुँहवा त हवे जइसे कँवल[११] के फुलवा से
*तोंही बिनु गइली कुम्हिलाइ रे बिदेसिया।**

इसके बाद बिदेसिया की शैली पर अनेक लोक-नाट्य लिखे गये और देहातों में अभिनीत हुए। सम्प्रति ऐसे नाट्यकारों की एक जमात-सी बन गई है, जिसे बिदेसिया-सम्प्रदाय कहा जा सकता है। इन नाटकों की कथावस्तु लोक-जीवन से ली गई है और इनमें सामाजिक बुराइयों का चित्रण है। इधर चंद वर्षों से इनके द्वारा बिहुला,

---

१. नायिका। २. पतली। ३. केशपाश। ४. सिन्दूर। ५. ललाट। ६. है। ७. आम्रफल। ८. फाँक, टुकड़ा। ९. गाल, कपोल। १०. है। ११. कमल।

*यह गीत 'सुन्दरी विलाप' नामक पुस्तिका में भी मिला है। उसके लेखक पण्डित रामसकल पाठक 'द्विजराम' बक्सर (शाहाबाद) के सहनीपट्टी महल्ले के निवासी थे। उनकी पुस्तक विक्रमाब्द १९७६ (सन् १९२९ ई०) में प्रकाशित हुई थी। पाठकजी की मृत्यु विक्रमाब्द १९८६ (सन् १९२९ ई०) में प्रकाशित हुई थी। भिखारी ठाकुर का प्रसिद्ध बिदेसिया गीत 'सुन्दरी विलाप' की हू-ब-हू नकल है। इसलिए बिदेसिया गीत के सर्वप्रथम रचयिता उक्त पाठकजी ही हैं। इसका विस्तृत विवेचन परिषद् से प्रकाशित होनेवाली 'हिन्दी-साहित्य और बिहार' नामक पुस्तक में यथासमय किया जायगा।

—परिषद् संचालक

सारंगा-सदाबृज आदि लोक-गाथाएँ भी अभिनीत की जा रही हैं। इन लोक-कवियों की रचनाएँ छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में हवड़ा के दूधनाथ प्रेस और बनारस की कचौड़ीगली से प्रकाशित हैं।

यहाँ यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि श्रीदुर्गाशंकरप्रसाद सिंह ने भोजपुरी के लगभग दो सौ कवियों की रचनाओं का संकलन किया है जो 'भोजपुरी के कवि और काव्य' के नाम से प्रकाशित है।[1] यद्यपि ग्रंथ की अनेक बातें विवादग्रस्त कही जा सकती हैं, तथापि भोजपुरी के संत-साहित्य और लोक-काव्य पर शोध-कार्य करनेवालों के लिए यह ग्रंथ प्रकाश-स्तंभ का काम करेगा।

लोक-साहित्य

लोक-गीत, लोक-कथाएँ, लोक-गाथाएँ, कहावतें और पहेलियाँ—सभी लोक-साहित्य के अन्तर्गत हैं। यूरोपीय देशों में गीत के संपर्क में आये बिना भी किसी का जीवन व्यतीत हो सकता है, किन्तु हमारे देश में गीत जीवन का अनिवार्य अंग है। भोजपुरी-क्षेत्र में विविध संस्कारों, पूजा-व्रत-त्यौहारों और ऋतुओं के गीत, श्रम-गीत और मनोविनोद के गीत आदि असंख्य प्रकार के गीत प्रचलित हैं।

भोजपुरी का लोक-साहित्य बहुत समृद्ध है, उसके गीत सरस और मर्मस्पर्शी हैं। भोजपुरी लोक-गीतों की परम्परा अति प्राचीन है। उपनयन के अनेक गीत ब्राह्मण-ग्रंथों और गृह्य-सूत्रों पर आधारित हैं और उनमें अरबी-फारसी के शब्दों का अभाव है। लग्न-गीतों में विवाह की प्राचीन मर्यादा का सुन्दर चित्रण मिलता है। ग्राम देवताओं की पूजा के गीतों में सिद्धों और नाथपंथियों के युग का प्रभाव लक्षित होता है। अनेक जँतसारी-गीतों में मुगलों और तुर्कों की काम-लिप्सा और भोजपुरी रमणियों के सतीत्व की महिमा गाई गई है।

भोजपुरी लोक-गीतों के संकलन की ओर सर्व प्रथम यूरोपीय विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में विम्स, फ्रेजर, ग्रियर्सन आदि विद्वानों ने भोजपुरी लोक-गीतों को अँगरेजी-अनुवाद के साथ विद्वत्परिषदों की पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया। हिन्दी के विद्वानों में सर्वप्रथम पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'कविता-कौमुदी-ग्रामगीत' (सन १९२९ ई०) में भोजपुरी के अनेक गीतों को स्थान दिया। इधर बीस वर्षों की अवधि में भी कई पुस्तकें भोजपुरी ग्राम्यगीतों पर प्रकाशित हुई हैं। यथा—

(१) मि० आर्चर का 'भोजपुरी ग्रामगीत' (१९४३ ई०)
(२) डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय का 'भोजपुरी ग्राम गीत'—दो भाग (१९४३-४८ ई०)
(३) श्रीदुर्गाशंकरप्रसाद सिंह का 'भोजपुरी लोक-गीतों में करुण रस' (१९४४ ई०)
(४) श्रीवैजनाथसिंह विनोद का 'भोजपुरी लोक-साहित्य : एक अध्ययन' (१९५८ ई०)

[1] राष्ट्रभाषा परिषद् (पटना) द्वारा प्रकाशित।

मि० आर्चर के उँराव-गीतों के संग्रह 'लील-खो-रश्रा खे-खेल' (१६४०-४१ ई०) में भी नागपुरिया भोजपुरी के अनेक गीत हैं। भोजपुरी लोक-साहित्य पर अध्ययन उपस्थित कर डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने लखनऊ-विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि पाई है। गतवर्ष डॉ० इन्द्रदेवजी ने वहीं 'भोजपुरी लोक साहित्य में समाज-तत्त्व' पर अपना थिसिस उपस्थित किया है, जो एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य है। इन्द्रदेवजी की मातृभाषा कन्नौजी है, परन्तु भोजपुरी लोक-गीतों की मधुरिमा ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के 'लोकभाषा-अनुसन्धान-विभाग' में बिहार की अन्य भाषाओं के साथ ही भोजपुरी के लोक-गीतों, लोक-कथाओं, कहावतों और पहेलियों का बृहत्संग्रह है। लोक-साहित्य-संकलन का यह कार्य वैज्ञानिक पद्धति पर पहले डॉ० विश्वनाथ प्रसाद के निर्देशन में होता था और अब प्रो० नलिनविलोचन शर्मा के तत्त्वावधान में हो रहा है। मोतिहारी के श्रीतारकेश्वर प्रसाद ने भी बहुसंख्यक भोजपुरी लोक-गीतों का संकलन किया है।

प्रस्तुत निबन्ध के लेखक ने लगभग छह हजार पृष्ठों में भोजपुरी लोक-गीतों, लोक-कथाओं, पहेलियों, कहावतों तथा लोक-वार्त्ताओं का संकलन किया है और इन पर लगभग तीन दर्जन निबन्ध लिखे हैं, जो सामयिक पत्रों और विद्वत्परिषदों की पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं।

भोजपुरी क्षेत्र में लोरिकायन, कुँवरविजयी, सुभनयका, राजा ढोलन, सारंगा-सदाबृज, सोरठी बृजाभार, बिहुला, आल्हा आदि अनेक लोक-गाथाएँ प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त नेटुआ और पौरियों के नाच में भी अनेक गाथाएँ पाई जाती हैं, जिनमें दयालसिंघी, मानगुजरिया और मामा-भगिना का युद्ध आदि मुख्य हैं। इन गाथाओं में प्रायः प्रेम और युद्ध का वर्णन मिलता है और इनका नायक देवी-देवता आदि अलौकिक शक्तियों तथा जादू-टोनों की सहायता से अपने उद्देश्य में सिद्धि प्राप्त करता है।

लोक-गीतों की भाँति लोक-गाथाओं के भी अध्ययन का सर्वप्रथम श्रेय ग्रियर्सन को है। इधर भोजपुरी के प्रमुख गाथाओं का विस्तृत अध्ययन डॉ० सत्यव्रतसिंह ने उपस्थित किया है, जो हिन्दुस्तानी एकाडेमी (इलाहाबाद) से प्रकाशित है।

भोजपुरी-क्षेत्र में हजारों की संख्या में लोक-कथाएँ प्रचलित हैं। इन कथाओं में प्रेम, युद्ध, साहसिकता, ठगी और उपदेश की कथाएँ हैं और देवता, दैत्य, परी, भूत-प्रेत, मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष और प्राकृतिक विभूतियाँ इन कथाओं के पात्र हैं। ये कथाएँ गद्य में हैं, परन्तु कतिपय कथाओं की भाषा संस्कृत के चंपुओं की भाँति गद्य-पद्य मिश्रित है। इन कथाओं में अधिकांश के मूल रूप जातक, कथासरित्सागर, पंचतंत्र आदि प्राचीन कथा-साहित्य में पाये जाते हैं। इसमें पद्मावत आदि प्रेमाख्यानों के मूल रूप भी मिलते हैं। आज से लगभग पैंतीस वर्ष पहले श्रीशरच्चन्द्र मित्र ने कुछ भोजपुरी लोक-कथाओं का

अध्ययन उपस्थित किया था, जो विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित है। इधर शाहाबाद जिले के एक अध्यापक श्री ए० बनर्जी ने दस भोजपुरी लोक-कथाओं का एक संग्रह 'फोक टेल्स ऑफ् बिहार' के नाम से अँगरेजी में प्रकाशित किया है। भोजपुरी लोक-कथाओं पर एक सुसंपादित ग्रंथ के प्रकाशन की नितान्त आवश्यकता है।*

भोजपुरी में अगणित कहावतें पाई जाती हैं। इनमे व्यापार, व्यवहार, कृषि, मौसम, औषध, पशु-पक्षी, जाति और मानव-जीवन-संबंधी अनेक उक्तियाँ हैं, जिनमें युग-युग के अनुभव सचित हैं। इन कहावतों की व्यंग्योक्तियाँ बड़ी तीखी हैं। भोजपुरी कहावतें सारगर्भित हैं और इनकी भाषा चुस्त है। उदाहरणार्थ कुछ कहावतें नीचे दी जाती हैं—

(१) घाम देख के हाँफे के, बरखा देख के काँपे के।
(२) बुरबक रसिया अन्हार घर में भटकी।
(३) कहाबे के रानी चोराबे के चमउटी।
(४) खरी न खाय बैला कोल्हू चाटे जाय।
(५) तोहरा इहाँ जाइब त का खिअइब।
(६) हमरा इहाँ अइब त का ले अइब।

ग्रियर्सन, फैलन[1] और जॉन क्रिश्चियन[2] के ग्रंथों में बड़ी संख्या में भोजपुरी कहावतें पाई जाती हैं।[3] संप्रति प्रो० सत्यदेव ओझा भोजपुरी कहावतों पर थिसिस लिख रहे हैं।

भोजपुरी में पहेलियों को 'बुझौवल' कहते हैं। पहेलियों के लिए भी भोजपुरी भाषा समृद्ध है। दो हजार कहावतों की तरह भोजपुरी पहेलियों का एक संग्रह भी डॉ० उदयनारायण तिवारी ने 'हिन्दुस्तानी' में प्रकाशित कराया है, पर इस दिशा में बहुत काम अभी बाकी है।

उपर्युक्त ब्यौरे से ज्ञात होगा कि भोजपुरी लोक-साहित्य के संकलन और अध्ययन के लिये बहुमुखी प्रयास हुए हैं, फिर भी यह काम अभी अधूरा ही है।

आधुनिक साहित्य

भोजपुरी के आधुनिक साहित्य से हमारा तात्पर्य वर्त्तमान युग के साहित्यकारों की उन रचनाओं से है, जिन में नये छंदों में नई भावनाओं की अभिव्यक्ति है।

---

* बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के लोकभाषानुसंधान-विभाग की ओर से शोध-समीक्षा-प्रधान त्रैमासिक 'साहित्य' में भोजपुरी लोक-कथाओं तथा लोक-गाथाओं के कुछ विवरण प्रकाशित हुए हैं। देखिए-वर्ष ९, अंक ४, जनवरी, सन् १९५९ ई०। —परिषद् संचालक

१. फैलन्स हिन्दुस्तानी प्रोवर्ब्स।
२. दि बिहार प्रोवर्ब्स।
३. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इण्डिया, खंड ५, भाग २ (सन् १९०३ ई०) पृ० ४८ में लिखा है कि फैलन, एस्० डब्ल्यू०, टेम्पुल कैप्ट० आर० सी० और लाला फकीरचन्द का हिन्दुस्तानी कहावतों का एक कोश १८८६ में प्रकाशित हुआ था।

नये युग के कवियों में सर्वप्रथम बनारस के तेग अली का नाम आता है, जिन्होंने बनारसी भोजपुरी में गजलें लिखी हैं। इनसे भी पहले मँझौली (बलिया) के राजा खड्गबहादुर मल्ल की 'सुधा-बून्द' नामक पुस्तक बाँकीपुर से १८८४ ई० में प्रकाशित हुई थी। यह साठ कजली-गीतों का एक संग्रह है। इसी ईसवी में बलिया के ही पंडित रविदत्त शुक्ल का 'देवाक्षर-चरित्र' नामक एक नाटक बनारस से प्रकाशित हुआ, जिसमें भोजपुरी दृश्यों के आधार पर 'देवनागरी' भाषा का महत्त्व दिखलाया गया है। रविदत्तजी की एक दूसरी पुस्तक 'जंगल में मंगल' सन् १८८६ ई० में बनारस से प्रकाशित हुई। इसमें बलिया के तत्कालीन कृत्यों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। सन् १८८६ ई० में ही श्रीरामगरीब चौबे की एक पुस्तिका बनारस से प्रकाशित हुई, जिसका नाम 'नागरी-विलाप' था। तेग अली की रचनाओं का संग्रह सन् १८८६ ई० में 'बदमाश दरपण' के नाम से प्रकाशित हुआ था,[1] जो सरसता और टकसाली भाषा के कारण भोजपुरी की एक उच्च कोटि की रचना है।

उदाहरणार्थ 'बदमाश दरपण' से कुछ पंक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं—

गों चूम लेइला, केहू सुन्नर जे पाइला।
हम ऊ हईं जे ओठे पर तरुआर खाइला॥
चूमीला माथा जुलफी के, लट मुहे में नाइला।
संभा सबेरे जीभी में नागिन डसाइला॥
सौ सौ तरे के मूड़े पै जोखिम उठाइला।
पै राजा तूहें एक घेरी देख जाइला॥
कहलीं के काहे आँखी में सुरमा लगावल।
हंस के कहलें छूरी के पत्थर चटाइला॥

तेग अली के समकालीन बाबू रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर' का बिरहा नायिका-भेद साहित्यिक दृष्टि से एक उत्कृष्ट शृङ्गारिक कृति है, जो सन् १६०० ई० में प्रकाशित हुआ था। पश्चात् श्रीमन्नन द्विवेदी गजपुरी ने सवैयों की रचना की, जो बड़े सरस हैं।

देश में स्वतंत्रता-आन्दोलन के फलस्वरूप भोजपुरी में राष्ट्रीय कविताओं की रचना आरम्भ हुई। उस अवधि के कवियों में श्रीरघुवीर नारायण, प्रि० मनोरंजनप्रसाद सिंह, सरदार हरिहर सिंह और चंचरीक मुख्य हैं। सन् १६१२ ई० में श्रीरघुवीर नारायण[2] ने बटोहिया की रचना की, जिसका राष्ट्रीय गीत के रूप में भोजपुरी-क्षेत्र के बाहर भी

१. उपर्युक्त सभी पुस्तकों का विवरण 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इण्डिया, खंड ५, भाग २, (सन् १६०३ ई०) पृ० ४८ में प्रकाशित है।

२. आपका राष्ट्रीय भोजपुरी गीत 'भारत-भवानी' भी बहुत प्रसिद्ध है, जो स्वदेशी और आन्दोलन के युग में राजनीतिक सभाओं में सर्वत्र गाया जाता था। —परिषद् संचालक

प्रचार हुआ। यह उच्च कोटि की एक साहित्यिक कृति है। बटोहिया में अखण्ड भारत का वर्णन है, जिसकी कुछ आरम्भिक पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

सुन्दर सुभूमि भैया भारत के देसवा से
मोरे प्राण बसे हिम खोह रे बटोहिया।
एक द्वार घेरे राम हिम कोतवलवा से
तीन द्वार सिन्धु घहरावे रे बटोहिया।
जाहु जाहु भैया रे बटोही हिन्द देखि आउ
जहवाँ कुहुकि कोइलि बोले रे बटोहिया।
पवन सुगन्ध मन्द अगर चननवाँ से
कामिनी विरह राग गावे रे बटोहिया।

असहयोग-आन्दोलन के समय मनोरंजनजी के 'फिरंगिया' ने भी बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। सरदार हरिहर सिंह की कविताएँ बड़ी ओजस्विनी हैं। चंचरीक के राष्ट्रीय गीतों का संग्रह 'ग्राम-गीताजलि' स्त्रियों में बहुत लोकप्रिय हुआ। परवर्ती कवियों में श्रीप्रसिद्धनारायण सिंह, रामवचन द्विवेदी 'अरविन्द' और प्रो॰ रामदेव द्विवेदी 'अलमस्त' की रचनाओं में हमें राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति मिलती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में उत्तरप्रदेश और विहार में गोरक्षा-आन्दोलन चला था। पं॰ दूधनाथ उपाध्याय ने 'गो-विलाप-छन्दावली' की रचना की, जिससे इस आन्दोलन को बहुत बल मिला। प्रथम महायुद्ध के समय उन्होंने 'भरती के गीत' लिखकर भोजपुरी नौजवानों को फौज में भर्ती होने के लिए प्रोत्साहित किया। आपकी कविताएँ बड़ी ओजपूर्ण होती थीं।

सन् १६११ ई॰ से सन् १६४५ ई॰ तक की पैंतीस वर्ष की अवधि को हम भोजपुरी की राष्ट्रीय कविताओं का युग कह सकते हैं।

विगत पन्द्रह वर्षों की अवधि में भोजपुरी में अनेक कवियों का उदय हुआ है। इन कवियों ने इठलाती हुई ग्रामीण युवतियों के अल्हड़पन का, तारों से चमत्कृत उन्मुक्त आकाश का, चाँदनी रात की, अमराई से आती हुई सुगन्धमयी पुरवैया का, लहलहाती हुई फसल का, कृषक और मजदूरों की दैन्य स्थिति का सुललित और मुहावरेदार भाषा में चित्रण किया है। भोजपुरी गद्य की अपेक्षा भोजपुरी कविताओं की भाषा अधिक मँजी और निखरी हुई है।

इस पीढ़ी के कवियों में प्रथम नाम स्वर्गीय श्यामबिहारी तिवारी 'देहाती' का आता है। देहातीजी ने चुस्त भाषा में बड़ी सरस कविताएँ की हैं। इनके हास्य-रस की तथा अन्य रचनाओं का संग्रह 'देहाती दुलकी' के नाम से प्रकाशित है। उनके समकालीन स्वर्गीय ठाकुर बिसरामसिंह के मर्मस्पर्शी बिरहे ठीक अर्थों में विरह-गीत हैं।

श्रीअर्जुनकुमार सिंह 'अशान्त' का कविता-संग्रह 'अमरलत्ती',[१] पं॰ महेन्द्र शास्त्री का

---

१. अशान्तजी रामचरितमानस के छन्दों में भोजपुरी का एक महाकाव्य लिख रहे हैं, जिसमें भगवान् बुद्ध का चरित्र है, जिसका नाम 'बुद्धायन' है। —परिषद्-संचालक

'आज की आवाज', पं० रामनाथ पाठक 'प्रणयी' का 'सितार' एवं 'कोइलिया', डॉ० रामविचार पाण्डेय का 'विनिया विछिया', रामवचन द्विवेदी 'अरविन्द' का 'गाँव के ओर', आदि भोजपुरी की सुन्दर और उल्लेखनीय कृतियाँ है। श्रीहरेन्द्रदेव नारायण का काव्य-ग्रन्थ 'कुँवरसिंह' इस दिशा में प्रथम और सफल प्रयास है।

इनके अतिरिक्त सर्वश्री पाण्डेय सुरेन्द्र, प्रो० परमहंस राय, भुवनेश्वर प्रसाद 'भानु', प्रो० रामदरश मिश्र, रमाकान्त द्विवेदी 'रमता', दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह, हरीशदत्त उपाध्याय, रणधीर लाल, सरयू सिंह 'सुन्दर', रघुनाथ चौबे, मूसा कलीम, पाण्डेय कपिल, प्रो० शिवप्रसादमिश्र 'रुद्र', बसन्तकुमार, बनारसीप्रसाद भोजपुरी, कमलाप्रसादमिश्र 'विप्र', महेश्वर प्रसाद, बलदेवप्रसाद श्रीवास्तव आदि अपनी-अपनी सरस रचनाओं से भोजपुरी का भाण्डार भर रहे हैं। श्रीरमेशचन्द्र झा की भोजपुरी कविताएँ संख्या में कम होती हुई भी सरस भावनाओं से ओत-प्रोत और हृदयस्पर्शी हैं। उपर्युक्त कवियों में विहार और उत्तरप्रदेश के कुछ ही भोजपुरी कवियों के नाम आये हैं। इनके अतिरिक्त विहार और उत्तरप्रदेश में और भी कई अच्छे कवि हैं, जिनकी रचनाएँ भोजपुरी की शक्ति और सुन्दरता प्रदर्शित कर चकित कर देती हैं।

भोजपुरी का गद्य-साहित्य

भोजपुरी गद्य-साहित्य के प्राचीन रूप का अबतक एक ही उदाहरण उपलब्ध हो सका है। बारहवीं शताब्दी के पंडित दामोदर शर्मा[१] के 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' नामक ग्रन्थ में तत्कालीन बनारसी बोली का नमूना इस रूप में मिलता है — 'वेद पढ़ब', स्मृति अभ्यासिब, पुराण देखब, धर्म करब।

पुराने दस्तावेजों, सनदों और कागज-पत्रों में गद्य के दो-तीन सौ वर्ष पहले के रूप देखने को मिलते हैं। भोजपुरी के साहित्यिक गद्य की रचना आज से करीब ७५ वर्ष पहले आरम्भ हुई थी, परन्तु अभी तक वह अविकसित अवस्था में ही है।

भोजपुरी नाटक

सन् १८८४ ई० में बलिया के पं० रविदत्त शुक्ल ने देवाक्षर-चरित नामक नाटक लिखा था, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। उसके गद्य का नमूना देखिए —

'दोहाई साहब के, सरकार हमनी के हाकिम और माँ-बाप का बराबर हईं; जो सरकार किहाँ से निआव ना होई तो उजड़ि जाब। देखीं जबन ई फारसी के म्यानापुरी हात बाय, एमे बड़ा उपद्रव मची। हमरा सीर के सरहमय्यन लिख्ल गईस बा'।[२]

इसके बाद लगभग पचास वर्षों के बीच भिखारी ठाकुर के विदेसिया आदि लोक-नाट्यों के अतिरिक्त अन्य किसी साहित्यिक नाटक की रचना नहीं हुई, ऐसा प्रतीत होता है।

---

१. द्रष्टव्य—'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, द्वि० सं०) पृ० ८ और १८।

२. डॉ० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य, प्रथम खंड, पृष्ठ ६० से पुनरुद्धृत।

द्वितीय महायुद्ध के समय श्रीराहुल सांकृत्यायन ने आठ भोजपुरी-नाटकों की रचना की जिनके नाम हैं—नइकी दुनिया, जनमुन नेता, मेहरारुन के दुर्दशा, जोंक, ई हमर लड़ाई ह, देशरक्षक, जपनिया राछछ और जरमनवा के हार निहचय। ये सभी नाटक साम्य-वादी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं। राहुलजी भोजपुरी के सिद्धहस्त लेखक हैं और इन नाटकों की भाषा मुहावरेदार और ठेठ भोजपुरी है। इनके अतिरिक्त श्रीगोरखनाथ चौबे का 'उल्टा जमाना' (सन् १६४२ ई०) और श्रीरामविचार पाण्डेय का 'कुँवर सिंह' भी सुन्दर रचनाएँ हैं। भोजपुरी-नाटकों में सबसे अधिक लोकप्रिय है प्रो० रामेश्वर सिंह काश्यप का प्रहसन 'लोहा सिंह' (१६५५ ई०)। इस प्रहसन का जब-जब रेडियो से प्रसारण होता है, रेडियो सेट के निकट श्रोताओं की भीड़ लग जाती है। वस्तुतः, भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से यह एक सफल कृति है।

कथा-साहित्य

भोजपुरी के कथा-साहित्य के अन्तर्गत श्रीअवधविहारी सुमन का कहानी-संग्रह 'जेहल क सनदि' (१६४८ ई०) और श्रीरामनाथ पाण्डेय का सामाजिक उपन्यास 'बिंदिया' (१६५६ ई०) उल्लेखनीय हैं। श्रीमती राधिका देवी और श्रीपाण्डेय सुरेन्द्र ने कई एक सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं, जो आरा नगर की 'भोजपुरी' मासिक पत्रिका में प्रकाशित हैं।

विविध

श्रीव्रजकिशोर 'नारायण' ने टकसाली भोजपुरी में अपनी यूरोपीय यात्रा का विस्तृत विवरण ही उपस्थित किया है, जो अत्यन्त रोचक है। श्रीपाण्डेय कपिल ने शैली की कुछ कविताओं और ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों का पद्यमय अनुवाद किया है। श्रीरामसिंह उदय ने भोजपुरी में आलोचना-साहित्य के सर्जन की ओर ध्यान दिया है। श्रीपाण्डेय जगन्नाथप्रसादसिंह ने विविध विषयों पर निबंध लिखे हैं। ये सभी भोजपुरी गद्य-रचनाएँ 'भोजपुरी' पत्रिका के माध्यम से प्रकाश में आई हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि भोजपुरी गद्यकारों की लेखनी नया मोड़ ले रही है, जो सन्तोष की बात है।

पत्र-पत्रिकाएँ

सन् १६५२ ई० से श्रीरघुवंशनारायणसिंह के सम्पादकत्व में आरा से 'भोजपुरी' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित हो रही है, जो विविधविषयक पठनीय सामग्री से विभूषित रहती है। भोजपुरी के गद्य और पद्य-साहित्य के विकास में इस पत्रिका का बहुत बड़ा हाथ है। वस्तुतः, पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तक-प्रकाशकों का अभाव भोजपुरी साहित्य के विकास में सबसे बड़ा बाधक है।

इसके पूर्व सन् १६४८ ई० में पं० महेन्द्र शास्त्री ने पटना से त्रैमासिक 'भोजपुरी' का प्रकाशन आरम्भ किया था, जो अर्थाभाव के कारण चल नहीं सका। 'भोजपुरी' नामक साप्ताहिक पत्रिका सबसे पहले कलकत्ता से सन् १६४७ ई० के १५ अगस्त से प्रकाशित हुई थी। इसके सम्पादक श्रखौरी महेन्द्रकुमार वर्मा शाहाबाद जिले के निवासी थे। इसमें भोजपुरी के साथ हिन्दी की भी रचना छपती थी।

भोजपुरी लिपि

भोजपुरी पहले कैथी-लिपि में लिखी जाती थी। आज भी पुराने खयाल के लोग इसी लिपि का व्यवहार करते हैं। भोजपुरी-क्षेत्र में शिक्षा-प्रचार के साथ ही देवनागरी-लिपि का प्रचार बढ़ता जाता है और लोग निजी कामों में भी स्वेच्छा-पूर्वक देवनागरी-लिपि का व्यवहार करने लगे हैं। मुद्रण की सुविधाएँ भी देवनागरी-लिपि के प्रचार में सहायक हो रही हैं और भोजपुरी की पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ देवनागरी-लिपि में ही छपती हैं।

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि विद्वानों का ध्यान जितना भोजपुरी भाषा-साहित्य-सम्बन्धी शोध-कार्य की ओर आकृष्ट हुआ है, उतना उसके साहित्य-सर्जन की ओर नहीं। भोजपुरीभाषी क्षेत्र में हिन्दी के अनेक लेखक और कवि विद्यमान हैं, जो अपनी रचनाओं से हिन्दी का भाण्डार भर रहे हैं। परन्तु वे भोजपुरी में साहित्य-सर्जन की बात पसन्द नहीं करते हैं। वे क्षेत्रीय भाषाओं के आन्दोलन से सशंक हैं। उन्हें आशंका होती है कि इस प्रकार का आन्दोलन कभी हिन्दी की प्रगति में बाधक सिद्ध हो सकता है। वस्तुतः, भोजपुरी के हिमायती हिन्दी के प्रबल समर्थक हैं और वे हिन्दी की प्रगति में बाधा पहुँचाने की कल्पना भी नहीं कर सकते। किन्तु, परिवर्त्तित स्थिति में भोजपुरी में भी साहित्य-सर्जन की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। इसलिए, भोजपुरी के लेखक और कवि अनेक बाधाओं के बावजूद अपने लक्ष्य की ओर दृढ़तापूर्वक बढ़ रहे हैं।

अंगिका भाषा और साहित्य

*जहाँ बिहार याज्ञवल्क्य तथा गौतम की भूमि है, वहाँ यह महावीर और बुद्ध, चन्द्रगुप्त और चाणक्य तथा अशोक एवं गुप्त राजाओं की भी भूमि रही है। आधुनिक बिहार के मुख्य-मुख्य भागों के प्राचीन नाम विदेह, मगध और अंग सदियों से धर्म, दर्शन, कला आदि जो सब संस्कृति तथा सभ्यता के द्योतक हैं, वे न केवल भारत के सभी भागों में, अपितु एशिया के सुदूर भागों में भी रश्मि विकीर्ण करते रहे हैं। यह कोई अत्युक्ति नहीं है कि भारत का इतिहास वस्तुतः बिहार का ही इतिहास था।**

—डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद

राष्ट्रपति के शब्दों में जिस अंग की चर्चा है, उसका अतीत कितना महिमा एवं गरिमामय रहा है, वह स्पष्ट है। अंग नाम सर्वप्रथम अथर्ववेद[1] में मिलता है। वायुपुराण[2] और ब्रह्मपुराण[3] के अनुसार धर्मरथ और उसके पुत्र चित्ररथ का (जिसे ऋग्वेद के अनुसार इन्द्र[4] ने अर्प के साथ सरयू-तट पर अपने भक्तों के हित के लिए पराजित किया) प्रमुख उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग, बिहार और पूर्व में बंगालसागर तक फैला था। अंग की नगरी विटंकपुर समुद्र के तट पर थी।[5] दूसरी ओर सरयू नदी अंग-राज्य में बहती थी। इसकी उत्तरी सीमा गंगा थी, किन्तु कोशी[6] नदी कभी अंग में और कभी विदेह-राज्य में बहती थी। 'शक्ति-संगम-तंत्र'[7] अंग की सीमा एक शिव-मन्दिर से दूसरे शिव-मन्दिर तक—सम्प्रति वैद्यनाथ से पुरी एवं भुवनेश्वर पर्यन्त बतलाता है।

महाभारत[8] के अनुसार अंग-बंग एक ही राज्य था, जिसके राजा मगध में अपरिगत गौतम के आश्रम में आकर प्रसन्न होते थे। प्राचीनतम बौद्ध-ग्रंथ 'अंगुत्तर-निकाय'[9]

* बिहार भू दि प्रोब्लेम (राष्ट्रपति देशरत्न डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद का संदेश : आर॰ आर॰ दिवाकर।
1. अथर्ववेद—५-२२-१४।
2. वायुपुराण—९९-१०२।
3. ब्रह्मपुराण—१३-२९।
4. ऋग्वेद—४-३१-१८।
5. कथा सरित्सागर—२५-३५; २६, ११५; ८२-८३, ११।
6. विमलचरण लाहा का ज्यॉग्रफी ऑफ़ अर्ली बुद्धिज्म—६।
7. शक्ति-संगम-तंत्र—सप्तम पटल।
8. महाभारत—२-४४-९।
9. अंगुत्तर निकाय—१-२१३; ४, २५२, २५६, २६०।

बौद्ध-संस्कृत ग्रंथ 'महावस्तु'[1] तथा प्राचीन जैन)-ग्रंथ 'भगवती-सूत्र'[2] में जो षोडश महाजनपदों की तालिका दी गई है, वह प्रमाणित करता है कि अंग एक महाजनपद था। अंग में मानभूमि, वीरभूमि, मुर्शिदाबाद और संताल परगना—ये सभी इलाके सम्मिलित[3] थे। वैदिक ग्रंथों में अंग अस्पष्ट रूप से, सिर्फ प्राच्य के निवासी थे और बाद में निवास बदलता रहा, वर्णित है। जहाँ अंग-जाति कभी सरयू, सोन और गंगा के तट पर बसती थी, वहीं बौद्ध काल में वह चम्पा और गंगा के संगम पर चली आई। इस तरह अंग-महाजनपद की भौगोलिक सीमा और उसका विस्तार काल-क्रम से घटता बढ़ता रहा है। पर इतना तो निर्विवाद है कि आज का भागलपुर प्राचीन अंग की राजधानी और सम्प्रति उसके मुख्य नगर का प्रतिनिधित्व करता है। गंगा और चम्पा के संगम पर बसी 'चम्पा' अंग की राजधानी थी। मालिनी, चम्पा, चम्पापुरी, लोम्पादुपू और कर्णपू आदि कई नाम आज के भागलपुर के निकटस्थ चम्पापुर के अतीत में रह चुके हैं।

'रामायण'[4] के अनुसार 'मदन शिव के आश्रम से शिव के क्रोध से भस्मीभूत होने के डर से भागा और उसने जहाँ अपना शरीर त्याग किया, उसे अंग कहे जाने लगा।' महाभारत[5] और पुराणों[6] के अनुसार बली के क्षेत्रज पुत्रों ने अपने नाम से राज्य बसाया था। चन्द्रवंशी ययाति के पौत्र (अणु के पुत्र) तितिक्षु ने 'प्राच्य' में 'आणव-राज्य' की स्थापना की, जिसकी समृद्धि और सीमा का विस्तार आणव-वंश के महान् पराक्रमी राजा बली के राज्य-काल में चतुर्दिक् हुआ। बली, राजा सगर के समकालीन थे। उनकी रानी सुदेष्णा को ऋषि दिग्ध्रतम् मामातय से पाँच पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम थे—अंग, बंग, कलिंग, पुन्ड्र और सुह्म। ह्वेनसंग[7] भी इस पौराणिक परम्परा की पुष्टि करता है। वह कहता है, इस कल्प के आदि में मनुष्य गृहहीन जंगली थे। एक अप्सरा स्वर्ग से आई। उसने गंगा में स्नान किया और गर्भवती हो गई। इसके चार पुत्र हुए, जिन्होंने संसार को चार भागों में विभाजित कर अपनी-अपनी नगरी बसाई। प्रथम नगरी का नाम चम्पा था। बौद्धों[8] के अनुसार अपने शरीर की सुन्दरता के कारण ये लोग अपने को अंग कहते थे। महाभारत[9] अंग के लोगों को सुजाति या अच्छे वंश का बतलाता है। अंग में कालक्रम से दिविरथ, धर्मरथ, चित्ररथ आदि अनेक पराक्रमी

१. महावस्तु।
२. भगवती-सूत्र।
३. प्राङ्मौर्य बिहार—पृ०सं० ७१।
४. रामायण—१-२२।
५. महाभारत—१-१०४।
६. विष्णु—४।१-१८; मत्स्य-४८।२५, भागवत ९-२३।
७. टामस वाटर का यान-चांग की भारत-यात्रा, लन्दन, सन् १९०५ भाग—२, १८१।
८. दीघ निकाय की टीका—१-२७९।
९. महाभारत—२-५२।

राजा हुए। इस वंश की सातवीं पीढ़ी में राजा लोमपाद हुए, जो अयोध्या के राजा दशरथ के समकालीन थे।

यह सर्वविदित है कि अंग की राजधानी चम्पा थी, किन्तु कथा-सरित्सागर के मत के अनुसार इसकी राजधानी विटंकपुर समुद्र-तट पर अवस्थित थी। चम्पा की नींव राजा चम्प ने सम्भवतः कलि-संवत् १०६१ में डाली। इसका प्राचीन नाम मालिनी था। राजा चम्प महान् पराक्रमी राजा लोमपाद के प्रपौत्र थे। कथा इस प्रकार है कि राजा लोमपाद महान् धनुर्धर थे और अपने समकालीन अयोध्या के राजा दशरथ के परम मित्र थे। परन्तु राजा लोमपाद संतानहीन थे। अस्तु उन्होंने अपने अभिन्न मित्र राजा दशरथ (अयोध्या) की पुत्री शांता को गोद लिया। इसी शांता का विवाह ऋषि शृंगि से हुआ। ऋषि शृंगि ने लोमपाद के लिए पुत्र-कामेष्टि यज्ञ किया, जिससे लोमपाद को चतुरंग या तरंग नामक पुत्र उत्पन्न हुआ (राजा दशरथ के लिए भी पुत्रेष्टि यज्ञ किया था)। चतुरंग या तरंग को पृथुलाक्ष नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और पृथुलाक्ष के पुत्र हुए चम्प, जिन्होंने 'चम्पा' नगरी बसाई। चम्प के वंश में ही आगे चलकर राजा अधिरथ हुए। राजा अधिरथ ने ही कुमारी कुन्ती द्वारा गंगा में प्रवाहित कर्ण का पालन-पोषण किया और बाद में कुरुराज दुर्योधन द्वारा अंग के राज-मुकुट से विभूषित हुआ। अपने समय का अद्वितीय वीर और दानी राजा कर्ण शौर्य और दानशीलता के प्रतीक हो गये तथा उन्होंने आजन्म कुरुराज से अपनी मित्रता को कायम रखकर उसका अभूतपूर्व आदर्श विश्व में उपस्थित किया।[1] इसका अवशेष भागलपुर के पश्चिम चम्पानगर या कर्णगढ़ में आज भी वर्तमान है। गंगा-तट पर बसने के कारण यह नगर वाणिज्य का केन्द्र हो गया और बुद्ध की मृत्यु के समय यह भारत के छह प्रमुख नगरों में से एक था, यथा—चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी। इस नगर का ऐश्वर्य बढ़ता गया और यहाँ के व्यापारी सुवर्णभूमि (बर्मा का निचला भाग मलय, सुमात्रा) तक इस बन्दरगाह की नावों पर जाते थे। इस नगर के वासियों ने सुदूर हिन्द-चीन प्रायद्वीप में अपने नाम का एक उपनिवेश बसाया।[2]

एक तड़ाग के पास चम्पकलता के सघन कुंजों से घिरा 'चम्पा' सघनता से बसा हुआ एक समृद्धशाली नगर था।[3] इस सुन्दर नगरी में शृंगाटक (तीन सड़कों का संगम) देवालय (मंदिर) तथा तड़ाग थे और सुगन्धित वृक्षों की पंक्तियाँ सड़क के किनारे थीं। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसंग ने चम्पा की महिमा का वर्णन किया है। वह लिखता है : "चम्पा एक विस्तृत प्रदेश है। इसकी राजधानी चम्पा और गंगा-तीर पर अवस्थित है। यह समतल तथा उर्वर है तथा कुछ वन से आवृत हुआ करता है। वायु मृदु तथा

---

१. महाभारत।
२. इम्पिरियल गॅज़ेटियर—१-२२९।
३. महाभारत—२-४२-; ११३; ५-३, १२-५८।

ईपदुष्प है। अधिवासी सरल और सत्यवादी हैं। यहाँ बहुत जीर्ण संघाराम हैं। इन सब मठों में प्रायः दो सौ बौद्ध यात्री निवास करते हैं। ये हीनयान-मतावलम्बी हैं। यहाँ कोई तीस देव मन्दिर हैं। राजधानी के चारों ओर स्थित प्राचीर इष्टक-निर्मित अति उच्च और शत्रुगण के लिए दुराक्रम्य है।"[1]

प्राचीन काल में आज के बिहार की भौगोलिक सीमा के अतर्गत तीन प्रसिद्ध राज्य या महाजनपद थे, यथा—मगध, अंग विदेह या मिथिला। अंग, का अतीत अत्यंत गौरवमय रहा है। भारतीय सभ्यता-संस्कृति की प्रातः वेला में यह व्रात्य धर्म और वैदिक धर्म की धात्री भूमि बना। अंगिरम, पैप्पिलाद और ऋष्यशृंगि जैसे मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने अपनी अमोल वाणी से इसे प्लावित किया। इस भूमि को बारहवें जैनतीर्थंकर वासुपूज्य[2] तथा जैन महावीर[3] की प्रथम शिष्या चन्दनबाला[4] की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। भगवान् बुद्ध के मौद्गल्य[5] जैसे शिष्य तथा विशाखा[6] जैसी शिष्या यहीं की धूल मे लोट-लोट कर बड़े हुए थे।

भोटिया ग्रन्थों में 'सहोर'[7] (सबौर), 'भगल' (भंगल—भागलपुर) का वर्णन आता है। लिखा है : श्रीव्रजासन की पूर्व दिशा में भंगल महादेश है। इस भंगल देश में बड़ा नगर है भिक्तपुरी। इस देश का नामातर 'सहोर' है, जिसके भीतर 'भिक्रमपुरी' नामक नगर है। फिर लिखा है : पूर्व दिशा देशोत्तम 'सहोर' है। वहाँ 'भिक्रमपुरी' महानगर है। इसी ग्रंथ में विक्रमशिला के सम्बंध मे बहुत सारी बातें हैं। इसी में विक्रमशिला के पंडित दीपंकर के बुलाने की भी चर्चा है। इन उद्धरणों के आधार पर महापंडित राहुल साकृत्यायन के निष्कर्षानुसार 'सहोर' वर्त्तमान 'सबौर' है। इसका दूसरा नाम भंगल या 'भगल'[8] है। इसकी राजधानी 'विक्रमपुरी'[9] या 'भागलपुर'[10] है। भागलपुर से थोड़ी दूर पर गंगा-तट पर पहाड़ी के ऊपर विक्रमशिला है। यों तो, विक्रमशिला के लिए सुल्तानगंज उपयुक्त स्थान माना जायगा, परन्तु मेरे विचार में विक्रमशिला सुल्तानगंज से पथरघाट तक यह फैला हुआ होगा। भविष्य में सबौर, सुल्तानगंज और कहलगाँव की खुदाई ही इस बात पर ठीक-ठीक प्रकाश डाल सकेगी।

---

१. हिन्दी-विश्वकोश।
२. कल्पसूत्र पृ० २६४।
३. वही।
४. वही।
५. बील—२-१८६।
६. महावग्ग—६-१२, १३, ३४, ५०।
७. पुरातत्त्व-निबन्धावली (सहोर और विक्रमशिला)—राहुल सांकृत्यायन।
८. वही।
९. वही।
१०. वही।

अंग का वर्णन मौर्य किया गुप्तकाल में कुछ विशेष नहीं मिलता। सम्भव है, मौर्य एवं गुप्त-वंश की गौरव-गरिमा में इसका अस्तित्व ही धूमिल पड़ गया हो। किंतु, पालवंश के उदय के साथ जब विक्रमशिला[1] में विश्वविश्रुत बौद्ध विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, तब अंग का गौरव एक बार पुनः जाग उठा। इस बार का गौरव शिक्षा, संस्कृति और सभ्यता का था। विक्रमशिला के संस्थापक धर्मपाल कहे जाते हैं। इसका स्थान सुल्तानगंज, सबौर और पत्थरघट्टा (कहलगाँव) माना जाता है। पालवंशीय राजाओं ने विक्रमशिला-विश्वविद्यालय को अधिक-से-अधिक आगे बढ़ाकर काफी ख्याति दी है। विक्रमशिला के इन्हीं गौरवमय दिनों में आचार्य रत्नाकर शान्ति[2] ने लंका में और अतिश दीपंकर श्रीज्ञान[3] आदि ने भारतीय सभ्यता संस्कृति की ध्वजा अन्यत्र फहराई। यही समय था, जब चीन तक अंग की ख्याति फैल गई थी।

मुगल-काल में, शोषण और उत्पीड़न के उस काल में भी अंग का महत्त्व कम नहीं हुआ। शाहजहाँ के पुत्र शाहशुजा[4] को भागलपुर इतना प्यारा लगा कि उसने शुजागंज या शुजानगर ही बसा दिया।

अँगरेजी शासन-काल में भागलपुर शोषण और दोहन के बाद भी विदेशी शासन के विरुद्ध लोहा लेता रहा।

आधुनिक बिहार गणतंत्र भारत का एक प्रसिद्ध राज्य है। यह राज्य छोटानागपुर, भोजपुर, मगध, वैशाली, मिथिला और अंग मिलाकर बना है। आज जो पूर्वीय बिहार है, वही अंग है। इस अंग-देश की सीमा कालक्रम से घटती-बढ़ती और बदलती रही है। एक समय यह अंग, जैसा कि 'शक्ति-संगम-तंत्र'[5] में कथित है : वैद्यनाथ से लेकर वर्त्तमान पुरी जिले के अन्तर्गत भुवनेश्वर पर्यन्त अंग-देश था। अंग-देशवासियों ने अपने गौरव के दिनों अपना उपनिवेश पूर्वीय द्वीप-पुंजों में कायम किया था। भारत के भीतर भारत के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों में बदरी-केदार से रामेश्वरम् और कन्याकुमारी तक और कामरूप से द्वारिका तक में अंग-देश का छिट-पुट उपनिवेश देखा जा सकता है। आज का अंग आधुनिक भागलपुर-प्रमंडल में समाविष्ट है। इसके पाँच जिले हैं : भागलपुर, मुँगेर, पूर्णिया, सहर्षा और संताल परगना। इस क्षेत्र की जनसंख्या एक करोड़ से ऊपर है। इस जन-संख्या की बोली—भाषा अंगिका है। अंगिका भाषा-भाषियों की इस संख्या में यदि हम इस की सीमा के बाहर के लोगों को जोड़ दें, तो यह संख्या एक करोड़ पर पहुँच जाती है। मोटा-मोटी हम यह कह

---

१. बनर्जी पालाज ऑफ् बंगाल (ऐ० सो० बं०) का मेम्वायर, खण्ड ५ नं० ३।
२. सुल्तानगंज की संस्कृति (प्रो० अभयकान्त चौधरी)–विक्रमशिला, पृ० ३६।
३. तिब्बत में सवा बरस (राहुल सांकृत्यायन)—पृ० १८।
४. भागलपुर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर।
५. शक्ति-संगम-तंत्र, सप्तम पटल।

सकते हैं कि अंगिका भाषा-भाषियों की संख्या करीब एक करोड़ है। हालाँकि इसमें कुछ वे लोग भी हैं जो दूसरी भाषावाले हैं, किन्तु जिन्होंने अंगिका भाषा को अपनी भाषा, प्रधान और द्वितीय भाषा के रूप में स्वीकार किया है।

अंग-देश की सीमा पर पटना, मुजफ्फरपुर, दरभंगा, नेपाल, बंगाल, हजारीबाग और गया की भूमि है। इस भूमि में मगही, वज्जिका, मैथिली, नेपाली, बंगाली, संताली और नागपुरी बोली जाती है। अंग-देश में अंगिका भाषा-भाषियों में प्रायः सभी जाति और सभी धर्म के लोग रहते हैं। गंगा नदी ने इस देश को दो भागों में—उत्तर और दक्षिण—बाँट दिया है। उत्तर भाग में जलस्रोतों का और दक्षिण में पर्वत-शृंखलाओं का आधिक्य है। किन्तु दोनों ही भागों की मिट्टी में उर्वरापन है। सारा देश हरा-भरा और फूला-फला रहता है। दक्षिण में कतिपय खानें भी हैं। सब मिलाकर वह सुखी, सम्पन्न और स्वस्थ प्रांतर है।

प्राचीन अंग और आज के पूर्वी बिहार की भाषा—बोली अंग भाषा है। अंग-देश-वासियों की भाषा होने के कारण ही इसे अंग भाषा कहा जाता है। प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री महापण्डित राहुल सांकृत्यायन इसे अंगिका कहते हैं। यों तो अंगिका अंग से बनी है, किन्तु अंगिका का अर्थ चोली है, जो शरीर पर चिपककर बैठती है। इस अर्थ के कारण इसका नाम अंगिका है; क्योंकि इस भाषा का अपनी मिट्टी से, अपने देश से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। वर्त्तमान भारतीय भाषाओं के आदि भाषा-शास्त्री सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने[1] इसे 'छीका-छीकी' कहा है। छी, छ, छेकै आदि के अत्यधिक प्रयोग के कारण ही यह नामकरण हुआ है, ऐसा समझा जाना चाहिए। आज चूँकि चम्पा ही नहीं, अंग भी भागलपुर है, अतः भाषा का नाम भागलपुरी होना स्वाभाविक ही माना जायगा। कुछ लोग इसे देश भाषा होने के कारण देशी कहते हैं।

भाषा के ये नये-पुराने नाम इस बात की सूचना देते हैं कि यह भाषा नई नहीं है और प्राचीन काल से आ रही है। प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रन्थ 'ललित-विस्तर'[2] के दसवें अध्याय में (१) ब्राह्मी, (२) खरोष्ठी, (३) पुष्कसारी, (४) अंग, (५) बंग, (६) मगध, (७) मांगल्य, (८) मनुष्य, (९) अंगलीय, (१०) शकारी, (११) ब्रह्मवल्ली, (१२) द्राविड़, (१३) कनारी, (१४) दक्षिण, (१५) उग्र, (१६) संख्या, (१७) अनुलोम, (१८) अर्ध-धनु, (१९) दरद, (२०) खास्य, (२१) चीन, (२२) हूण, (२३) मध्याक्षर विस्तर, (२४) पुष्प, (२५) देव, (२६) नाग, (२७) यक्ष, (२८) गंधर्व, (२९) किन्नर, (३०) महोरग, (३१) असुर, (३२) गरुड़, (३३) मृगचक्र, (३४) चक्र, (३५) वायुमरुत, (३६) भौमदेव, (३७) अन्तरीक्ष देव, (३८) उत्तर कुरु-द्वीप, (३९) अपर गौड़ादी, (४०) पूर्व विदेह, (४१) उत्क्षेप, (४२) निक्षेप, (४३) विक्षेप, (४४) प्रक्षेप, (४५) सागर, (४६) वज्र, (४७) लेख-प्रतिलेख, (४८) अनुद्रुत, (४९) शास्त्रावर्त्त, (५०) गणनावर्त्त,

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इण्डिया : सर जॉर्ज ग्रियर्सन।
२. हिन्दी-विश्व-कोश, प्रथम भाग।

(५१) उत्क्षेपावर्त्त, (५२) विक्षेपावर्त्त, (५३) पादलिखित, (५४) द्विरुत्तर पदसंधि, (५५) दशोत्तर पदसंधि, (५६) अध्याहारणी, (५७) सर्वभूत संग्रहणी, (५८) विघटलोम, (५६) विमिश्रित, (६०) ऋषितपस्तप्रा, (६१) धरणीप्रेक्षण, (६२) सर्वौषधिनिष्यन्दा, (६३) सर्वसारसंग्रहणी और (६४) सर्वभूतसंग्रहणी लिपियों के नाम गिनाये हैं[1]। भाषा और लिपि का संबंध सर्वविदित है। सूची में वर्णित अंग लिपि का सम्बन्ध अंगिका भाषा से है, यह कहना नहीं पड़ेगा। और, लिपि तथा भाषा का यह संबंध भाषा के अस्तित्व, स्वातंत्र्य एवं प्राचीनता की दुहाई दे रहे हैं, यह स्पष्ट है।

अंगिका के इन विपुल नामों से हमें घबड़ाना नहीं चाहिए; क्योंकि हम जानते हैं कि कोस-कोस पर बोली बदले। यहाँ बोली बदलने से नाम बदलने का तात्पर्य है—स्वभाव बदलने से नहीं। फलतः, अंगिका के जो विविध भेद कहे जाते हैं, वे स्वभाव-भेद नहीं, नाम-भेद हैं। नाम में यह अन्तर स्थान, जाति, पेशा, धर्म और वर्ग के कारण होता है। उदाहरण में मुँगेर की बोली मुँगेरिया, मुसहर की बोली मुसहरी, मुस्लिम धर्म की बोली मुसलमानी, दूकान की बोली दूकानी तथा बाबू लोगों की बोली बबुआनी के नाम अलग होंगे। इस स्थल पर इन सभी नामों का उल्लेख असाध्य है। हम जमालपुरिया, गिधौड़िया, खड़गपुरिया, मंदरिया, दिलवारी, कचराही, गंगपरिया, मोरंगिया, करलनिया आदि कहकर ही संतोष करेंगे।

सरिता-प्रवाह की तरह भाषा-प्रवाह गतिशील होता है। भाषा-प्रवाह जितना ही बदलता है, हमारा आग्रह उसके प्रति उतना ही बढ़ता है। हम उसे श्रद्धा से, भक्ति से सुरक्षित रखना चाहते हैं। भाषा में सुदृढ़ स्थायित्व है। उसकी प्रतिरोध-शक्ति इतनी सशक्त होती है कि वह दूसरी भाषा के लादे जाने की तो बात ही अलग, वह स्वयं चाह-कर भी उसे आत्मसात् करने में असमर्थ पाती है। इसका कारण यह है कि भाषा जीवन का स्वाभाविक पक्ष है—वह जीवन द्वारा अर्जित है, अतः उसका पालन-पोषण-भार उसी पर निर्भर है। किसी भाषा को उसके बोलनेवाले से पृथक् रखकर उसकी कल्पना असम्भव है। भाषा का मूल जन-जन की चेतना में बड़ी गहराई तक पहुँचा रहता है। अतः भाषा के लिए सतत कार्यरत जीवन एवं सदा सक्रिय जीवन से पृथक् की कल्पना ही असम्भव है।

हम जानते हैं कि मध्यदेशवासी अपनी-अपनी भाषा और अपनी-अपनी बोली काम में लाते हैं। कतिपय कारणों से उनका जीवन कुछ इतना सीमाबद्ध रहा है कि वे धर्मान्तर दर्शनों को जानते और मानते रहे हैं। इसका सीधा सम्बन्ध उनके दैनिक परिचय से, सम्भवतः हित-सम्बन्ध में तथा जीवन की व्यवस्था में रहता है। भाषा के द्वारा अन्तरंग जीवन दिन-दूना समृद्ध और विकासोन्मुख बना रहता है। किसी भी व्यक्ति द्वारा अन्य की गहराई तक पहुँचे बिना इस बात को काटा नहीं जा सकता है।

---

१. हिन्दी विश्वकोश, प्रथम भाग।

अन्य भारतीय भाषाओं की तरह अंगिका का जन्म भी प्राचीन भारतीय भाषा से हुआ माना जाना चाहिए। भारत की यह प्राचीन भाषा दूरी, काल-वर्ग और व्यक्ति को पार करती यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखर गई। भारतीय भाषा का यह रूप क्रमशः वेदों में, ब्राह्मणों में, सूत्रों में, साहित्य में, व्याकरण में, प्राकृत-पाली मे और अपभ्रंश में पाया जाता है। चूंकि नवोदय-काल मे यह रूप अपभ्रंश में देखा गया, इसलिए आज की कोई भी भारतीय भाषा अपभ्रंश को अपना पूर्व रूप मानती है और उसमें अपना आदि-स्वरूप देखती है। *स्वभावतः अंगिका भी अपना इतिहास-भूगोल यहीं पाती है।*

आदि भारतीय भाषा-विज्ञानविशारद सर जॉर्ज ग्रियर्सन का आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में है[१] :—

अ—बाहरी उपशाखा
- पश्चिमोत्तर समुदाय—१ लहंदा, २ सिन्धी
- दक्षिणी समुदाय—३ मराठी।
- पूर्वी समुदाय –४ उड़िया, ५ बंगाली, ६ असमीया, ७ बिहारी।

ब—बीच की उपशाखा
- बीच का समुदाय—८ पूर्वी हिंदी।

स—भीतरी उपशाखा
- अन्दर का समुदाय—९ पश्चिमी हिंदी, १० पंजाबी, ११ गुजराती, १२ भीली, १३ खानदेशी, १४ राजस्थानी।
- पहाड़ी समुदाय—१५ पूर्वी पहाड़ी या नेपाली, १६ बीच की पहाड़ी, १७ पश्चिमी पहाड़ी।

इस वर्गीकरण में अंगिका बीच के समुदाय में आती है।

विश्वविश्रुत भाषाशास्त्री डॉ० चटर्जी का वर्गीकरण यों है[२] —

क—उदीच्य (उत्तरी)—१ सिंधी, २ लहंदा, ३ पंजाबी।
ख—प्रतीच्य (पश्चिमी)—४ गुजराती।
ग—मध्यदेशीय (बीच का)—५ राजस्थानी, ६ पश्चिमी हिंदी, ७ पूर्वी हिंदी ८ बिहारी, ९ पहाड़ी।
घ—प्राच्य (पूर्वी)—१० उड़िया, ११ बंगाली, १२ असमीया।
ङ—दाक्षिणात्य (दक्षिणी)—१३ मराठी।

इस वर्गीकरण में अंगिका का स्थान मध्यदेशीय (बीच का) में आता है। आधुनिक बिहार में प्राचीन अंग, मगध, मिथिला और भोजपुर की भूमि मिली है, इसलिए हमारे विद्वान् यहाँ की भाषा-बोलियों को बिहारी की संज्ञा देना पसन्द करते हैं। इन भाषाओं

१. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इण्डिया—सर जॉर्ज ग्रियर्सन।
२. ओरिजिन ऐण्ड डेवलपमेंट ऑफ् बंगाली लैंग्वेज—डॉ० सुनितिकुमार चटर्जी

के लिखने के लिए विभिन्न लिपियाँ भी रही हैं, किन्तु आज तो सभी देवनागरी-लिपि में लिखी जाती हैं।

किसी भी भाषा का स्वरूप, विकास, इतिहास-संबंध और वर्त्तमान जानने के लिए उसकी बनावट, व्याकरण, स्थान, युग और जनता का अध्ययन आवश्यक है। अंगिका की प्राप्त सामग्री के आधार पर उसके स्वरूप, ध्वनि-तत्त्व, रूप-तत्त्व एवं अन्तर्गत तथा सीमांत बोलियों के विविध अध्ययन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि अंगिका कई भाषाओं के मध्य में फलने-फूलने के कारण वह अपने को प्रत्येक सीमांत भाषा के सन्निकट पाती है। यही कारण है कि सीमांत की ये भाषाएँ इसे आत्मसात् करने के लिए सतत सन्नद्ध रहती हैं। स्थान और सभ्यता में कोई पृथक् रेखा न होने के कारण इसमें और भी प्रगति मिली है। अतः, यह बहुत आवश्यक है कि जहाँ तक हो हम भूल का निराकरण करें।

अंगिका के वर्णों और ध्वनियों में परम्परागत परिवर्त्तन लक्षित है। यों तो कहने को इसमें स्वर और व्यंजन हिंदी के बराबर हैं, किन्तु व्यवहार में कितने ही वर्ण नहीं आते हैं। स्वर के 'ॠ' और 'ॣ' नहीं रह गये हैं। वर्ग के पंचम वर्ण का स्थान अनुस्वार ने ले लिया है। 'म' का निरनुनासिक रूप प्रचलित है। 'श', 'ष' और 'स' की जगह 'स' रह गया है। 'ष' की जगह कभी-कभी 'ख' भी होता है। 'र' की जगह कभी 'ड़' और 'ड़' की जगह 'र' हो जाता है। इसी प्रकार 'न' की जगह 'ल' और 'ल' की जगह 'न' होता है। स्वर का उच्चारण, विशेषतया शब्दांत स्वर का उच्चारण, नानाविध हो गया है। उदाहरण—

ऋतु—रितु
स्कन्द—खंद
रमेश—रमेस
षडानन—खड़ानन
ढुंगा—ठुंगा
नया बाजार—नया बाजार
घड़ी—घरी
दरवाजा—दड़वाजा

ऐसा होने से उच्चारण-प्रणाली विनष्ट हो गई, किन्तु लिखावट में सुविधा आ गई है। अंगिका के उच्चारण में सीमांत भाषाओं से मेल रहने के कारण इतना अधिक अन्तर पड़ गया है कि यह बंगला भाषा-भाषियों को बंगला, मैथिली भाषा-भाषियों को मैथिली एवं मराठी भाषा-भाषियों को मराठी जान पड़ती है। यह प्रांत अपनी स्पर्द्धा और विजय-प्रसार-आकांक्षा के कारण बढ़ती जा रही है। यह भाव दूर हो, इसे एकदम प्रयत्न करना चाहिए।

अंगिका का शब्द-भंडार बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसका शब्दकोश बृहत् है। चूँकि इसमें शब्द गढ़ने और अपनाने की इसकी प्रवृत्ति तेज है तथा हिन्दी से इसका सम्बन्ध

बड़ा घनिष्ठ, है अतः इसका शब्दकोष दिनानुदिन वृद्धि पर है। इसमें शब्द दोनों प्रकार के सार्थक और निरर्थक प्रचुर मात्रा में हैं। कोई भी शब्द चाहे, वह देशी हो या विदेशी इसे अपनाने में हिचक नहीं होती है।

अंगिका में संज्ञा के कई रूप ह्रस्व (माली), दीर्घ (मलिया) और अतिरिक्त रूप मिलते हैं। व्युत्पत्ति, कृदन्त और तद्धित-संज्ञाएँ मूल-भेद जाति-वाचक, व्यक्ति-वाचक और भाववाचक में आ जाती है। इसका कारण अंगिका की सरलरूपता और उसकी व्यावहारिकता है।

अंगिका की लिंग-व्यवस्था हिन्दी की तरह जटिलता उत्पन्न नहीं करती है। पुंलिंग और स्त्रीलिंग ई (कुत्ता—कुत्ती), इया (घोड़ा—घोड़िया), इन (सुनार—सुनारिन), आइन (मोदी—मोदिआइन), नी (मयूर—मयूरनी), मर्द (कीड़ा—मौगी कीड़ा) नर (कौआ—मौगी कौआ) के जो नैसर्गिक भेद हैं, मात्र ज्ञान के लिए हैं। अन्यथा लिंग-भेद का सर्वथा अभाव है। शील के लिए किया जानेवाला लिंग-भेद बढ़ रहा है। किन्तु इस प्रवृत्ति में सुधार होने को नहीं है। आदर के कारण लिंग-भेद का प्रभाव क्रिया पर पड़ता है। यथा—

अंगिका—सीता गेली
हिन्दी—सीता गई
मगही—सीता गेलै
भोजपुरी—सीता गईली
मैथिली—सीता गेली

कारक के कुछ चिह्नों पर लिंग-भेद का प्रभाव देखा जाता है। उदाहरण—हुनक वरद : हुनकरी गाय।

अंगिका में व्याकरणीय वचन दो हैं : एकवचन और बहुवचन। किन्तु इन दोनों के रूप में तबतक कोई अन्तर नहीं पड़ता, जबतक कि लोग (बटोही लोग), लोगनि (किसान लोगनि), लोकनी (पुतोहु लोकनी), आर (कमरधुआर), आरनी (बुतरूआरनी), आर के (नूनूआर के), (सब आदमी, आदमी सब), सभ (सभ ताड़-ताड़ सभ), सभे—सभे भी (सभे बाप-बाप सभे), सिनी (कुत्तासिनी) एवं सनी (खोंटा सनी) नहीं लगाये जाते हैं। कहना नहीं होगा इनमें कुछ शब्द के आगे कुछ पीछे एवं कुछ आगे-पीछे जुटते हैं। एक और उदाहरण—

अंगिका—हाथी सब
हिन्दी—हाथी सब
मगही—हाथी सब
भोजपुरी—हाथी सब
मैथिली—हाथी सब

संज्ञा (सर्वनाम भी) और क्रिया के संबंध जाननेवाले अंगिका के कारक निम्नलिखित रूप में हैं—

१—०, एं, ने।
२—क, के, कें, कै, करी, खरें।
३—से, सें, लेके।
४—ल, ले, लै लेली, लागी, हेतु, खातिर, वास्ते।
५—से, सें।
६—क, कर, केर, करे, र, अर।
७—में, प, परि, ऊपर, उपरोप, तक, लग लगि।
८—हे, हो, अरे, अरी, अहो, हहो, हे गे, हे हो।

उदाहरण—

१—*राम, मोहनें, माय ने।*
२—बाबूजीक, मामा कें, नानी कें, हुनके, हुनकरी, हुनखरें।
३—तीर से, भाला सें, लाठी लेके।
४—*रीता ल, दुवात ले, राजा ले, रस्ता लेली, गाय लागी,* खाय हेतु, विद्या खातिर, बकरी वास्ते।
५—गाछी स, डाली सें।
६—*दुरगाक,* हुनकर, हुनकेर, हुनकरे, *गिदरर, पूजार।*
७—लोटा में, छपरप, खेतपरि, बाँध पर, अड्डा ऊपर, खटिया ऊपर, छत उपरोप, चार बजे तक, पाँच बजे लग, सात बजे लगि।
८—हे चाची, हो कका, अरे मूर्ख, अरी पगली, अहो भगमान, हहो संगी, हेगे दीदी, हेहो दुकनदार।

एक तुलनात्मक उदाहरण—

	अंगिका	हिन्दी	भोजपुरी	मगही	मैथिली
१.	राम, रामें	राम	राम	राम	राम
२.	राम कें	राम को	राम के	राम के	राम के
३.	राम सें	राम से	राम से	राम से	राम सँ
४.	राम के लेली,	राम के लिए	राम के	राम के	राम के
५.	राम में	राम से	राम से	राम से	राम सँ
६.	राम के, राम र	राम का	राम के	राम के	राम क
७.	राम में	राम में	राम में	राम में	राम में
८.	हे राम	हे राम	हे राम	राम हे	हे राम

अंगिका में सर्वनाम का बाहुल्य है। नीचे कुछ सर्वनाम सोदाहरण दिये जाते हैं—

हम—हम जाय छी।

हमें— हमें पढ़वै।

तों— तों बोलें।

तोहें—तोहें खैबे।

तोहों— तोहों कहै छो।

तहूँ— तहूँ लेभे।

आपने— आपने की चाहै छो।

अपने— अपने की सोचलिए।

ई— ई बोलल।

ऊ— ऊ भागलाथ।

से— से जरूर ऐत।

हुनी— हुनी की कहैछथिन।

हिनी— हिनी कैहने काने छे।

तें— तें भागल।

के— के छुखे।

ककरो— ककरो ठिकान नै।

ककरा— ककरा कहलिऐ।

ककर— ककर बात बोलवै।

जे— जे बोले।

से— से करे।

के— पे ऐलाथ।

की— की कहल्हो।

ये सर्वनाम पुरुषवाचक, निजवाचक, निश्चयवाचक, अनिश्चयवाचक, सम्बन्ध-वाचक एवं आदरसूचक भेदों में बाँटे जा सकते हैं।

संज्ञा की तरह सर्वनाम में भी लोग (ऊ लोग), लोगनि (हम लोगनि), लोकनी (तों लोकनी), आर (के आर), आरनी (हुनी आरनी), आर के (उ आर के), सब (तों सब), सभ (से सभ), सभे (से सभे), सम्भे (से सम्भे), सनी (अपने सनी), तिनी (आपने मिनी), लगाकर बहुवचन बनाये जाते हैं। नीचे सर्वनाम के कुछ तुलनात्मक उदाहरण दिये गये हैं—

अंगिका	हिन्दी	भोजपुरी	मगही	मैथिली
हम, हमऽ	मैं	हम	हम	हम
तों, तोहें	तू	तूं	तू	तू
के	कौन	के	के	के
जे	जो	जे	जे	जे
की	क्या	का	का	कि

अंगिका में 'हम' का प्रयोग इस वर्ग की अन्य भाषाओं की तरह इसकी विशेषता है। 'हमें' का प्रयोग इसकी निजी विशेषता है। 'अपने' और 'आपने' ये आदर-सूचक प्रयोग हैं। इसकी जगह पर मीरा, राय, जी एवं बल का प्रयोग विचारणीय है। आदर के लिए 'ऊ' की जगह 'ऊनीं' या 'हुनी' का व्यवहार किया जाता है।

कतिपय भारतीय भाषाओं की तरह अंगिका में प्रायः विशेषण संज्ञा के आगे और कभी बाद में आता है। उदाहरण : लाल घोड़ा दौड़ल जाय छै। ओकर मुरेठा लाल लागै छै। विशेषण के चार भेद किये जा सकते हैं :

(१) गुणवाचक—सच (बात)। पुरान (पिहानी), लम्बा (बाँस), गोल (पहिया), उजर (कबूतर)।

(२) परिमाणवाचक—थोड़ (मार), थोड़ा (भात), बहुत (गड़बड़), पूरा (हल्ला), बड़ा, बड़का (बहादुर)।

(३) सार्वनामिक विशेषण—(१) ई कलम अच्छा छै। (२) एत्ते खावे पारभो।
(१) प्रथम वाक्य में ई मूल रूप में तथा
(२) द्वितीय में एत्ते यौगिक रूप में आया है।

(४) संख्यावाचक— एक (कौड़ी), पाव (घंटा), पहला (साल), संख्या वाचक के और कई भेद तथा उसके बहुत सारे उदाहरण हैं।

गुणवाचक और संख्यावाचक में तुलना भी होती है, यथा—ई बाछा अच्छा छै। ई बाछा ऊ बाछा से अच्छा छै। ई बाछा सब बाछा से अच्छा छै। ई बाछा सबसें श्रच्छा छै। बैंगनी गाछो से अंडी के गाछ पाँच गुना बेसी लम्बा होय छै।

विशेषण के कुछ तुलनात्मक उदाहरण :

अंगिका	हिन्दी	भोजपुरी	मगही	मैथिली
१. सच	सच	साँच	सच	सच
२. बहुत	बहुत	बहुत	बहुत	बहुत
३. कम	कम	कम	कम	कम
४. लम्बा (लाम)	लम्बा	लम्बा	लम्बा	नाम
५. छोट	छोटा	छोट	छोट	छोट

बोलचाल की बहुत पुरानी भाषा होने, विभिन्न साहित्यिक भाषाओं के निकट सम्पर्क तथा जन्म-काल से हिन्दी को अपनाने के कारण अंगिका का क्रिया-प्रकरण बड़ा ही व्यापक है। लिखने-बोलनेवाले के लिए सभ्यता, संस्कृति और सदाचार ने क्रिया द्वारा एक विशिष्ट स्थान का सर्जन किया है। हम समझते हैं कि क्रिया और काल का ऐसा व्यापक स्वरूप शायद ही अन्य किसी भाषा में मिले। यौगिक क्रियाओं का

अधिकाधिक निर्माण अंगिका की विशेषता है। नामधातु का अपार संख्या में बनाया जाना और वह भी किसी भी शब्द से अंगिका के लिए एक साधारण बात है (नकिऐव, परपरैव, टोटिऐव, मुठिऐव)। आदर-अनादर के कारण अंगिका का क्रिया-रूप-परिवर्त्तन विचारणीय है। नीचे दो क्रियाओं (सकर्मक-अकर्मक) के कुछ रूपों के उदाहरण दिये जाते हैं :

अंगिका	हिन्दी	भोजपुरी	मगही	मैथिली
खैव	खाना	खाइव	खायव	खायव
रोयव	रोना	रोइव	रोयव	रोयव
देव	देना	देव	देव	देव
हँसव	हँसना	हँसव	हँसव	हँसव
बतिएव	बतियाना	बतियाइव	बतियायव	बतियाएव

अंगिका में क्रिया-विशेषणों की संख्या संज्ञा-विशेषणों से कहीं अधिक है। विशेषणों के साथ टा (एत्तेटा), टी (ओतनाटी), टो (जत्तेठो) और गो (कनियेंगो) आदि का खूब प्रयोग है। नीचे उदाहरण-सहित कुछ भेद दिये जाते हैं :

कालवाचक

अंगिका	हिन्दी	भोजपुरी	मगही	मैथिली
आबे	अब	अबहीं	अभी	अखन
तबे	तब	तबहीं	तभी	तखन
कबे	कब	कबहीं	कभी	कखन
जबे	जब	जबहीं	जभी	जखन
आय	आज	आज	आज	आय
काल	कल	कलहीं	कल्हे	कालिह
परसू	परसों	परसों	परसूं	परसू
कहियो-कहियो	कभी-कभी	कबहीं-कबहीं	कभी-कभी	कहियो-कहीं
रोज-रोज	हर रोज	रोज-रोज	रोज-रोज	
अखनी तक	अब तक		अखनी	अखन तक
तहिया	तब	तब	तब	
कहिया	कब	कब	कब	
अखनी	अभी	अबहीं	अखनी	अखन
तखनी	तभी	तबहीं	तखनी	
कखनी	कभी	कबहीं	कखनी	

स्थान-वाचक

अंगिका	हिन्दी	भोजपुरी	मगही	मैथिली
हिन्ने	यहाँ	इहाँ	हियाँ	आते
इहाँ	यहाँ	,,	,,	
हुन्ने	वहाँ	अहाँ	हुआँ	
उहाँ	वहाँ	,,	,,	
कन्ने	कहाँ	काहाँ	केन्हें	
कहाँ	कहाँ	,,	,,	
जन्ने	जहाँ	जहवाँ	जेन्हें	जत
जहाँ	जहाँ	,,	,,	
तन्नै	तहाँ	तहवाँ	तहवाँ	
दूर	दूर	दूर	दूर	दूर
भीतर	भीतर	भीतर	भीतर	भीतर
नीचा	नीचे	नीचे	नीच	नीच
ऊपर	ऊपर	ऊपर	ऊपर	ऊपर
अगल-बगल	अगल-बगल	अगल-बगल	अगल	
हिन्ने-हुन्ने	इधर-उधर	एन्ने-उन्ने	इधर-उधर	

अंगिका	हिन्दी	अंगिका	हिन्दी
ईठा	यहाँ	कौन ठां	कहाँ
ऊठाँ	वहाँ	कोनठियाँ	कहाँ
एनठाँ	यहाँ	कन्ने	कहाँ
वैनठाँ	वहाँ	हिन्ने	यहाँ
मैठां	वहाँ	हियाँ	यहाँ
		हुआँ	वहाँ

रीति-वाचक

वैसन	वैसे	कैसन	कैसे
ऊरंग	वैसे	कीरंग	कैसे
वैहन	वैसे	केनाक	कैसे
ऐहन	ऐसे	होनाक	वैसे
ईरंग	ऐसे	ओनाक	वैसे

परिमाण-वाचक

अंगिका	हिन्दी	भोजपुरी	मगही	मैथिली
बहुत	बहुत	बहुत		बड़, बहुत

अंगिका	हिन्दी	भोजपुरी	मगही	मैथिली
प्रायः	प्रायः	प्रायः		प्रायः
जरा	जरा			
कनी	कण	तनी	तनी	कनि
कुछ	कुछ	कुछ	कुछ	
कोय	कुछ	कुछ	कुछ	किछु
एत्ते	इतना	एतना	एतन	
ओत्ते	उतना	ओतना	ओतना	एनके
एतना	इतना	एतना	एतना	
ओतना	उतना			
खूब	खूब	खूब	खूब	खूब
		हेतु-वाचक		
आखिर	अतः	एहीसे		अतः
ईकारन	इस हेतु	एहीसे	एहीसे	एहि हेतु
		स्वीकृति-वाचक		
हँ, हाँ	हाँ			हां
नै, नहीं	नहीं			न
मत	मत	मत	मति	
		प्रश्न-वाचक		
केहने	क्यों	काहे	काहे	किए
की	क्या	का	का	कि
कैले	किसलिए	काहे	काहेल	
कथीली	,,	,,	,,	
कौन कारण	किस कारण	काहे ला	काहेल	कौन कारनें

इसके अतिरिक्त संबंध और समुच्चयबोधक के निम्न उदाहरण हैं :

अंगिका	हिन्दी	भोजपुरी	मगही	मैथिली
विरुद्ध	विरुद्ध			विरुद्ध
बिना	बिना	बिना	बिन	बिन
नाँय	नाईं	नियर	नीयर	
तालुक	तक	तक	तक	तालुक
सहित	सहित	साथे	साथ	सहित
आरो	और	आउर	और	आउर
या	या	या	या	य
वा	य			
को	को	के	के	क

स्थान-वाचक

अंगिका	हिन्दी	भोजपुरी	मगही	मैथिली
हिन्ने	यहाँ	इहाँ	हियाँ	आते
इहाँ	यहाँ	,,	,,	
हुन्ने	वहाँ	ओहाँ	हुआँ	
उहाँ	वहाँ	,,	,,	
कन्ने	कहाँ	काहाँ	केन्हें	
कहाँ	कहाँ	,,	,,	
जन्ने	जहाँ	जहवाँ	जेन्हें	जत
जहाँ	जहाँ	,,	,,	
तनै	तहाँ	तहवाँ	तहवाँ	
दूर	दूर	दूर	दूर	दूर
भीतर	भीतर	भीतर	भीतर	भीतर
नीचा	नीचे	नीचे	नीच	नीच
ऊपर	ऊपर	ऊपर	ऊपर	ऊपर
अगल-बगल	अगल-बगल	अगल-बगल	अगल	
हिन्ने-हुन्ने	इधर-उधर	एन्ने-उन्ने	इधर-उधर	

अंगिका	हिन्दी	अंगिका	हिन्दी
ईठां	यहाँ	कौन ठा	कहाँ
ऊठाँ	वहाँ	कोनठियाँ	कहाँ
एनठाँ	यहाँ	कन्ने	कहाँ
वैनठाँ	वहाँ	हिन्ने	यहाँ
मैठा	वहाँ	हियाँ	यहाँ
		हुआँ	वहाँ

रीति-वाचक

वैसन	वैसे	कैसन	कैसे
ऊरंग	वैसे	कौरंग	कैसे
वैहन	वैसे	केनाक	कैसे
ऐहन	ऐसे	होनाक	वैसे
ईरंग	एसे	ओनाक	वैसे

परिमाण-वाचक

अंगिका	हिन्दी	भोजपुरी	मगही
बहुत	बहुत	बहुत	

ये कवि-कलाकार साहित्य लिखना सीखने का काम (पहले) अंगिका में करते रहे और दान, निर्माण और प्रकाशन का काम तत्कालीन भाषा में। एक बात और; यदि कभी अंगिका में कोई स्थायी साहित्य लिख भी गया, तो वह स्वयं कर्त्ता द्वारा किंवा अन्यों द्वारा परिवर्तित हो जाता था। यही कारण है कि अंगिका का साहित्य इस अर्थ में नहीं—कुछ नहीं के बराबर है, किन्तु सही अर्थ में इसका साहित्य भरा पड़ा है। विशाल अपभ्रंश-साहित्य में एवं प्राचीन अर्वाचीन हिन्दी-साहित्य में तथा गाँवों-गलियों-झोपड़ियों के कंठों में बसनेवाले गीतों, गाथाओं, कथाओं, पहेलियों और बुझौवलों में इसका जो सुरक्षित और स्वाभाविक अंश है, उससे इसे कौन वंचित रख सकता है? जब अपभ्रंश का काल था, अंगिका-वालों ने अपभ्रंश में लिखा—अंगिका में लिखे को भी अपभ्रंश में उतारा। और, जब हिन्दी राष्ट्रीय सभ्यता-संस्कृति की वाहिका बनी, तब उन्होंने हिन्दी को अपनाया। वे हिन्दी में लिखते हैं—भले ही वे अंगिका में सोचते हैं। आज हिन्दी उनकी मा है—उनकी प्यारी नई मा है। उन्होंने हिन्दी को—मा को गोद लिया है। हिन्दी की सम्पत्ति में—मा के समस्त वैभव में उनका अंश है—हिन्दी अंगिका भी है।

पिछली पंक्तियों में हम अंगिका का स्थान देख चुके हैं। यह स्थान ही अंगिका की प्राचीनता और परम्परा का प्रमाण है। कहना नहीं होगा कि अंगिका का विकास और इतिहास अत्यन्त पुराना है। बावजूद इसके कि अंगिका की सारी चीजें मूलरूप में अथवा परिवर्तित होकर अन्यत्र हैं, फिर भी परम्परा—विकास और इतिहास की स्पष्ट रेखा देखी जा सकती है।

भाषा और साहित्य का काल-विभाजन करते समय हमलोग दूर-दूर की कौड़ियाँ लाते हैं। ऐसा करते समय हम सदा ही कुछ नवीन, कुछ भिन्न कहना चाहते हैं। अंगिका भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में इसी तरह की बातें कही जा सकती हैं। किन्तु हम इसका काल विभाजन समयसापेक्ष आदिकाल, मध्य-काल और आधुनिक काल कहना और रखना चाहते हैं। हालाकि, अपभ्रंश देश—(भाषा काल और हिन्दी-काल) विभाजन भी हमें पसन्द है। हम दोनों विभाजनों का अंतर संज्ञामात्र मानते हैं। संज्ञा के सिवा और कोई अंतर नहीं है। हम सभी भारतीय भाषाओं—देशी भाषाओं के काल-विभाजन में इसी प्रकार का आग्रह चाहते हैं।

हमारी इन भाषाओं का आदिकाल या अपभ्रंश-काल एक ऐसा क्षेत्र है, जो सब भाषाओं की बपौती है। यह एक सार्वजनिक क्षेत्र है—जिसपर सबका अधिकार—जिसमें सबका अंश है। यह बहते पानी के समान—चलती हवा के समान है, जिसके दर्शन और स्पर्श इस क्षेत्र का प्रत्येक निवासी पाता है। यह एक वह दर्पण है, जिसमें हर कोई अपना मुँह देखता है। भाषा और साहित्य का नैसर्गिक गुण यही देखा जा सकता है। इस गुण के कारण हम सभी इसे अपना मानते हैं। अपभ्रंश-साहित्य जितना बँगाल का है उतना ही गुजराती का। इस सम्पत्ति को सार्वजनिक रखने में ही हमारी गरिमा है। किन्तु यदि बाँटना ही पड़े, तो हम स्थान और स्थानीय कर्त्ताओं के अनुसार

अंगिका	हिन्दी	भोजपुरी	मगही	मैथिली
किन्तु	किन्तु	किन्तु	किन्तु	किन्तु
लेकिन	लेकिन	लेकिन	लेकिन	लेकिन
जे	जो	जौन	जौन	जे
कैहनेकी	क्योंकि	काहेकि	काहेकि	कथीकि
जेकी	जो कि	जेकी	जे की	जे कि
चाहें	चाहे	चाहे	चाहे	चाहे
तोभी	तो भी	तौनो	तैयो	तैयो
जों	यदि	जदि	जदि	जदि

विस्मयादिबोधक—वाह, ओह, हैह, ऊह, अहह, हाय, हाय रे, छी छी, छिः, ऐं, एंह, ह, अच्छो, हुं, हाँ, ठीक, अच्छा, वाह, जय हो, धन, हे, हो, अरे, हरे, खूब, धत, हत, मत, फट, भट, छिम।

अंगिका के सन्धि-समास के नियम संस्कृत-हिन्दी के हैं। इन नियमों के पालन में अधिक स्वतंत्रता बरती जाती है। एतद्विषयक इसके अपने नियम परम्परागत नियमों पर ही आधारित हैं। इसी प्रकार उपसर्ग, कृदन्त और तद्धित की बात है।

अंगिका के छन्द प्रायः मात्रा-वृत्त और ताल-वृत्त में मिलते हैं। इन वृत्तों के प्रयोग में भी स्वतन्त्रता का अधिकाधिक पालन हुआ है। इस क्षेत्र में चूँकि, प्राचीनता का मोह छोड़ा नहीं गया है एवं नवीनता के स्वागत के लिए तमाम दरवाजे खुले हैं। अतः, नवीन शैली का उद्भूत होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि नवीन वेश-भूषा-वाले छन्दों का बाहुल्य है।

× × × × ×

गंगा, कोसी, क्यूल, चडुआ, चानन और लोहागढ़ प्रभृति सिंचित एवं मैदान, पर्वत और वन-मंडित अंग-देश शस्य-श्यामल भारत भूमि का प्रतीक है। जिस समय तुषार-मंडित हिमाचल को चूमकर उत्तर वायु गंगा पर लहराती है अथवा पर्वत शिखरों पर अग्नि-रेखा जलती है—मालूम पड़ता है मानों प्रकृति सोलहो शृंगार कर आई हो। ऐसी मोहिनी, लुभावनी एवं मनभावनी धरती पर रहनेवाले अंगिकाभाषी अंगवासियों का क्या कहना? प्रकृति ने उन्हें जी खोलकर शुचिता, सरलता, मुग्धता, शीलता एवं सद्भाव-प्रवणता दी है। फलतः अंगिका भाषा अपने मनोहर रूप में अपनी आरंभ वेला से ही है। अंगिकाभाषी सदा से ही अपनी भाषा को कंठ में रख देश की तत्कालीन साहित्यिक भाषा को अपनाते रहे हैं। ऐसा करने में उसे दरिद्रता एवं अस्तित्वहीनता का अपमान सहना पड़ा, किन्तु इसने इसकी परवाह नहीं की। अंगिका के कवि-कलाकार सदा ही अपनी सर्वोत्तम तत्कालीन, साहित्यिक, प्रचलित और प्रचारित भाषा में देते रहे। उन्होंने अपनी भाषा को—अंगिका को बोल-चाल के लिए सुरक्षित रखा।

और उसका संबंध विक्रमशिला से था। वह क्षत्रिय-कुल-उत्पन्न जंगल-पर्वत का प्रेमी था। यह जंगल-पर्वत-प्रेम ही उसका नाम शबरपाद का कारण है। सम्भवतः, उसका असली नाम दूसरा रहा होगा। इस सिद्ध की रचनाएँ हैं : षडंग योग, सहजाद देश-स्वाधिष्ठान, सहज सेवर-स्वाधिष्ठान, चित्तगुह्य गंभीरार्थ-गीति, महामुद्रा-वज्रगीति और शून्यता-दृष्टि। नीचे उसकी रचना का उदाहरण दिया जाता है—

ऊंचा ऊंचा परवत तहिं बसइ सबरी बाली।
मोरंगि पिच्छ परिहिण शबरी गीवत गुंजरि माली।
उमत शबरो पागल शबरो माकर गुली गुहाडा।
तोहारि णिअ घरिणी नामे सहज सुन्दरी।
नाना तरुवर मौउलिल रे गअणत लागेलि डाली।
एकेलि सबरी ए बण हिंडइ कर्ण कुंडल बज्रधारी॥
तिअ धाउ खाट पडिला सबेरो महासुहे सेज छाइली।
सबर भुजंग नैरामणिदारी पेम्हराति पोहाइली॥
हिअ ताँबोला महासुहे कपुर खाई।
सुन नैरामणि कण्ठे लइआ महासुहे राति पोहाई॥
गुरु बाक पुंजिआ धनु निअ मण बाणे।
एके शरसंधाने बिन्धई बिन्धई परम निवाणे॥
उमत सबेरो गुरुआ रोषे गिरिवर सिहरे संधी।
महसन्ते सबरी लोडिय कइसे॥

प्रसिद्ध सिद्ध कण्हपा[1] रहनेवाला तो कर्णाटक का था, किंतु उसने अपनी निवास-भूमि बिहार-बंगाल में बनाई थी। इसकी रचनाओं में धार्मिक-साहित्य अधिक है। उसकी कुछ कृतियाँ हैं : गीतिका, महाढुंढन, वसंततिलक, असंबंध दृष्टि, वज्रगीति और दोहाकोश। नीचे इसकी रचना का उदाहरण प्रस्तुत है –

मण तरु पाँच इन्द्रि तसु साहा।
आसा बहल पात फल बाहा॥
वर गुरु वअणे कुठारे छिज्जअ।
काण्ह भणइ तरु पुणु ण उअज्जअ॥
बड्ढइ सो तरु सुभासुभ पाणी।
छेवइ विदुजन गुरु परिमाणी॥
जो तरु छेवइ भेउ ण जाणइ।
सडि पडिआ मूढ़ा ता भव मण्णइ॥
सुण्ण तरुवर गअण कुठार।
छेवह सो तरु मूल ण डाल॥

---

१. हिन्दी काव्यधारा (सं० पं० राहुल सांकृत्यायन)

बाँट लेंगे। इस प्रकार अंगिका के क्षेत्र की रचना अंग-देश की और उस भूमि के
उसके होंगे।

उपर्युक्त तथ्य और तर्क को ध्यान में रखकर अपभ्रंश-साहित्य का एक बड़ा
अंगिका के अधिकार में पाते हैं। यह संयोग और सौभाग्य कहिए कि अपभ्रंश का
कवि सरहपाद[1] या सरहपा अंग-निवासी—अंगिकाभाषी था। महापंडित
सांकृत्यायन ने अपने बड़े परिश्रम एवं अध्ययन-मनन से सम्पादित सिद्ध सरहपा
दोहाकोश की भूमिका में सरहपाद को मंगल—भागलपुर का (अंगदेश-वासी) बतलाया
सरहपा बड़ा प्रतिभाशाली, बड़ा विद्वान् और बड़ा योग्य व्यक्ति था।
सिद्ध था—वह प्रव्रजित था। उसकी शिक्षा विक्रमशिला विश्वविद्यालय में हुई
वह अनेक ग्रंथों का—विभिन्न दोहाकोशों और गीतिकाओं का लेखक था।
उसके दोहों और उसकी गीतिकाओं की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

जाव ए आइ जणिज्जइ, तसम सिस्स करेई
अन्धाँ अन्ध कढाव तिम, बेएए कि कूव पडेई ॥
एउतं बाआहि गुरु कहइ, एउतं बुज्झई सीस ।
सहजा मिअ-रसु सकल जग, कासु कहिज्जइ कीस ॥[2]

:: :: ::

नाद न बिन्दु न रवि-शशि मंडल
चीआ राअ सहावे मूकल ।
उज्रे उजु छड़ि मा लेहु बंक,
निउडि बोहिमा जन्हुरे लंक ॥
हाथेर कंकण मा लेहुं दप्पण
अपने आपा बुझतु निअमण ।
पार उआरें सोई गजिई,
दुमण संगे अवसरि जई ॥
बाम-दहिण जो खाला बिखला,
सरह भणइ बप । उजु बट भाला ॥[3]

सरहपा द्वारा स्थापित अंगिका-अपभ्रंश-साहित्य की परम्परा एक बड़ी समय-सीम
से चली है। इसमें समय-समय पर बहुत सारे आचार्य, विद्वान् और साहित्यकार हुए
अंगिका-अपभ्रंश का दूसरा महान् आदि साहित्यकार शबरपा था[4]। वह सरहपा
का शिष्य और शिष्य-परम्परा का गुरु-स्थापक था। वह मंगल भागलपुर का रहनेवाला था

1. दोहा कोश (भूमिका) —महापंडित राहुल सांकृत्यायन।
2. हिन्दी काव्यधारा (म० पं० राहुल सांकृत्यायन)
3. वहीं।
4. वहीं।

बाँट लेंगे। इस प्रकार अंगिका के क्षेत्र की रचना अंग-देश की और उस भूमि के उसके होंगे।

उपर्युक्त तथ्य और तर्क को ध्यान में रखकर अपभ्रंश-साहित्य का एक बड़ा अंगिका के अधिकार में पाते हैं। यह संयोग और सौभाग्य कहिए कि अपभ्रंश क कवि सरहपाद[1] या सरहपा अंग-निवासी—अंगिकाभाषी था। महापंडित सांकृत्यायन ने अपने बड़े परिश्रम एवं अध्ययन मनन से सम्पादित सिद्ध सरह दोहाकोश की भूमिका में सरहपाद को भंगल—भागलपुर का (अंगदेश-वासी) स्वल सरहपा बड़ा प्रतिभाशाली, बड़ा विद्वान् और बड़ा योग्य व्यक्ति था सिद्ध था—वह प्रव्रजित था। उसकी शिक्षा विक्रमशिला विश्वविद्यालय में हु वह अनेक ग्रंथों का—विभिन्न दोहाकोशों और गीतिकाओं का लेखक था। उसके दोहों और उसकी गीतिकाओं की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

जाव ए आइ जणिज्जइ, तसम सिसा करेई
अन्धाँ अन्ध कढाव तिम, वेएए कि कूव पडेई॥
एउतं बाआहि गुरु कहइ, एउतं बुज्झई सीस।
सहजा मिश्र-रसु सकल जग, कासु कहिज्जइ कीस॥[2]

:: :: ::

नाद न विन्दु न रवि-शशि मंडल
चीआ राअ सहावे मूकल।
उजुरे उजु छडि मा लेहु बंक,
निउडि बोहिमा जन्हुरे लंक॥
हाथेर कंकण मा लेहुं दप्पए
अपने आपा बुझतु निअयए।
पार उआरें सोई गजिईं,
दुजए संगे अवसरि जई॥
वाम-दहिए जो खाला दिखाला,
सरह भणइ बप। उजु बट भाला॥[3]

सरहपा द्वारा स्थापित अंगिका-अपभ्रंश-साहित्य की परम्परा एक बड़ी समय- में आती है। इसमें समय-समय पर बहुत सारे आचार्य, विद्वान् और साहित्यकार अंगिका-अपभ्रंश का दूसरा महान् आदि साहित्यकार शबरपा था[4]। वह स का शिष्य और शिष्य-परम्परा का गुरु-स्थापक था। वह भंगल-भागलपुर का रहनेवाल

---

१. दोहा-कोश (भूमिका) —महापंडित राहुल सांकृत्यायन।
२. हिन्दी काव्यधारा (म० पं० राहुल सांकृत्यायन)
३. वहीं।
४. वहीं।

अमरदीप को जलानेवाले अंगिका-प्रेमियों के हम नाम भी नहीं जानते हैं। और, उनकी कृतियाँ तो नमक-खान का नमक बनकर उसी में सदा के लिए समाती गईं। यही कारण है कि तत्कालीन साहित्य भांडार में अंगिका-साहित्य का पता लगाना, उसका स्वतंत्र अस्तित्व ढूँढ़ना असंभव है—व्यर्थ है। हाँ, इसकी विचार-प्रेरणा और सृजन-कला-शृंगार तो देख ही सकते हैं।

ऐसा मालूम पड़ता है कि इस समय तक अंग देश के लोग त्याग-तपस्या और बलिदान का अन्तिम पाठ पढ़ चुके थे और उन्होंने अपनी स्वाभाविक साधुता से अपने-आपको हिन्दी-माता के चरणों पर चढ़ा दिया था—लुटा दिया था। इसी का फल है कि हम हिन्दी के इस विशालकाय साहित्य में अपने पृथक् अस्तित्व को ढूँढ़ना पाप समझते हैं और असंभव मानते हैं। हम बड़े गौरव से अपने-आपको इस साहित्य से बँधा और दूध-चीनी की तरह मिलाये रखना चाहते हैं।

अंगिका का अलिखित साहित्य आगार है : बोलचाल की प्रौढ़ता और शालीनता में—कहावतों, मुहावरों और लोकोक्तियों में—कथाओं, गाथाओं, कहानियों और गीतों में। अंग देश में पूजा-पर्व की भरमार है। मास क्या, शायद ही कोई सप्ताह ऐसा जाता हो, जिसमें एकाधिक पर्व-त्योहार न हों। इनमें प्रत्येक अवसर पर कोई-न-कोई उत्सव होता है। उत्सव की बातें कथाओं में वर्णित हैं। अधिकांश ऐसी कथाएँ इन अवसरों पर कही-सुनाई भी जाती हैं। ये कथाएँ नई पुरानी और पुरानी-नई होती रहती हैं। इनका रूप घटता-बढ़ता और बदलता रहता है। ये कथाएँ कितनी दूरी, कितना समय एवं कितने कष्टों को पार कर आई हैं—यह कहना कठिन है। किन्तु इन कथाओं को स्थायी रूप, सांस्कृतिक स्वरूप एवं सुरक्षित स्थान दिया जा चुका है। ये अपार हैं, अनन्त हैं और अमर हैं।

कहना नहीं होगा कि यह ग्राम्य-साहित्य या लोक साहित्य किसी भी संस्कृत किंवा जीवंत साहित्य का विशिष्ट अंग होता है। यह वह कड़ी है जिसमें साधारण-जन एवं विशिष्ट जन एक साथ बँधते हैं। जन-जन का कंठ ही इस महान साहित्य को संचित और सुरक्षित रखता है। यह साहित्य सदा उपयोगी—सर्वथा चालू रहता है। समय-समय पर पूजा-त्योहार पर, विवाह-जनेऊ पर, विदाई-पुरागमन, खेत-खलिहान में, घूर के पास, चौपाल में, पनघट पर, चक्की के पास, रात में-प्रभात में ये कथाएँ आप सुन सकते हैं, नहीं हम युग-युगान्तर और कल्प-कल्पांतर से सुनते आ रहे हैं। वेदना-पूर्ण विरहा, शृंगार-भरी लोरकानी एवं कामनाभरे नदी-गीत कंठवासी ही हैं। रात-रात भर की होली, चौबीस घंटों का नाच-गान, चारों पहर की पूजा, अष्टयाम भजन, महीने भर की व्रत-कथा रोगग्रस्त गाँवों का करुण-स्वर तथा प्रफुल्ल सर्वजनीन वाणी से हमारा साहित्य-प्रांगण भरा है। इसी साहित्य का अमर-दान हमारे देश के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने हिन्दी को 'मैला आंचल' और 'परती : परिकथा' और श्री अनूपलाल मण्डल ने अपनी बहुत सारी रचनाओं में दिया है। हमारे लिए यह अतीव प्रसन्नता की

इसी सिद्ध-परम्परा का ब्राह्मण-कुलोत्पन्न सिद्ध और भिक्षु था धामपा[1] या धर्मपा। यह विक्रमशिला (भागलपुर) का रहनेवाला था। इसकी रचनाओं में बाद की रचनाओं का बड़ा स्पष्ट रूप इस परम्परा में दिखलाई पड़ता है। रचना का उदाहरण है—

कम-कुलिश मॉझे भमई सेली।
समता जोएँ जलिल चण्डाली॥
डाह डोम्बिघरे लागेलि आगी।
ससहर लइ सिंचुहु पाणी॥
णउ खरे जाला धूम ण दी सइ।
मेरु सिहर लइ गअण पइ सइ॥
दाढइ हरिहर ब्रह्मण नाडा (भट्ठा)।
दाढँइ नवगुण शासन पाडा (पट्ठा)॥
भणइ धाम फुड़ लेहुरे जाणी।
पंचनाले ऊठे (उध) गेल पाणी॥

इन कतिपय अंग-निवासी—अंगिका-भाषी देश और युग-प्रसिद्ध सिद्धों की परम्परा के नेताओं और साहित्यकारों में थगनपा, मेकोपा, चेलुकपा, लुचिकपा, निर्गुणपा, चर्पटीपा एवं पुतलिपा के नाम बड़े आदर से लिये जायेंगे। इन सभी सिद्धों ने मिलकर विक्रमशिला के प्रकाश में विस्तृत और व्यापी अपभ्रंश-साहित्य को जन्म, जीवन और वर्द्धन दिया था। नालन्दा और विक्रमशिला को केन्द्र में रखकर हमारा यह साहित्य हमारी सर्वांगीण भारतीयता का प्रतीक, दर्पण, प्रारूप और उन्नत रूप बना था। इस साहित्य ने उस राष्ट्रीयता को जन्म दिया, जिसके चलते हमारा जीवन संस्कृत, सुगठित, सभ्य, प्रेरक और अमर बना। हम इस साहित्य के कारण ही एक थे, एक हैं और एक रहेंगे। जिस प्रकार हम सभी भारतवासी एक हैं उसी प्रकार यह गौरवमय प्रगतिशील साहित्य एक है।

आदिकाल (अपभ्रंशकाल) के बाद मध्यकाल (भाषाकाल) हिन्दीकाल—आता है। जिस समय इस आदिकाल का अन्तिम सूर्य चमक रहा था, हिन्दी का वीरगाथा-काल, जिसमें अंगिका का मध्यकाल है, अपनी उत्कृष्टता स्थापित करने में लगा था। दैव दुर्विपाक से यही समय हमारे दुर्भाग्य का था—नालन्दा और विक्रमशिला के उजड़ने का था। विपत्ति में हमारी सामूहिकता जगती है, हमारी प्रतिमा-महत्ता जोर लगाती है। इधर नालन्दा और विक्रमशिला खाक में मिलाई जा रही थी और उधर हमारे साहित्यकार नये गीत, नये गान लेकर आगे बढ़ रहे थे। यह काल हिन्दी का वीरगाथा काल था। हमने इस काल की सृष्टि अपने बलिदान से की थी। इन बलिदानियों में अंग देश के शत शत वर-पुत्र थे। शत-शत वर-पुत्र अपनी रचनाओं से हिन्दी का शृंगार करते रहे एवं अपनी सम्पत्ति उसी पर निछावर करते रहे। देश की एकता और राष्ट्रीयता के इस

1. हिन्दी-काव्यधारा (महापंडित राहुल सांकृत्यायन)

अमरदीप को जलानेवाले अंगिका-प्रेमियों के हम नाम भी नहीं जानते हैं। और, उनकी कृतियाँ तो नमक-खान का नमक बनकर उसी में सदा के लिए समाती गईं। यही कारण है कि तत्कालीन साहित्य-भांडार में अंगिका-साहित्य का पता लगाना, उसका स्वतंत्र अस्तित्व ढूँढ़ना असंभव है —व्यर्थ है। हाँ, इसकी विचार-प्रेरणा और सृजन-कला-शृंगार तो देख ही सकते हैं।

ऐसा मालूम पड़ता है कि इस समय तक अंग देश के लोग त्याग-तपस्या और बलिदान का अन्तिम पाठ पढ़ चुके थे और उन्होंने अपनी स्वाभाविक साधुता से अपने-आपको हिन्दी-माता के चरणों पर चढ़ा दिया था—लुटा दिया था। इसी का फल है कि हम हिन्दी के इस विशालकाय साहित्य में अपने पृथक् अस्तित्व को ढूँढ़ना पाप समझते हैं और असंभव मानते हैं। हम बड़े गौरव से अपने-आपको इस साहित्य से बँधा और दूध-चीनी की तरह मिलाये रखना चाहते हैं।

अंगिका का अलिखित साहित्य आगार है : बोलचाल की प्रौढ़ता और शालीनता में—कहावतों, मुहावरों और लोकोक्तियों में—कथाओं, गाथाओं, कहानियों और गीतों में। अंग देश में पूजा-पर्व की भरमार है। मास क्या, शायद ही कोई सप्ताह ऐसा जाता हो, जिसमें एकाधिक पर्व-त्योहार न हों। इनमें प्रत्येक अवसर पर कोई-न-कोई उत्सव होता है। उत्सव की बातें कथाओं में वर्णित हैं। अधिकांश ऐसी कथाएँ इन अवसरों पर कही-सुनाई भी जाती हैं। ये कथाएँ नई-पुरानी और पुरानी-नई होती रहती हैं। इनका रूप घटता-बढ़ता और बदलता रहता है। ये कथाएँ कितनी दूरी, कितना समय एवं कितने कष्टों को पार कर आई हैं—यह कहना कठिन है। किन्तु इन कथाओं को स्थायी रूप, सांस्कृतिक स्वरूप एवं सुरक्षित स्थान दिया जा चुका है। ये अपार हैं, अनन्त हैं और अमर हैं।

कहना नहीं होगा कि यह ग्राम्य-साहित्य या लोक साहित्य किसी भी संस्कृत किंवा जीवंत साहित्य का विशिष्ट अंग होता है। यह वह कड़ी है जिसमें साधारण-जन एवं विशिष्ट जन एक साथ बँधते हैं। जन-जन का कंठ ही इस महान साहित्य को संचित और सुरक्षित रखता है। यह साहित्य सदा उपयोगी—सर्वथा चालू रहता है। समय-समय पर पूजा-त्योहार पर, विवाह-जनेऊ पर, विदाई-पुरागमन, खेत-खलिहान में, घूर के पास, चौपाल में, पनघट पर, चक्की के पास, रात में-प्रभात में ये कथाएँ आप सुन सकते हैं, नहीं हम युग-युगान्तर और कल्प-कल्पांतर से सुनते आ रहे हैं। वेदना-पूर्ण विरहा, शृंगार-भरी लोरकानी एवं कामनाभरे नदी-गीत कंठवासी ही हैं। रात-रात भर की होली, चौबीस घंटों का नाच-गान, चारों पहर की पूजा, अष्टयाम भजन, महीने भर की व्रत-कथा रोगग्रस्त गाँवों का करुण-स्वर तथा उत्फुल्ल सर्वजनीन वाणी से हमारा साहित्य-प्रांगण भरा है। इसी साहित्य का अमर-दान हमारे देश के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने हिन्दी को 'मैला आंचल' और 'परती : परिकथा' और श्री अनूपलाल मण्डल ने अपनी बहुत सारी रचनाओं में दिया है। हमारे लिए यह अतीव प्रसन्नता की

बात है कि हमारी इस सामग्री को समय-समय पर लिपिबद्ध और प्रकाशित करने का प्रयत्न होता रहा है।

अंगिका का यह लोक-साहित्य गद्य-पद्य दोनों में उपलब्ध है। किसमें कम और किसमें अधिक यह कहना सम्भव नहीं है। इसका कुछ अंश गद्य-पद्य मिश्रित है। इस साहित्य को कहने-सुनने, पढ़ने-पढ़ाने एवं गाने-सँजोने के तरीकों में पार्थक्य है। हम इसी पार्थक्य में युग जीवन और व्यक्ति का प्रभाव देख सकते हैं। यह साहित्य प्राचीन, नवीन और कल्पना से प्रेरणा लेता रहा है। वेद, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत, बौद्ध-कथा, जैन-साहित्य एवं आदिवासी लोक-कथा गीत इस साहित्य को बनाते-बढ़ाते एवं धनी करते रहे हैं। देश-विदेश की कितनी ही नई-पुरानी बातें इसमें आती रहती हैं। अंगिका की लोक-कथाओं को कई खंडों में बाँटकर देख सकते हैं। पर्व-व्रत कथा, नदी-तालाब कथा, रोमांच-कथा, भूत-प्रेत की कथा, डाइन जोगिन की कथा, उपदेश-संदेश-कथा, सावित्री-सत्यवान की कथा, सीता-वनवास की कथा, भरथरी की कथा, सारंगा-सदावृक्ष की कथा, राजा ढोलन, सरवन की कथा, गज-ग्राह कथा, हँसी-मजाक कथा, अर्चना-उपासना कथा, बच्चा-तुतरू की कथा, तीर्थ-मन्दिर की कथा, राजा भोज की कथा, राग-भोग की कथा, राजा-रानी, मंत्री-दीवान की कथा, अकबर-बीरबल की कथा, कहाँ तक कहें, ये तो अपार हैं। फिर इनमें से प्रत्येक के कितने ही प्रकार हैं। उदाहरण स्वरूप पर्व-व्रत कथा को लीजिए। इसके प्रकार हैं :—सत्य-पिता की कथा, वट सावित्री की कथा, आम-पीपल की कथा, पूर्णिमा-कथा, अमावस-कथा, जितिया कथा, तीज कथा, सूर्य-चन्द्र कथा, चान्द्रायन व्रत कथा, सोम-मंगल कथा, हरि-शयन-कथा, कार्तिक कथा, माघ-कथा एवं डोरा कथा आदि-आदि। जीवन में इन कथाओं की पग-पग आवश्यकता पड़ती है। समाज-चक्र और जीवन-चक्र इन्हीं से चलते हैं। ये कथाएँ मनोरंजक, प्रेरक एवं ज्ञान-वर्द्धक, उत्साह-वर्द्धक तो हैं ही, इनमें बड़ी सद्भावना छिपी रहती है। कथा का महत्त्व बतलाते हुए जब कहा जाता है—हे भगवान! जे रंग राजा-रानी के दिन घुरलै, वहे रंग सबके घुरै। हे लक्ष्मी नारायण पार के घार दुख्ख धर्म के जा दुख्ख—माँग के सिन्दुर आरो हाथ के चूड़ी सब दिन रहै—सोलहो सुहाग इहाक्त रहै, तब एक पवित्रता, एक प्रेम और एक विश्वास की त्रिवेणी छलकती जाती है।

अंगिका गद्य-लोक-साहित्य की सीमा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। हम यह आगार मंत्र-तंत्र में, जादू-टोने एवं कहावतों-मुहावरों में पाते हैं। रोग दूर करने में, विष उतारने में, प्रेत पकड़ने में, कटोरा चलाने में, आग बाँधने में, पानी बरसाने में, गाँव घेरने में, बाघ चलाने में, भूत भगाने में, बाण चलाने में एवं बाधा करने में मन्तर-मन्तर का प्रयोग होता है। कुछ मंत्रों के कुछ अंश नीचे लिखे जाते हैं :—

१—अन्ताम बाँधो—पाताल बाँधो—लाख कोस लों धरती बाँधो
२—चल कामरी कामरूप चली......
३—विर्षी में बरसो रानी, लोग मुँह आग पानी
४—बन महादेव टन गणेश......

कहावत-मुहावरे कितने हैं—कहना कठिन है। कहावत-मुहावरों से भाषा कितनी मधुर बन जाती है—यह सर्वविदित है। संभवतः कहावत मुहावरों के अत्यधिक प्रयोग के कारण ही ग्राम्य भाषा और अंगिका भाषा इतनी मधुर है। यह हमें समझना चाहिए। समय और स्थान की कमी होने पर भी हम निम्नलिखित मुहावरे उपस्थित करते हैं :—

१—जेकरा आवे झांपि तांपे,
ओकरा आवे आगिन तापे।
२—पांडे फुसलाय के लाल पतरा।
३—जे पांडे के पतरा में उ पंड़िआइन के अंचरा में
४—मुँहगर के सभैं पूछे
निमुँहा के कोय न पूछे।
५—जे न बोले तेकरा कुच्च-कुच्च डेंगावे।
६—नाक नथनिया कान छेदनिया,
फिरते होवे दोनों गोतनियाँ।
७—चले के चेड़ा ने राहरी के मुरेठा।
८—अपना दुवारी पर कुतवो वरिय।
९—कोठी में धान, बड़ा गियान।
१०—दुधारी गाय के लताड़ो सही।

अंगिका गद्य-साहित्य को लिपिबद्ध और संग्रह करने-कराने में देश-विदेश के लोग प्रयत्नशील रहे हैं। प्रसिद्ध 'गोस्पेल' का अनुवाद अंगिका में १८वीं सदी के अंतिम चरण में 'श्री पादर अंटोनियोगूर' ने प्रकाशित किया था। बाद में 'जॉन क्रिश्चियन' ने बाईबिल का एक सुन्दर अंश अनुवाद तैयार कर—लीथो पर बँटवाया था। डॉ० ग्रियर्सन ने अपने अमर ग्रंथ 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इंडिया' में अंगिका भाषा साहित्य के गद्य के कथा के कुछ उदाहरण दिये हैं। इनमें एक यो है :—

"कोय आदमी के दू बेटा छलै। ओकरा में से छोटका बाप सें कहलकै कि हो बाप जे कुछ धन सम्पत छौ, ओय में जे हमरो हिस्सा होय छै से हमरा दे द। तब उ धन सम्पत के बाँटी देल कै। बहुत दिन भी ने भेलैय कि ओकरक छोटका बेटा सब बांध कै इकट्ठा करी धरी के बहुत दूर मुलुक चलल गेलै आरो वहाँ लुचापनी में दिन रात रही कै सब धन के ऐश-ऐश में खर्च करी देल कै। जबकि सब धन सम्पत चललो गेल तब उ गाँव में अकाल भेलै आरो उ बिलल्ला होय गेलै। तब उ एक वहै गाँव के रहवैया कन रहे जे ओकरा सूगर चराबै लेल अपना खेत में भेजलकई।"

इसके सिवा अंगिका में कुछ कहानियाँ, कुछ पैवाँड़े, कुछ लोरिक, कुछ बुझौवल, कुछ एभौवल एवं कुछ उखाड़ने भी पाये जाते हैं। यहाँ इनके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :—

१—गदहा के गेगड़ी।

२—आल्हकूलक पोटरी।

३—चाची के दूकान,
चचा के कने नै,
चाची बड़ी सयान,
चचा कुछ जाने नै।

४—घों-घों रानी,
कत्ते पानी,
ऍत्ते पानी।

५—खेलतें धुपते,
लोहा पैलाँ,
सेहो लोहवा कथी ले,
हंसुआ गढ़ायले,
सेहो हसुआ कथी ले,
नरुआ कटाय ले,
से हो नरुआ कथी ले,
घरवा छराय ले,
सेहो घरवा कथी ले,
गइया बंधाय ले,
सेहो गइया कथी ले.........

६—अक्किल के पटपट,
ज्ञान कहां पैल्हे,
कछुआ भिंजाय के,
केहो नै खैल्हें......

७—चक डोलै चकमकिया डोलै,
खैरा पीपर कभी न डोलै,

८—जो पुरवैया पुरवा पावै,
सूखा नदी नाव चलावै।

गीत सृष्टि की झंकार है—वह प्रकृति का उद्गार[1] है। भाव जब वाणी बनता है—सौंदर्य जब शृंगार बनता है, तब गीत की धारा फूटती है। मानव-जीवन इस धारा से—इस स्वर से—इस माधुर्य से ओत प्रोत है। इस देश में ही नहीं, किसी भी देश

---

१. हिन्दी कविता कौमुदी (ग्रामगीत) श्री रामनरेश त्रिपाठी

की कोई भी भाषा इस सम्पत्ति से शायद ही वंचित है। अंगिका का साहित्य भी इन गीतों से लबालब भरा है। हम इसकी विशालता का अनुमान नहीं कर सकते। अंग देश के गाँव-गाँव में—गाँव की गली-गली में—गली के घर-घर में—घर के कंठ-कंठ में ये गीत युग-युगान्तर और कल्प-कल्पांतर से हवा-पानी की तरह, सूरज-चाँद की तरह विकसित, सुरक्षित और संरक्षित हैं। इन गीतों का जन्म ढूँढ़ना असम्भव है—इन गीतों का कर्त्ता पूछना व्यर्थ है। समय और दूरी को पारकर सारे देश में फैलनेवाले ये गीत वेद की तरह अपौरुषेय, गीता की तरह अर्थपूर्ण एवं राम-कृष्ण की कथा की तरह प्रचलित हैं। हम इन गीतों में क्या नहीं देखते—क्या नहीं पाते। इनमें सर-सरिता का सरस नाद, पत्तों का मर्मर संगीत, कलियों का मधुर माधुर्य, जल का कलकल, बूंद का छलछल, तूफान का गुरु गर्जन, समुद्र का तरुण तर्जन, मेघ का नित्य राग, बिजली का अमिट अनुराग—सब कुछ है।

ये गीत अंग-साहित्य में एक-एक कर उतरे हैं। जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं, उसका, कोई काम ऐसा नहीं जिसमें इनका योग—इनकी प्रेरणा नहीं हो। पग-पग पर, बात-बात पर गीत हैं। इन गीतों के लेखक का कोई पता नहीं है। हम इनका पता लगाना भी नहीं चाहते। हम गीतों में जनमते हैं, गीतों में जीते हैं और गीतों में परलोक गमन करते हैं। ग्राम-गीतों के इस अपार भांडार से इन गीतों की कुछ पंक्तियाँ कही सुनी जा सकती हैं।

अंगिका में लिखित-अलिखित रूप में पाये जानेवाले गीतों का बड़ा भांडार है। गाँव-गाँव के एक-एक नारी-कंठ में अनेकानेक गीत विराजते हैं। ये गीत ऋतु-परिवर्त्तन के समान समय—अवसर पर ही फूटते हैं। इन गीतों के विषय है : अन्नप्राशन, कजरी, कन्या-विदाई, कोल्हू, खिलौना, चैता, छठ, जगरनथिया गीत, जट-जटिन, जतसार, जनेऊ, झूमर, तिरहुता, नचारी, नहछू, फाग, बारहमासा, बिरहा गीत, भजन, मधुश्रावणी, मुंडन, मेला, रोपनी-कोड़नी, लगन, बट-गमनी, वर्षा, विवाह, श्यामा-चकोवा, समदाउन, सोहर, स्वयंवर और हिंडोला। हमने परिशिष्ट में कुछ गीतों का संग्रह दिया है।

हमारे कुछ विद्वानों का ध्यान उस साहित्य के संग्रह, सकलन, सम्पादन और अध्ययन की ओर गया है। किन्तु वह पर्याप्त नहीं है। राज्य-सरकार और बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद् को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

हालांकि अंगिका भाषा-भाषियों ने सम्प्रति अपने-आपको हिन्दी से जोड़ दिया है, उनकी मातृभाषा-राष्ट्रभाषा हिन्दी बन गई है। फिर भी अंगिका भाषा में लिखित-अलिखित गद्य-पद्यमय साहित्य का प्रणयन और उन्नयन परम्परागत और विधिवत् है। नवयुग के संघर्ष और सम्पर्क के कारण इन शब्दों का आदान-प्रदान वर्त्तमान रूप में हुआ है। पुरानी कथाओं को नया रूप दिया गया है। नई कथाएँ गढ़ी गई हैं। शब्दों का भांडार बढ़ा है। देशी भाषा के नाटकों में अपना स्थान कभी प्रहसन के रूप में, कभी कथा-शैली बनकर अंगिका भाषा का स्थान बढ़ा है—प्रभाव बढ़ा है एवं लोकप्रियता

यदी है। इसमें तिनकौड़िया, धटाकर्न, शालिनी-गल्यवान, नेठ सुदाम, मुनयावा, कमला मार तथा शोनमत जैसे नाटक-नाटिकाओं तथा प्रहसनों का निर्माण हुआ है। समय-अवसर पर आये दिन ऐसी कितनी नाट्य रचनाएँ लिख जाती हैं और काम में लाकर साहित्यकोश में—स्मृति-आगार में छोड़ दी जाती हैं। लोक-संस्कृति की रक्षा और विकास के लिए जो आधुनिक प्रयत्न चल रहे हैं, इनके फलस्वरूप अंगिका को भी नवल प्रेरणा और अभिनव दृष्टिकोण मिला है—मिल रहा है। हमारा अनुमान है कि यदि मात्र इसी साहित्य को संगृहीत और प्रकाशित किया जाय तो यह कई खंडों में होगा।

हमने जहँगिरा (जह्नुतट) से लेकर रामेश्वरम् और कन्या कुमारी—सिमरिया घाट से मोरंग, कालीघाट और कामरू-कमेच्छा तथा वैद्यनाथ से मथुरा-वृन्दावन और द्वारका एवं बद्री-केदार की तीर्थ-भूमि के गीत सुने हैं। इन गीतों की परम्परा में अंगिका झाँकती है। इन गीतों ने केवल आज के भारतीय जीवन को ही प्रभावित और समयोपयोगी नहीं बनाया है, प्रत्युत पिछली कई सदियों से भक्त और कवियों को अपना दान दिया है। हम तो समझते हैं कवि जयदेव को वाणी माधुर्य, भक्त विद्यापति को गीत-प्रेरणा तथा ब्रजबुली साहित्य को भक्ति उत्स अंगिका के गीतों से ही मिले हैं। इस अवसर पर हम यह नहीं भूलना चाहते हैं कि विक्रमशिला विश्वविद्यालय के प्रांगण में बननेवाले साहित्य के निर्माण और विकास में यही साहित्य था। विकास का यह क्रम—साहित्य का यह सृजन—आज भी गतिमान है। परिशिष्ट में हमने कुछ नवीन रचनाओं का संग्रह कर दिया है। इन रचनाओं में युग बोलता है—समाज बोलता है—आधुनिकता बोलती है। हम अंगिका के उद्धारकों का स्वागत करते हैं और उनकी सफलता की मंगल-कामना करते हैं।

परिशिष्ट

१

बड़ीरे जतन से सिया जी के पोसलां
सेहो रघुवंशी लेल हे जाय
मिली लेहू मिली लेहू सखी सब
सीता बेटी जइती ससुरार
कथिकेर डोलिया कउनी रंग ओहरिया
लागि गेल बतिसो कहार
चनन के डोलिया सबुज रंग ओहरिया
लागि गेल बतीसो कहार
आगु आगु रघुवर पाछु पाछु डोलिया
तेकरा पाछु लछुमन हे माय।

—*कन्या की विदाई*

अनुवाद

बड़े यत्न से सीताजी का पालन-पोषण किया, उसे भी राम लिये जा रहे हैं।

सब सखियो, बेटी सीता से मिल लो, क्योंकि वह ससुराल जायगी।

किस चीज की डोली है और उसमें किस रंग का ओहार लगा हुआ है। उसमें बत्तीस कहार लग गये हैं।

चंदन की डोली है और उसमें हरे रंग का ओहार लगा हुआ है और बत्तीस कहार लगे हुए हैं।

आगे-आगे राम और उनके पीछे-पीछे डोली और उसके पीछे अनुज लक्ष्मण हैं।

२

जगन्नथिया हो भाय दानी के सुरतिया मन में रखिहे।
कौन मूखे मन्दिर भैया कौन मूखे किवाड़ ॥
कौन मूखे बैठल भैया दानी सरदार ॥ जग० १॥
चारो मूखे मन्दिर भैया चार मुख किवाड़ ।
पूरब मुखे बैठल छथिन दानी सरदार ॥ जग० २ ॥

कथी के तो मन्दिर भैया कथी के किवाड़ ।
कथी ऊपर बैठल छथिन दानी सरदार ॥ जग० ३ ॥
पत्थर के तो मन्दिर भैया चन्दन के किवाड़ ।
रत्न सिंहासन बैठल छथिन दानी सरदार ॥ जग० ४ ॥
कहँमा पीतम्बर शोभे कहाँ जयमाल ।
कहँमा रुमाल शोभे कहँमा हीरालाल ॥ जग० ५ ॥
कमर में पीताम्बर शोभे गले जयमाल ।
मुख पर पीताम्बर शोभे मस्तक हीरा-लाल ॥ जग० ६ ॥
तुम तो जगन्नथिया भैया करम के हीन ।
कहँमा बितवले रथयात्रा अइसन दिन ॥ जग ७॥
करला खेतिहारी भैया बीतन रातिदिन ।
पुरी में गववली रथ-यात्रा अइसन दिन ॥ जग० ८ ॥
कहाँ रामजी माखन खइलन कहँमा खइलन खीर ।
कहँमा दानी वंशी बजैउले कहँमा अस्थिर ॥ जग० ९ ॥
वृन्दावन में माखन खइलन जनकपुर में खीर ।
वृन्दावन में वंशी बजैलन पुरी में अस्थिर ॥ जग० ॥
कौन पात्र में माखन खइलन कौन पात्र में खीर ।
कौन ठौर में बेनु बजैलन कौन ठौर अस्थिर ॥ जग० ११ ॥
सोने छिपा माखन खइलन रूपे छिपा खीर ।
वृन्दावन में वंशी बजैलन पुरी में अस्थिर ॥ जग० १२ ॥
कथिकेर सिंहासन भैया कथिकेर चन्दन डाल ।
कथि के दिपक भैया जरे दिन रात ॥ जग० १३ ॥
रत्नकेर सिंहासन भैया रूपे सोने डाल ।
सोने केर दिपक भैया जरे दिन रात ॥ जग० १४ ॥
कहँमा दानी दंतवन कइलन कहँमा असनान ।
कहँमा दानी भोजन कइलन कहँमा में सोहाम ॥ जग० १५ ॥
दतुअन चढ़ि दतुअन कइलन पुरी में असनान ।
तुलसी चौरा भोजन कइलन पुरी में सोहाम ॥ जग० १६ ॥
चन्दन तलाव भैया करि हैं असनान ।
मनुख दरसन देहैं भगवान ॥ जग० १७ ॥

चन्दन तलाव का भैया चौमुख घाट।
बिच में समुद्र भैया करे पुजा-पाठ ॥ जग० १८ ॥
बाबा कि कुंजगली बड़ा रे संकेन।
पंडा निमोहिया घुमाय मारे बेत ॥ जग० १९ ॥
बाबा के धाम पर कौन कौन मार।
मुखे चपेट बेंतन मार ॥ जग० २० ॥
हमरा के दानी बाबा मने पडिगेल।
माइ हाथ के खिचड़ी जहर होइ गैल ॥ जग० २१ ॥
घरवा में घरनी रोवे बाहर बूढ़ी माय।
रन वन में बहिन रोवे भैया भागल जाय ॥ जग० २२ ॥
कै कै पैसा छतवा देले कै कै पैसा बेत।
कै कै पैसा पटवा देले बाबा के संदेश ॥ जग० २३ ॥
चार चार पैसा छतवा देले पैसा पैसा बेत।
चार चार पैसा पटवा देले बाबा के संदेश ॥ जग० २४ ॥

—जगरनथिया गीत।

अनुवाद

हे भाई जगन्नथिया, दानी की याद हमेशा दिल में रखो।

१—हे भाई, किस तरफ मंदिर है, और किस तरफ किवाड़ है? और हे भैया, किस तरफ मुख करके दानियों के सरदार बैठे हुए हैं?

२—हे भाई, चारों तरफ मंदिर हैं और चारों तरफ किवाड़ हैं। पूरब की ओर मुख करके दानियों के सरदार बैठे हुए हैं।

३—हे भैया, मंदिर किस वस्तु की बनी है और किवाड़ किस वस्तु का है? किस वस्तु पर दानियों के सरदार बैठे हुए हैं?

४—हे भैया, मंदिर तो पत्थर का बना है, और किवाड़ चन्दन के बने हैं। रत्न से जड़े सिंहासन पर दानी सरदार बैठे हुए हैं।

५—हे भाई, उनके शरीर पर कहाँ पीताम्बर शोभित होता है और कहाँ जयमाल शोभित होती है? कहाँ रूमाल सुशोभित होता है और कहाँ हीरा और लाल सुशोभित होते हैं?

६—हे भाई, कमर में पीताम्बर सुशोभित होता है और गले में जयमाल सुशोभित होती है। मुँह पर रूमाल सुशोभित होता है और माथे पर हीरा और लाल सुशोभित होते हैं।

७—हे जगन्नाथपुरी की यात्रा करनेवाले भैया, *तुम करम से हीन हो, रथयात्रा जैसा* शुभ दिन तुमने कहाँ बिताया?

८—हे भैया, मैं जिन्दगी भर पागल की तरह (सम्पूर्ण मन से) खेती करता रहा, रात-दिन बिताता रहा और इसी खेती में रथयात्रा जैसा शुभ दिन भी गँवा बैठा।

९—भगवान् राम ने कहाँ माखन खाया और कहाँ खीर खाई! कहाँ उस दानी ने वंशी बजाई और कहाँ निवास किया!

१०—वृन्दावन में माखन खाया और जनकपुर में खीर खाई। वृन्दावन में वंशी बजाई और जगन्नाथपुरी में निवास किया।

११—किस वर्त्तन में मक्खन खाया और किस वर्त्तन में खीर खाई! किस जगह उन्होंने वंशी बजाई और किस जगह उन्होंने निवास किया!

१२—सोने की थाली में मक्खन और चाँदी की थाली में खीर खाई। वृन्दावन में वंशी बजाई और जगन्नाथपुरी में निवास किया।

१३—हे भाई! किस वस्तु का सिंहासन बना था और चन्दन डाली किस वस्तु की बनी थी? रात-दिन किस चीज का दिया जलता था?

१४—हे भाई! रत्न का सिंहासन बना था और सोने-चाँदी की डाल बनी थी। रात दिन सोने का दीपक जलता था।

१५—उस दानी ने कहाँ दँतवन किया और कहाँ स्नान किया! उस दानी ने भोजन कहाँ किया और निवास कहाँ किया!

१६—दतुवन के पड़ाव पर दतुवन किया, जगन्नाथपुरी में स्नान किया। तुलसी-चौरा में भोजन किया और पुरी को अपना घर बनाया।

१७—सामने के चन्दन-तालाब में स्नान करते हुए भगवान् ने दर्शन दिया।

१८—हे भाई! चन्दन-तालाब के चारों ओर घाट हैं। उस तालाब के बीच में समुद्र पूजा-पाठ करता है।

१९—बाबा तक जाने के लिए जो कुंज-गलियाँ हैं, वे बड़ी सँकरी हैं, जिनमें घुमा-घुमाकर निष्ठुर पंडे बेंत की मार से मार डालते हैं।

२०—बाबा के घर पर कौन-कौन मार लगती है? मुख में चपत और शरीर पर बेंत की मार लगती है।

२१—हे दानी बाबा! मेरा तो मन शिथिल हो गया और माता के हाथ की खीचड़ी जहर हो गई।

२२—भैया मागता जाता है, स्त्री घर में रोती है, घर के बाहर बूढ़ी माँ रोती है। युद्ध-क्षेत्र और जंगल में बहिन रोती है।

२३—कितने पैसे में छाता देते हो और कितने पैसे में बेंत! पटवा-ढेले कितने पैसे में देते हो और कितने पैसे में बाबा के संदेश देते हो!

२४—छाता चार-चार पैसे में देता हूँ, पैसा-पैसा बेंत देता हूँ, चार-चार पैसे में पटवा-ढेले देता हूँ और चार-चार पैसे में बाबा का संदेश भी देता हूँ।

३

जावे देह आहे जटिन देश रे विदेसवा
तोरा ले लानबो जटिन नकलेस सनेसवा
नकलेस त अरे जटा तरवा के धुलिया
ठाढ़ रहे रे जटा नयना के आगे ।
जाव ह जअ देहेटिन देश रे विदेसवा
रा आनब तोलेजटिन सिकरी सनेसवा
सिकरी रे आरे जटा तरवा के धुलिया
ठाढ रहे रे जटा नयना के आगे ।

—जट-जट्टिन

अनुवाद

एक जट अपनी जटिन से कहता है कि हे जटिन ! मुझे परदेश जाने दो। वहाँ से मैं तुम्हारे लिए संदेशा में नेकलेस ले आऊँगा। लेकिन जटिन जट से कहती है कि हे जट ! तुम सदा मेरी आँखों के सामने उपस्थित रहो। यह नेकलेस तो तलवा की धूलि के समान है।

हे जटिन ! मुझे परदेश जाने दो। मैं तुम्हारे लिए संदेशा में सिकरी ले आऊँगा। लेकिन जटिन जट से कहती है कि हे जट ! तुम सदा मेरी आँखों के सामने रहो। यह सिकरी तो तलवा की धूलि के समान है।

४

बाबा वैद्यनाथ हम आयल छी भिखरिया
आहाँ के दुअरिया ना ।
आयलों बड़ बड़ आस लगाय
होइयउ हमरा पर सहाय ।
एक बेरी फेरि दियऊ गरीब पर नजरिया। आहाँ के दुअरिया ना ॥
हम बाघम्बर झारि ओछायब, डोरी डमरु के सरियाएब ॥
कसनो झारि बहारब बसहा के डगरिया ॥ आहाँ के दुअरिया ना ॥
कार्तिक गणपति गोद खेलायब कोरा कान्हों पर चढ़ायब ।
गौरा पारबती से करबैन अरजिया ॥ आहाँ० ॥
हम गंगा जल भर लायब, बाबा बैजू के चढ़ायब ।
बेल-पत्र चंदन चढ़ायब फूल केसरिया ॥ आहाँ० ॥

अनेक अधम के आहाँ तारल अनेक पतित के उधारल।
बाबा हमरो बेरी खोलियऊ केवड़िया ॥ आहाँ० ॥
काशीनाथ नचारी गावथि पार्वति सुनावथि।
माता एक बेर फेरि दियऊ हमरो पर नजरिया ॥ आहाँ० ॥

—[illegible] गीत

अनुवाद

हे बाबा वैद्यनाथ! हम भिखारी आपके द्वार पर खड़े हैं। हम बड़ी-बड़ी आस लगाकर आये हैं। अतः, आप हमारे ऊपर दया करें। एक बार हम गरीब पर दृष्टि फेर दीजिए। हम आपके ....

हम बाघम्बर झाड़कर बिछाएँगे और डमरू की डोरी ठीक करेंगे। कभी हम बसहा के मार्ग को झाड़कर बुहारेंगे। हम आपके दरवाजे पर ....

कार्तिक गणपति को गोद में खेलाएँगे और कंधा पर चढ़ाएँगे। गौरा पार्वती से विनती करेंगे। हम आपके दरवाजे पर ....

हम गंगा-जल भरकर लायेंगे और बैल पर चढ़ायेंगे, तथा बेलपत्र, चंदन, फूल और केसर अर्पित करेंगे। हम आपके दरवाजे पर ....

आपने कितने अधमों को तार दिया और कितने पतितों का उद्धार किया। हे बाबा! हमारी बार किवाड़ी खोल दीजिए। हम आपके दरवाजे पर......... ....

काशीनाथ नचारी गाकर पार्वती को सुनाते हैं कि हे माता! एक बार हमारे ऊपर दृष्टि फेर दो। हम आपके दरवाजे पर......... ... .

५

होरे उदबेग देले हे माता मैना बिषहरी हे।
होरे छवो घाटी घाटी करै रे दैवा विहुला सुन्दरी रे।
होरे बोले तो लागी हे मनिको विहुला से जवाब हे,
होरे तोहे मतु जाहो गे विहुला मोगल पठान रे।
होरे छवो घाटी बैसय गे विहुला मोगल पठान रे।
होरे दूना द्रव दियेगे विहुला घर के आयेबे रे,
होरे मोरा कुल आवेगे विहुला गरीमा दिलाएवेगे।
होरे कौन कहीछउ गे माता कौन पतिआवे गे।
होरे परकेरी धीया गे माता परे कैसे लेजाएते गे।
होरे छवो घाटी पोखर गे विहुला जोंका बउराउंगे।
होरे जोंका राँड़ आवोगे विहुला मासधारी खाएतोगे।
होरे कौन कहिछउ गे माता कौन पतिआवौगे।

होरे नहीं जे मानले गे बिहुला माता का कहल गे।
होरे सखी दश आवे गे बिहुला ले ले बुलाएगे।
होरे तेल खरी आवेगे बिहुला ले ले संग लगाय रे।
होरे चलहु आवे हे सखी सब छवो घाटी नहावे हे।
होरे हाली दिया आवे हे सखी सब घुरीधर आएव हे।

—बिहुला गीत

अनुवाद

मा मैना विषहरी ने सुन्दरी बिहुला को बहुत दुख दिया। बिहुला छहों घाटियों में हे देव कहती फिरती है। मनिका बिहुला को समझाने लगी। हे बिहुला, तुम घाटियों में मत जाओ, वहाँ मोगल-पठान रहते है। मनिका प्रलोभन देकर बिहुला को जाने से रोकना चाहती है। वह कहती है यदि वे पठान घर आ जावें तो बहुत द्रव्य देंगे। यदि वे मेरे यहाँ आवें तो उन्हें बहुत यश दिलाऊँगी; क्योंकि वे अपने साथ बहुत-कुछ लावेंगे।

बिहुला कहती है, हे माता, कौन कहता है वहाँ पठान रहते हैं! फिर कौन इस पर विश्वास करेगा कि दूसरे की बेटी को दूसरा ले जायगा।

मनिका कहती है, हे बिहुला, छहो घाटों में जोंकें बउरा रही है। वे आयेंगी और मांस नोच-नोच कर खायेंगी।

बिहुला कहती है, हे माता, कौन कहता है घाटों पर जोंकें रहती हैं! इस पर कौन विश्वास करेगा कि वे मास नोच-नोच कर खायेंगी।

बिहुला ने माता का कहना नहीं माना। दस सखियाँ आईं और बिहुला को बुला लिया। बिहुला को लगाने के लिए तेल और उबटन साथ में ले लिया। सभी सखियाँ नहाने के लिए चलीं। सभी सखियों ने बिहुला को आगे की तरफ ठेल दिया और तेजी से चलने का सकेत किया; क्योंकि सभी को शीघ्र घर जो लौटना है।

६

निमल विभूति बूढ़ बरद बहनवां से लम्बे लम्बे लट लटकावे बाबा बासुकी।
काल कूट कण्ठ शोभे नील बरनवाँ से लाले लोचन घुमावे बाबा बासुकी।
ऐसन कलेवर बनाये देहो नागेश्वर देखि जन महिमा लोभावे बाबा बासुकी।
अंधा पावे लोचन विविध दुख मोचन से, कोढ़िया सुन्दर तन पावे बाबा बासुकी।
निपुत्र को पुत्र देत कुमति सुमति देत, निर्धन के करत निहाल बाबा बासुकी।
धन्य धन्य दारुक वन जहाँ बसे आप हर, मेटि देत विधि अंक भाल बाबा बासुकी।
परम आरत हूं मैं सुख शान्ति सब खोई, तेरे द्वारा भिक्षा मांगे आया बाबा बासुकी।
कहत साधकगण मेरी बेरी काहे हर करुणा करत नाहिं आवे बाबा बासुकी।
सबके जे सुनी सुनी दूर कैल दुख सब, हमरा के बेरिया निठुर बाबा बासुकी।

कहि कहि कहूं अब कहां कहां जाऊं नाथ अनाथ के नाथ कहेले बाबा बासुकी।
देवघर देवलोक देव धन्य महादेव उहे जे हुक्म कइला जाहूं बाबा बासुकी।
तुम बिनु अब कोई दृष्टि पथ आवे नहिं केहि अब अरज सुनाऊं बाबा बासुकी।
सुनै छलियन बासुकी नाथ छथी बड़ी दानी बाबा अब किए एहन निटुर बाबा बासुकी।
मातु-पितु परिजन सबके छोड़लो हम येहिंके शरण अब धइलों बाबा बासुकी।
शरण यहाँ के हम शतत जे धयल बाबा अब यहां तजि कहां जाऊं बाबा बासुकी।
दीनानाथ दीनबंधु आसुतोष विश्वम्भर आरत हरण नाम अछि बाबा बासुकी।
कृपा के कटाक्ष दये एक बेर हेरु हर दुखिया के संकट हरहु बाबा बासुकी।
हमहूं जे अइलों शरण में अहां के बाबा हमरा के देखि के डरेला बाबा बासुकी।
जाहि दिन से ज्ञान भेल हमरा के अब बाबा ताहि दिन से शरण धइलौं बाबा बासुकी।
जाहि दिन से शरण अहांके हम धएलौं बाबा हृदय के सब बात सुनैलौं बाबा बासुकी।
ग्रामदेव ग्रामलोक ग्रामधन्य महादेव से हों न सुनल दुख मोर बाबा बासुकी।
कहत दीप दुहु कर जोरी बाबा, निपुत्र को पुत्र अब देहु बाबा बासुकी।
कहत सेवक गण दुहु कर जोरी बाबा दुखिया के दुःख हरहु बाबा बासुकी।
कहत विनय करि दत्तात्रय बाबा सबके संकट के दूर करहु बाबा बासुकी।
—बासुकीनाथ भजन

अनुवाद

बाबा बासुकीनाथ के लम्बे-लम्बे लट हैं। उनका वाहन बूढ़ा बैल है। उनकी विभूति विमल है। कंठ में नीला कालकूट शोभित है। वे अपनी लाल-लाल आँखें घुमाते हैं, हे नागेश्वर! ऐसा कलेवर बना दो कि लोग देखकर तुम्हारी महिमा पर लुब्ध हो जायँ। त्रिविध दुख मोचन बाबा बासुकीनाथ से अन्धा आँख पा लेता है और कोढ़ी को सुन्दर शरीर की प्राप्ति हो जाती है। बाबा बासुकी जी निपुत्र को पुत्र, कुमति को सुमति और निर्धन को धन देकर निहाल कर देते हैं, वह दारुक वन भी धन्य है, जहाँ स्वयं हर निवास करते हैं। बाबा बासुकी भाल के अंक को मिटा देते हैं, बाबा बासुकी! मैं सब सुख-शान्ति खो चुका हूँ, परम आरत हूँ। इसीलिए तुम्हारे द्वार पर भिक्षा माँगने आया हूँ। साधकगण कहते हैं, कि हमारी बारी महादेवजी करुणा क्यों नहीं करते हैं? बाबा बासुकीजी! सबके दुख को सुन-सुनकर आपने दूर किया। फिर, हमारी बारी में आप निठुर क्यों हो गए हैं, हे बाबा बासुकी! आप तो अनाथ के नाथ कहे जाते हैं; तब कहिए मैं कहाँ-कहाँ जाऊँ! देवघर देवलोक है। देव धन्य महादेव हैं। उन्होंने ही यही हुकुम दिया है कि बाबा बासुकी के यहाँ जाओ! किसको अब अरज सुनाऊँ! बाबा बासुकीनाथ जी, आपके अलावे तो कोई नजर ही नहीं आता। सुना करता था कि बाबा बासुकीनाथ बहुत बड़े दानी हैं; लेकिन हमारी बारी में यह निठुराई क्यों? हमने अब आपका आश्रय ही धरा है; माता-पिता, परिजन सब-के-सबको छोड़

दिया ! हमने जब आपका शरण स्वीकार किया है, तब इसको त्यागकर कहाँ जायँ —बाबा बासुकी !

बाबा बासुकी, आपका नाम तो दीनानाथ, दीनबंधु, आशुतोष, विश्वम्भर और आरत-हरण है। कृपा का कटाक्ष देकर, एक बार हे हर, निहार लो। बाबा बासुकी ! दुखिया के संकट को हर लीजिए। हम आपके शरण में जो आए बाबा; आप हमको देखकर डर गए। जिस दिन से हमको ज्ञान हुआ, हे बाबा उसी दिन से हम आपकी शरण में आ गए हैं। जिस दिन से बाबा आपके शरण में आया हूँ, अपने हृदय की सब बातें सुना रहा हूँ।

महादेव जी ग्रामदेव हैं, ग्रामलोक हैं, ग्रामधन्य हैं; लेकिन उन्होंने भी हमारे दुख को नहीं सुना। बाबा ! दीप, धूप और हाथ जोड़कर कहता हूँ कि निपुत्र को पुत्र दीजिए। सब सेवक दोनों हाथ जोड़कर कह रहे हैं कि हे बाबा बासुकी, दुखिया के दुःख को हरण कीजिए ! दत्तात्रय बाबा ! विनय कर कहते हैं कि सब के दुःख को दूर कीजिए !

७

सपना सगुन देखि, हरखि उठलि सखी
दूति से कहति बतिया
फरकी ठलव उमा आँखियाँ
आजु रे आवत कालिया
उरेखी बांधलि जूड़ा लगावलि पानविरा
बिछावल भारी सोजिया
जागि रहलि धनी रातियाँ।
शाम शब्द सुनि चमकि उठलिधनी
मिलिलि आगूलागिया
प्रेमे छलछल चारि आँखियाँ।
अंग परस सुखे मुरछिता पति बुके
मुखसे ना फूटे बतिया
भवप्रीता भावे बनमालिया।

—*भवप्रीतानंद*

अनुवाद

सपने में सगुन (शुभ लक्षण) देखकर सखी हर्षित हो उठी। सखी दूती से कहती है—"मेरी बाईं आँख फड़क उठी, आज कृष्ण निश्चय ही आयेंगे।"

उसने झाड़कर जूड़ा बांधा, पान के बीड़े लगाया, झाड़कर बिछावन बिछाया और रातभर जागती रही।

कृष्ण की आवाज सुनकर त्रिवक्रा चौंक उठी और आगे बढ़कर प्रिय का स्वागत किया। प्रेम से दोनों की आँखें छलछला आईं।

अंग-स्पर्श के सुख से वह त्रिवक्रा की छाती पर मूर्छित हो पड़ी रहती है। उसके मुख से एक बात तक नहीं निकलती। सत्यभामा कहती हैं, उस त्रिवक्रा को कृष्ण बड़ा अच्छा लग रहा है।

८

हम ना उतारब तोरा पार हो संवलिया प्यारे।
एतना कपट छल रखिह्ऽ अवध ही में
जानै दिहीं मरम तुहार हो संवलिया प्यारे।
चरण के धूरा तोर जादू के पुड़िया प्यारे
लुअन्हे पथलो होलै नार हो संवलिया प्यारे।
काठकेर हमरऽ नैया होय जाय यदि नारी
भूखें मरऽ सब परिवार हो सँवलिया प्यारे।
हिनका त पार करतें जरियों ना धोखा हमरा
पर ना उतारब तोरा पार हो सँवलिया प्यारे।
एक बात मानऽ प्यारे लौटि जा अवध फेरु,
नै तऽ लेमों चरण पखार हो सँवलिया प्यारे।

—परमानन्द पाण्डेय

अनुवाद

हे साँवलिया प्यारे! मैं तुम्हें पार नहीं उतारूँगा। इतना छल-कपट तुम अवध में ही रखना; क्योंकि मैं तुम्हारे भेद को अच्छी तरह जानता हूँ।

तुम्हारे चरण की धूल तो मानो जादू की पुड़िया है; क्योंकि चरण की धूल के स्पर्श मात्र से ही पत्थर नारी में परिणत हो गया।

हे साँवलिया प्यारे! अगर मैं तुम्हें पार उतारता हूँ तो मेरी काठ की नैया नारी में परिवर्त्तित हो जायगी। परिणाम स्वरूप हमारा सम्पूर्ण परिवार भूख से मरने लगेगा।

इन्हें पार उतारने में तो मुझे तनिक भी धोखा नहीं है। लेकिन हे साँवलिया प्यारे! मैं तुम्हें पार न उतारूँगा।

हे प्यारे! एक बात मानकर तुम फिर अवध को जाओ; नहीं तो तुम्हारे चरण को पखार लूँगा।

६

छीनी लेलो कहिने बाबू जोतलो जमीनमा हो ।
ऐही रे जमीनमा पड़े, सभै के जीवनमा हो ।
कैसनो ही बिजुली चमके, कैसनो ही मेघा गरजै ।
कैसनो ही ठारैय ठरै, कैसनो ही रौदा पड़ै ।
तैयो नाही सुतो हमें खेतो के मचनमा हो ।
छीनो लेलौं कहिने बाबू जोतलो जमीनमा हो ।
बैलवा के कीनै हमैं, राखलों जै जेवरवनखी
जकरौ ही खातिर रोजे घरनी से सुनो भनकी
धीया के सूना काने, करलक बिहनमा हो।
कटनी करावै में जे तोहरो, सिपाही आवे
घरौ के जे पीसल सत्तू, तनिकों न हूनी खावे
जैकरो उधार बाकी सबूत दोकनमा हो ।
मांगन मन सेही सेर, अधवा भी दैते रीहो ।
पेट बांधी शादी सैदा, मैं कामें भी तैय करते रीहो
तैयो नाही राखली कछु तनिको ध्यनमा हो ।
भदवा के जनरा बाबू पानींहैय में डूबी गैले
देते देते खरची पेट के सभे ही तैय ऊबी गैले ।
जमीन भी छीनो लेलों कातिक महीनमा हो ।
बैलवा न देखे भूसा, कोठिया में मारै गुस्सा
मामी के पोसल मूसा, कोठिया मेंभारे गुस्सा
घूरी घूरी काने आवे रोटी लय ललनमा हो ॥
हमरौ समैया एक दिन, जरूरे ही अइतै बाबू
तोहरो समैया ऐसन कबहू न रहतैय बाबू
आवे नाही रहतै ऐसन तोहरो जवनमा हो ।
छीनी लेलो कहिने बाबू जोतलो जमीनमा हो ।

—सैदपुरी

अनुवाद

हे बाबू जी ! आपने जोती हुई जमीन क्यों छीन ली ! इसी जमीन पर हमलोगों का जीवन निर्भर करता है । कैसी भी बिजली चमके, कैसा भी मेघ गरजे, किसी भी तरह की ठंढ पड़े और कितनी ही धूप क्यों न हो, हम खेत के मचान पर विश्राम नहीं करते थे,

नहीं सोते थे। हे बाबू जी आपने जोती हुई............!

हमने बैल खरीदने के लिए जेवर को बंधक रख दिया, जिसके चलते रोज पत्नी से झनकी सुनते हैं। पुत्री के कान सूने हैं और वह इस तरह ही सवेरा कर देती है।

कटनी करवाने के लिए जो आपके सिपाही आते हैं, ये धर के पीसे हुए सत्तू जरा भी नहीं खाते हैं। जिसका उधार है, बाकी है, उसकी दूकान सादी है।

हम उन्हें मन में एक सेर और सेर में आधा पाव माँगन देते रहे हैं। पेट बाँधकर हम शादी और सौदा के कार्य करते रहे हैं। फिर भी आपने तनिक भी ध्यान नहीं रखा।

भादो का जनरा पानी में डूब गया। सभी खाने की खर्ची देते देते ऊब गये और आपने भी जमीन कार्तिक महीना में ही छीन ली।

बैल नाद में भूसा न पाकर घूसा मारता है। मामी का पोसा हुआ मूसा कोठी में गुस्सा झाड़ रहा है और बालक रोटी के लिए बार बार रोने आता है।

हे बाबूजी! एक-न-एक दिन हमारा भी समय अवश्य आवेगा और आपका भी समय सदा ऐसा नहीं रहेगा। अब आपका ऐसा जमाना नहीं रहेगा। हे बाबूजी आपने जोती..............!

१०

बाबा के बगीचवा में अमुवाँ लगैलिये,
अमुवाँ के डाली लहरावे हो रामा
वही रे बगीचवा में लागले हिंडोलवा,
डाली पाती कोइली पुकारे हो रामा।१।
सखी सब झुलै रामा ऊंची डलिया से,
पुरबईया अंचरा उड़ावे हो रामा।
झूलवा के संगे-संगे साले रे करेजवा,
पिया परदेसिया नै आवे हो रामा।२।
ऐले वसन्त ऋतु धरती सिंगार रचै,
बगिया में कली गदरावे हो रामा।
पापी पपीहरा पी पी पुकारै,
छतिया में अगिया लगावे हो रामा।३।
जोड़ा पंडुकिया के धुरी मुरेरवा से,
चखइवा बिरहा सुनावे हो रामा।
गमैदै दोनकवा अंग मोरा फरकै,
एक दैव जनिया बचावै हो रामा।४। —भुवन

अनुवाद

बाबा के बागीचे में आम लगाया। राम! आम की डाली लहरा रही है। उस बागीचे में एक हिंडोला भी लगा हुआ है। डाल-पात से कोमल पुकार रही है। हे राम! ।१।

सखियाँ ऊँची ऊँची डालियों से झूल रही हैं, पुरवैया हवा से आँचल उड़ रहा है। झूलों के साथ-ही-साथ हृदय भी साल रहा है, ऐसे में परदेशी पिया भी नहीं आते हैं। हे राम! ।२।

वसन्त आ गया है, धरती अपना शृंगार रचाने लग गई है, बागीचे की कली अब गदराने लगी है, पापी पपीहा भी पी पी की पुकार मचाने लग गया है। हे राम! यह छाती में आग लगा देती है ।३।

मुड़ेरे पर पंडुकी का जोड़ा घुटरने लग गया है, चरवाहे बिरहा सुना रहे हैं। ढोलक भी गमागम कर रहा है। अंग-अंग फड़कने लगा है। ऐसे में दैव ही जान बचा सकते हैं।४।

सहायक ग्रंथ

अथर्ववेद
अपभ्रंश काव्य त्रय (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज)
आदिवासी (पत्र)
आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीत : राहुल सांकृत्यायन
इंडियन एंटिक्वेरी
इंडिया (१९५८)
उराँव भाषा और साहित्य : जगदीश त्रिगुणायत
ऋग्वेद
एंशिएण्ट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन
एतरेय ब्राह्मण
एन एडवांस हिस्ट्री ऑफ् इंडिया : रमेशचन्द्र मजूमदार, हेमचन्द्र रायचौधरी, तथा कालीकिंकर दत्त
कथासरित्सागर
एसिया का आधुनिक इतिहास : सत्यकेतु विद्यालंकार
कल्याण (तीर्थांक)
कविता कौमुदी (ग्रामगीत) : रामनरेश त्रिपाठी
गजेटियर (भागलपुर)
ग्रामीण हिन्दी : धीरेन्द्र वर्मा
गोरखवाणी : (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन)
गंगा (पुरातत्वांक)
चम्पा (पत्रिका)
चर्यापद : मणीन्द्र मोहन वसु
चीनी यात्रा सुयेनच्वांग (हिन्दी अनुवाद) : सत्यजीवन वर्मा
छत्तीसगढ़ी लोकगीत : श्यामाचरण दुबे
जर्नल ऑफ् एशियाटिक सोसाइटी बंगाल
जह्नुचेत्र : तारणीप्रसाद मिश्र
जैन सूत्र भूमिका : याकोबी
ज्योग्राफी ऑफ् बुद्धिज्म : विमल चरण लाहा
तिब्बत में सवा बरस : राहुल सांकृत्यायन
दीघ निकाय
दोहा-कोश : प्रबोध चन्द्र बागची
दोहा-कोश : राहुल सांकृत्यायन
नागपुरी भाषा और साहित्य : केसरीकुमार सिंह
निमाड़ी भाषा और साहित्य : कृष्ण लाल हंस
पंजाबी गीत : सूर्यकरण पारीक
परती : परिकथा : फणीश्वर नाथ 'रेणु'
पुराण (हरिवंश, विष्णु, गरुड़, वायु)
पुरातत्त्व निबंधावली : राहुल सांकृत्यायन
प्रियदर्शिका
प्राकृत पैंगलम् (बिबलियोथिक इंडिका)
प्राङ्मौर्य बिहार : देव सहाय त्रिवेद
प्राचीन भारत का इतिहास : भगवतशरण उपाध्याय
बासुकी नाथ कथा
बौद्धगान ओ दोहा : हरप्रसाद शास्त्री
बिहार-दर्पण : गदाधर प्रसाद अम्बष्ठ
बिहुला कथा

बृहत् झूमर (रस मंजरी) भवप्रीतानन्द
बैसवारी और उसका साहित्य
ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन : सत्येन्द्र
ब्रह्मपुराण
भागलपुर दर्पण : झारखंडी झा
भारत का सांस्कृतिक इतिहास : हरिदत्त वेदालंकार
भाषा-शब्द-कोष : रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
भोजपुरी ग्रामगीत : कृष्णदेव उपाध्याय
भोजपुरी भाषा और साहित्य : डॉ० उदयनारायण तिवारी
भोजपुरी लोकगीतों में करुण रस : दुर्गाशंकर सिंह
मंदार परिचय : अभयकान्त चौधरी
मज्झिम निकाय
मनुस्मृति
महाजनक जातक
महापरिनिर्वाण सूत्र
महापुराण : पुष्पदंत
महाभारत
महावग्ग
महेशवाणी
मालवी लोकगीत : श्याम परमार
मैथिली लोकगीत : रामइकबाल सिंह 'राकेश'
मैथिली व्याकरण प्रबोध : भोलालाल दास
मैथिली साहित्य का इतिहास : कृष्णकांत मिश्र
मैनुअल आफ बुद्धिज्म (कर्ण)
मैला आंचल : फणीश्वर नाथ 'रेणु'
यानचीन की भारत यात्रा : टामस वाटर
रघुवंश : कालिदास
रामायण-वाल्मीकि
लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इंडिया : जॉर्ज ग्रियर्सन
शक्ति-संगम-तंत्र
श्री जगन्नाथ जी का भजन
संदेश रासक : अब्दुर्रहमान
संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ : चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा
सिद्धों के दोहे : कलकत्ता विश्वविद्यालय
सुलतानगंज की संस्कृति : अभयकांत चौधरी
सुहाग गीत : विद्यावती कोकिल
सेक्रेड बुक ऑफ् दि ईस्ट (भाग १४)
हमारे लोकगीत : पृथ्वीनाथ चतुर्वेदी
हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास : शमशेर सिंह नरूला
हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन
हिन्दी भाषा का इतिहास : धीरेन्द्र वर्मा
हिन्दी भाषा व्याकरण : माहेश्वरी सिंह 'महेश'
हिन्दी विश्वकोश : नगेन्द्रनाथ वसु
हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य को बिहार की देन : (प्रथम भाग) : कामेश्वर शर्मा
हिस्टोरिकल डेवलपमेंट ऑफ् मेडिएवल हिन्दी प्रोसोडी : माहेश्वरी सिंह 'महेश'
हिस्ट्री ऑफ् मैथिली लिटरेचर : जयकान्त मिश्र
हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ् दि इंडियन पीपुल : (वैदिक एज) रमेशचन्द्र मजूमदार

नागपुरी भाषा और साहित्य

मगही और मैथिली की तरह नागपुरी भी मागधी-अपभ्रंश से प्रसूत और इन्हीं की तरह एक निश्चित बोली है[1], जो 'बिहारी' के अन्तर्गत आती है, हालाँकि भोजपुरी और मैथिली की तरह इसने भाषावैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट नहीं किया है। इस अर्थ में यह मगही से भी अधिक अभागिन है।

नागपुरी (या नागपुरिया) को सदानी[2] और सदरी[3] भी कहते हैं। इसी का एक विशिष्ट रूप पाँच परगनिया[4] (या पँचपरगनिया) और किञ्चित् परिवर्तित रूप कुरमाली[5] है।

नागपुरी का क्षेत्र लगभग समूचा छोटानागपुर है और इसे न केवल सदान (छोटानागपुर में बसे अ-आदिवासी, जिनकी प्रमुख जातियाँ हैं—तूरी[6], चीक[7], गोड़, सूँड़ी[8], भोगता[9], लोहरा[10], तेली, बनिया, घाँसी[11], अहीर, नउआ, भोरा[12], रउतिया, छतरिया[13], रजपूत[14], और बामहन[15])[16] बोलते हैं, बल्कि सदान[17] और आदिवासी भी

---

१. कुछ विद्वान् इसे भोजपुरी के अन्तर्गत मानते हैं। इस सम्बन्ध में हमने इस निबंध में अन्यत्र विचार किया है।
२. सदान द्वारा प्रयुक्त होने के कारण।
३. शहर और बाजार में अनिवार्य रूप से प्रयुक्त होने के कारण।
४. राँची जिले के 'पाँच परगना' की बोली होने के कारण।
५. कुर्मी एक प्रसिद्ध जाति है।
६. टोकरी बनाने का काम करनेवाली जाति।
७. बुनकर।
८. शराब चुआने का रोजगार करनेवाली जाति।
९. चूरा बनाने का धंधा करनेवाली जाति।
१०. लोहार।
११. घास काटने का काम करनेवाली जाति।
१२. माँझी।
१३. क्षत्रिय।
१४. राजपूत।
१५. ब्राह्मण।
१६. छतरिया, कुरमिया, राजपूत और बामहन अन्य सदान जातियों के साथ छोटानागपुर में आये, ऐसा अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है; किन्तु आदिवासियों से भिन्न करने के लिए इन्हें भी सदान कहते हैं। ज्ञातव्य है कि छोटानागपुर में अ-आदिवासी [illegible] को सदान कहते हैं। यह सदान शब्द हिन्दू अथवा [illegible] शब्द से भिन्न [illegible] इसका [illegible] प्रयोग अ-आदिवासी समाज के लिए करते हैं।
१७. [illegible] करने को 'सद' भी कहते हैं।

बातचीत भी इसी में होती है। हाँ, मुण्डा की अपेक्षा उराँव जनता ने इसे अधिक अपनाया है। स्वभावतः, जहाँ सदान और उराँव अधिक हैं, वहाँ यह विशेष प्रचलित है। वैसे एक आम शिकायत है कि मुण्डारी और उराँवभाषी नागपुरी के शील को, इसके आदरसूचक सर्वनामों और क्रियापदों का व्यवहार न करके, निभा नहीं पाते।

भौगोलिक दृष्टि से बिहार में राँची, गुमला, पलामू, सिंहभूम, मानभूम जिले तथा हजारीबाग के चतरा और रामगढ़ प्रमंडल नागपुरी के विशेष क्षेत्र हैं। बिहार के बाहर, मध्यप्रदेश के सुरगुजा और यशपुर; उड़ीसा के सुन्दरगढ़, क्यूँझर और म्यूरभञ्ज तथा बंगाल के पुरुलिया और मिदनापुर के उन हिस्सों में, जो बिहार की सीमा से लगे हैं, यह बोली जाती है। पुरुलिया में यह कुरमाली का रूप ले लेती है। स्वयं राँची जिले के 'पाँच परगना' (राँची जिले के पाँच परगने—बुण्डू, तमाड़, राहे, बरदा और सिल्ली—पाँच परगना के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके वर्तमान थाने हैं—बुण्डू, तमाड़, सोनाहातू और सिल्ली) में इसका विशिष्ट रूप 'पाँचपरगनिया' के नाम से चलता है। पाँच परगना के निवासी और उनकी भाषा दोनों ही पाँचपरगनिया कहलाते हैं।

राँची जिले की नागपुरी टक्साली है। प्रस्तुत निबन्ध में उसी का विवेचन है।

नागपुरी के स्वर और व्यञ्जन वे ही हैं, जो हिन्दी के हैं और प्रयुक्त स्वरव्यञ्जनों का उच्चारण प्रायः हिन्दी-स्वर-व्यञ्जनों की तरह ही होता है। किन्तु इसमें ऐ, औ, ऋ, एवं अः का प्रयोग प्रायः नहीं होता और अन्य बोलियों की तरह श स में, ष ख अथवा स में, क्ष छ में तथा ज्ञ गेय (जैसे गेयान) मे अथवा ग्य (जैसे आग्या) में बदल जाते हैं।

अन्य बिहारी बोलियों की तरह नागपुरी में भी 'अ' का उच्चारण विस्तृत होता है[1] और पदान्त के 'अ' का उच्चारण कुछ अपवादों (जैसे संयुक्ताक्षरों और क्रियापदों) को छोड़कर नहीं होता। फिर भी नागपुरी में अ का उच्चारण भोजपुरी आदि बोलियों से किंचित् भिन्न होता है। दो पदों के समास में पहले पद के अंतिम अ का उच्चारण मगही, भोजपुरी और मैथिली में होता है; जैसे कनपट्टी के प्रथम पद कन में न के, करमसाँढ़ (अथवा करमसारह) के करम में म के, हमरा में म के 'अ' का उच्चारण होता है, किन्तु नागपुरी के सामासिक पदों के प्रथम पद के 'अ' का उच्चारण नहीं होता, यदि आधार प्रथम पद में स्वर चिह्न नहीं लगा होता; जैसे—दाल-भात, राइत दिन आदि।

नागपुरी में 'अ' का उच्चारण कई अवस्थाओं में दीर्घ अथवा दीर्घ-सा होता है। जैसे—(१) संयुक्ताक्षर के पहले ह्रस्व 'अ' दीर्घ हो जाता है : अन्धा > आन्धा, लम्बा > लाम्बा। कन्धा > कान्धा। (२) यदि किसी शब्द का द्वितीय अक्षर दीर्घ अथवा स्वराघातित हो, तो उसके पहले का 'अ' दीर्घ हो जाता है : बड़ा > बाड़ा। स्मरणीय है कि पश्चिमी हिन्दी का आकारान्त शब्द बिहारी में अकारान्त हो जाता है : बड़ा > बड़, भला > भल। नागपुरी में भी 'भल' है, किन्तु पहली प्रवृत्ति अधिक है। (३) शब्द के आरम्भ के 'अ' का उच्चारण दीर्घ-सा होता है : अड्डा > आड्डा, अचरज > आचरज।

---

१. कहीं कहीं ओ की तरह—जैसे, सउब > सब > सोब।

नागपुरी में 'ण' सदा अन्य व्यञ्जनों के साथ संयुक्त रहता है। इसका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता। 'ण' का उच्चारण प्रायः 'न' की तरह होता है। ड अथवा ढ के साथ संयुक्त होने पर यह 'ण' की तरह ही उच्चरित होता है : घण्टा, डण्डा (गिद), भण्डा (भाँड़), सण्ढा (मुर्गा), टण्डा (ठंडा), गण्डक (गड़क)।

भोजपुरी, मगही आदि में पश्चिमी हिन्दी के ड और ढ क्रमशः र और र्ह में परिवर्तित हो जाते हैं, किन्तु नागपुरी में ड, ढ मूर्धन्य ध्वनियाँ उत्क्षिप्त ड़, ढ़ तो होती हैं, किन्तु अनादर एवं व्यंग्य के लिए ड, ढ सुरक्षित भी रह जाते हैं : ढोन्डा, बूढा। बूढा होए गेलक।

पश्चिमी हिन्दी के शब्द के आदि में य अथवा व आता है, परन्तु पूर्वी हिन्दी और भोजपुरी में यह य 'ए' में और व 'ओ' में बदल जाता है : व्रजभाषा—यामें, वामें; भोजपुरी—एमें, ओमें। कभी-कभी बीच में सन्ध्यक्षर ह भी आता है : ओहमे। नागपुरी में ऐसा नहीं होता। यहाँ ऐसे स्थलों पर य 'इ' में और व 'उ' में परिणत होता है : इकर में, ईमन में, उकर में, ऊमन में, (अधिकरण); इकर लागिन, इके ईमन लागिन, उकर लागिन, ऊमन लागिन (सम्प्रदान); इकर से, इकर सएँ, ईमन से, ईमन सएँ, उकर से, उकर सएँ, ऊमन से, ऊमन सएँ (करण)। अन्य बोलियों के अन्य स्थलों की तरह शब्दारम्भ के य और व क्रमशः ज और व हो जाते हैं और दो व एक साथ नहीं रहते : विवाह>विहा। मध्य का य अथवा व सुरक्षित रहता है। हाँ, इसके सर्वनाम ई, ऊ क्रमशः ए, ओ में, किन्हीं खास प्रयोगों में, परिवर्तित होते हैं : ई देख (यह देखो)>ए दे; ऊ देख (वह देखो)>ओ दे। निश्चयात्मकता का बोध कराने के लिए जब ई, ऊ सर्वनामों पर बल दिया जाता है, तब इनके रूप एहे, ओहे हो जाते हैं : एहे रहे (ठीक यही था), ओहे रहे (ठीक वही था)।

नागपुरी में शब्दों के आदि अथवा अन्ताक्षर पर बल रहता है। फलतः नागपुरी शब्दों के प्रथम अथवा अंतिम अक्षर के दीर्घ होने की प्रवृत्ति रहती है : रात्रि >राइत अथवा राती; पाषाण> पाखन अथवा पखना। वैसे नागपुरी में स्वराघात के सामान्य नियमों के अनुरूप शब्दान्त के व्यञ्जन के पहले आनेवाले अक्षर पर (घंर, सण्ड़ंक); ङ, ञ, ण, न, म से संयुक्त व्यञ्जन के पहले आनेवाले अक्षर पर (गंञ्जा अफीम, भंण्ड़ा)[1] तथा इ, उ के पहले आनेवाले अक्षर पर कंइर, चंरइ, उंङ्कवा[2] स्वराघात होता है।

शब्दों की बनावट अथवा ध्वनि-परिवर्त्तन का, नागपुरी में, सबसे प्रमुख और व्यापक नियम यह है कि आधार-शब्द यदि इकारान्त है, और इ के पहले व्यञ्जन है, तो यह इ उस व्यञ्जन के पहले चला जाता है। जाति>जाइत, पाँति>पाँइत, गणपति>गनपइत, विपति>विपइत।

इसी प्रकार आधार-क्रियापदों के अन्त का इ अंतिम व्यञ्जन के पहले आ जाता है : करि> कइर। चलि>चइल, सुनि >सुइन, कहि>कइह।

---

१. यही कारण है कि ऐसे शब्दों का पहला अक्षर विकल्प से दीर्घ हो जाता है : गाञा, माण्डा।
२. करि> कइर। चरइ=चिड़िया।

यह नियम इतना व्यापक है कि नागपुरी मे तइरगन, आफइत (आफत), माइर (मार, मारना), मुलाकाइत आदि शब्द चलते हैं।

अन्य बिहारी बोलियों की तरह शब्द के आदि का न ल में परिवर्त्तित हो जाता है: नील>लील, नंगटा>लंगटा, नंबर>लंबर और इन बोलियों की तरह नागपुरी में भी उन शब्दों का उच्चारण अनुनासिक होता है, जिनके अन्त में ख, भ, ढ, थ, व, स, ह आते हैं: आँइख, आँख, सँस, हाँथ।

पश्चिमी हिन्दी का ल जैसे भोजपुरी में र हो जाता है, वैसे नागपुरी में भी: फर (फल), हर (हल)।

नागपुरी में साधारणतः शब्द के आरम्भ का य ज हो जाता है, किन्तु जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ य के पहले इ या ए लगता है: याद>इयाइद, यार>इयार।

नागपुरी में लिंग प्रकरण महत्त्व नहीं रखता। केवल महत्त्वपूर्ण जीवों के लिए प्रयुक्त संज्ञाओं और कुछेक विशेषणों में दो लिंग होते हैं, अन्यथा लिंग-भेद नहीं होता। सर्वनाम और क्रियाओं में लिंग-भेद का सर्वथा अभाव है। फलतः कुकुर, सियार, मूसा, मुरगी, बिलइ जैसी संज्ञाएँ नर और मादा दोनों के लिए प्रयुक्त होती हैं।

वचन दो हैं, किन्तु दोनों के रूप एक हैं। एकवचन में केवल मन, मने अथवा सउब जोड़कर बहुवचन बना लेते हैं: आदमी (ए० व०)—आदमी-मन, आदमी-मने (ब० व०); जनाना (ए० व०)—जनाना-मन, जनाना-मने (ब० व०), गछबिरिछ (ए० व०) -गछ-बिरिछ सउब (ब० व०), छउवापूता (ए० व०)- छउवापूता-सउब (ब० व०)। ज्ञातव्य है कि चटर्जी महोदय ने मगही, मैथिली और भोजपुरी में अनेक भेद मानकर डॉ० ग्रियर्सन की इन तीनों को 'बिहारी' के अन्तर्गत रखने की, योजना का विरोध किया है। डॉ० जयकान्त मिश्र ने डॉ० चटर्जी का समर्थन करते हुए इस प्रसंग में बहुवचन बनाने की पद्धति का उल्लेख किया है और कहा है कि जहाँ मैथिली में बँगला की तरह एकवचन में समूहवाचक शब्द जोड़कर बहुवचन बनते हैं, वहाँ भोजपुरी में, नि, न तथा न्ह प्रत्यय संयुक्त करके बहुवचन-रूप बनते हैं। किन्तु डॉ० उदयनारायण तिवारी ने ठीक डॉ० मिश्र का विरोध किया है और कहा है कि भोजपुरी में इन प्रत्ययों के अतिरिक्त मैथिली और बँगला की भाँति समुदायसूचक शब्दों के योग से भी, यानी सभ् या लोगनि लगाकर भी, बहुवचन-रूप सिद्ध किया जाता है। कभी-कभी तो भोजपुरी बहुवचन के रूपों में नि-न न्ह तथा सभ् या लोगनि एक ही साथ लगते हैं।

यही सभ् या सबहिक (मैथिली) नागपुरी का सउब है। सभ् और लोगनि में अन्तर यह है कि सभ् संज्ञा के पहले अथवा बाद में आ सकता है: भोजपुरी—सभ लरिका के, सभ लरिकन के; लरिका सभ, लरिकन सभ; मैथिली—सभ नेनाक, सबहिक नेनाक; नेना सभक, नेना सबहिक। किन्तु लोकनि या लोगनि केवल बाद में ही आता है। नागपुरी में मन या-मने प्रत्यय बराबर संज्ञा के बाद आता है, किन्तु सउब पहले भी आ सकता है: सउब कोउ अपन-अपन घर गेलएँ।

नागपुरी के कारक-चिह्न या परसर्ग ये हैं—

कर्त्ता—०

कर्म—के

करण—से, सएँ

सम्प्रदान—लागिन, लाइ, लें, के, खातिर

अपादान—ले, से

सम्बन्ध—कर, के, क

अधिकरण—ए, में, ऊपर

सम्बोधन—ए, अरे, रे, हे

इनमें कर्म के 'के'-चिह्न का प्रयोग प्रायः प्राणिवाची या निर्धारित कर्म के साथ होता है : आदमी मन के बोलालक; बेस घोड़ा के लान; थारी के कहाँ राखले। घर जाय।

करण का सएँ-चिह्न पुराना है और से-चिह्न आधुनिक है। इस स-सएँ का काम मगही, मैथिली और भोजपुरी की तरह ए से भी लिया जाता है। जैसे—आदमी-मन भूखे मरत हएँ; कुकुर के गोड़े धरलो।

सम्बन्ध—परसर्ग कर, के, क के प्रसंग में यह स्मरणीय है कि मैथिली में ये ही तीनों सम्बन्ध चिह्न हैं और भोजपुरी की संज्ञाओं में केवल के-चिह्न लगने देखकर डॉ० मिश्र ने यह स्थापना की थी कि मैथिली ही मागधी-प्रसूत है, भोजपुरी नहीं तथा डॉ० तिवारी ने यह कहकर इस सिद्धान्त का खण्डन किया कि 'क' प्राचीन भोजपुरी-गीतों में भी मिलता है और कर आधुनिक सर्वनाम में लगता है : तेकर, सेकर, होकर, केकर आदि।

नागपुरी-विशेषण में वे ही विशेषताएँ हैं, जो 'बिहारी' की अन्य बोलियों में हैं, अर्थात् वे वचन और कारक से परिवर्तित नहीं होते। लिङ्ग-सम्बन्धी परिवर्तन अत्यन्त थोड़े से विशेषणों में होते हैं। पुँल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग बनने पर पुँल्लिङ्ग विशेषण का आ अथवा अ ई में बदल जाता है : लँगड़ा—लँगड़ी, बहिरा—बहिरी। सम्बन्ध-निर्देश के लिए नागपुरी में भी पुँल्लिङ्ग विशेषण में का जुड़ता है, जो स्त्रीलिङ्ग में की हो जाता है : छोटका—छोटकी, बड़का—बड़की। अनादर के लिए टा, ठा, गा, हा जोड़ते हैं : गोरटा (स्त्रीलिङ्ग—गोरटी), करियाठा (स्त्री० रू०—करियाठी), आँधरा (स्त्री० रू०—आँधरी)।

संख्यावाचक संख्याओं की विशेषता यह है कि ग्यारह से अठारह तक की संख्याओं में ह का उच्चारण नहीं होता : गार, बार, तेर, चउद, पन्द्र, सोर, सतर तथा अठार।

नागपुरी के सर्वनाम हैं—पुरुषवाचक—मोंय, हमरे, हम, तोंय, तोंहरे, ई, ऊ; निश्चयवाचक-[illegible], [illegible], आदरवाचक—आपने, रउरे, निजवाचक—ई, ऊ; अनिश्चयवाचक—केउ, [illegible], सम्बन्धवाचक—जे, से और प्रश्नवाचक—के, का, कौन। मोंय का बहुवचन हमरे [illegible] तोंय का बहुवचन तोंहरे होता है। और सभी सर्वनाम के बहुवचन [illegible] होते हैं।

मगही, भोजपुरी आदि में हम का ही प्रयोग प्रथमपुरुष, एकवचन सर्वनाम के रूप में होता है। समुदायवाचक शब्द जोड़कर इसका बहुवचन-रूप बनाया जाता है।[१] इनमें मोएँ (मैं) जैसा सर्वनाम नहीं है, हालाँकि मोएँ का सम्बन्धकारकवाला रूप मोर मिलता है (तसलवा तोर कि मोर)। किन्तु नागपुरी में हमरे का प्रयोग एकवचन में प्रायः नहीं होता : मोएँ घर जात रहीं, हमरे घर जात-ही। इसी प्रकार तोएँ तोहरे का भेद भी मगही, भोजपुरी आदि में नहीं मिलता। पर दूसरी ओर इनके प्रभाव के कारण नागपुरी में भी हमरे मन और तोहरे मन का प्रयोग विकल्प से होने लगा है।

आदरसूचक सर्वनाम की दृष्टि से नागपुरी, भोजपुरी तथा मैथिली एवं मगही की संगमभूमि है; क्योंकि इसमें भोजपुरी का 'रउरे' भी है, जो मैथिली और मगही में नहीं है तथा इसमें 'अपने' का भी प्रयोग होता है, जो मगही, मैथिली और भोजपुरी में समान रूप से वर्त्तमान है : रउरे जाए रही। अपने देखब।

अतः 'रउरे' के आधार पर बिहारी बोलियों में जो भेद करने की कोशिश होती है, उसे नागपुरी बल नहीं देती।

नागपुरी-संज्ञा अथवा सर्वनाम में अनादरसूचक अर्थ डालने के लिए हार शब्द जोड़ते हैं : के हार, केउ हार। अधिकारवाची सर्वनाम के बीच पश्चिमी हिन्दी में जो 'ए' रहता है, वह भोजपुरी में 'ओ' हो जाता है : मेरा (पश्चिमी हिन्दी), मोर (भोजपुरी)। नागपुरी में अधिकारवाची सर्वनाम का एकवचन-रूप मोर है और बहुवचन-रूप हमर, हमरेकर हमरेमनकर हैं। ज्ञातव्य है कि 'हमर' रूप मगही में मिलता है। इसका भोजपुरी-रूप हमार है। नागपुरी में शब्द के आरम्भिक अक्षर पर स्वराघात पड़ने के कारण हमर हामर की तरह उच्चरित होता है।

मागधी से उत्पन्न भाषाओं की तरह नागपुरी में भी ल जोड़कर भूतकालिक क्रिया सम्पन्न होती है और यथास्थान सर्वनाम का लघुरूप उसमें जुड़ जाता है; गेलों (मैं गया), खालों (मैं खाया), खाली (हम खाये), खाले (तू खाया), खाला (तुम खाये), खालक (वह खाया), खालएँ (वे खाये)। और, इन्हीं की तरह ब लगाकर भविष्यत्काल की क्रियाओं का निर्माण होता है : जाव, खाव, पियव आदि (खाबों-बुँ-मुँ = मैं खाऊँगा; खाव बइ = हम खायेंगे; खाबे = तू खाएगा; खावा = तुम खाओगे; खाइ = वह खायगा; खावएँ = वे खायँगे)। प्रेरणार्थक क्रिया क्रिया-मूल में उवाएक जोड़कर बनाई जाती है। ऐसा करने में क्रियामूल के अन्त के व्यञ्जन के पहले का दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है : नाच > नचुवाएक। उवाएक का छोटा रूप है आएक, जिसे जोड़कर नामधातु बनाते हैं : बुढ़ा > बुढ़ाएक; बात > बतियाएक।

नागपुरी की विशेषता है कि उसमें होना-क्रिया के लिए अनेक रूप हैं—हेकेक, हेक, आहेक, रहेक, भेक, होएक—और इन सबके प्रयोग में बड़ा सूक्ष्म भेद है। फिर एक और विचित्रता है कि उपर्युक्त क्रियाओं में से प्रथम तीन के निषेधात्मक रूप उनसे

१. नि-न-न्ह प्रत्यय भी लगते हैं।

भिन्न हैं। हेकेक का निषेधात्मक रूप है नलागेक और हेक अथवा आहेक का निषेधात्मक रूप है नख हेक : नउवा बेस आदमी हेके; तोएँ बेस आदमी हेकिस; नउवा बेस आदमी न लागे; तोएँ बेस आदमी न लागिस; घरे कउ आहे ! (घर में कोई है !); कोनो नखहे (नहीं)। नागपुरी के निषेधात्मक क्रिया-रूपों—न, मइत, ना, नि—में नि सबसे कठोर है : नि जाबे।

क्रिया-विशेषणों का तो नागपुरी में ऐसा मेला है कि सर्वनाम से बने क्रिया-विशेषणों में पास-पड़ोस की भाषाओं के अनेकानेक रूप आ गये हैं।[1]

नागपुरी गीतों की रानी है। छोटानागपुर के गाँवों में शायद ही कोई सदान-गाँव मिले, जहाँ वहीं मातों में सौ-पचास गीत लिखकर संगृहीत न किये गये हों। पर न तो इनका व्यापक संग्रह हो सका है और न समुचित सम्पादन।

नागपुरी में जिन लोगों के नाम से गीत चलते हैं, उनकी संख्या बताना कठिन है। पर अपेक्षाकृत पुराने प्रसिद्ध गीतकार हैं : बिनन्दिया, गौरागिया, घासीराम, घासीदास, लछुमिन कुँवरी, हनुमान[2], लुन्दरु, बोधन, अरजुन, लछुन, श्रीधरदास, तुलसीदास, जतिनाथ, हरपतिया, बरजु[3], साही हरिहर, नरहरिदास, गौरीचरन, गोविन्दसिंह, चन्दन सोवरन, नाथमोहन, गोपाल, बन्धनी, मनिनाथ, उदयनाथ, जयगोविन्द मिश्र, मदन, झगड़ राय, कनक राम, नृप रघुनाथ आदि।

१. समयवाचक—अब, जब, तब, कब, कधि, जहिया, तहिया, कहिया, कहियो, एखन, उखन, जेखन, सेखन, तेखन, कखन, कोनोखन, कोनखन, एतिखन, ओतिखन, जोतखन, सेतिखन, ततिखन, कतिखन, कतियोखन, एहेखन, ओहेखन, जेहेखन, सेहेखन, तेहेखन।

स्थानवाचक—इहाँ, ऊहाँ, जहाँ, तहाँ, सहाँ, कहाँ, कहाओं, हिंया, हुआँ, इलाल, उलाल, जेलाल, सेलाल, तेलाल, कोनलाल, कोनोलाल, इलाइल, उलाइल, जेलाइल, कोनलाइल, कोनोलाइल, इजग, उजग, जेजग, सेजग, तेजग, कोनजग, कोनोजग, एहेजग, ओहेजग, जेहेजग, तेहेजग, इठन, उठन, जेठन, सेठन, तेठन, कोनठन, कोनोठन, एहेठन, ओहेठन, जेहेठन, सेहेठन, तेहेठन।

रीतिवाचक—इसन, उसन, जइसन····अइसे, ओइसे, जइसे····इलखे, उलखे, जेलखे····।

परिमाणवाचक—एति, ओति, जति, सति···· एतइ, ओतइ, सतइ····एतना, ओतना, जतना····एतरा, ओतरा, जतरा····।

दिशावाचक—इधट, उधट, जेधट,····हिने, हुने, जने, तने, कने, कन्हों, हिन्दे, हुन्दे, जन्दे, सन्दे, तन्दे, कन्दे।

२–३. हनुमानसिंह और बरजू राय के गीतों में प्रायः दोनों की नोंक-झोंक मिलती है। दोनों राँची जिले के समकालीन कवि थे। समय अनुमानतः १९वीं शताब्दी का तृतीय दशक।

इन गीतकारों में अपने नाम के पहले जड़, जद या द्विज लिखने की प्रवृत्ति है।[1] इन गीतों के प्रसिद्ध रूप हैं : झूमर, जनीझूमर, भिनसर या भिनसरिया झूमर, गोलवारी झूमर, पावस, उदासी, डँड़धरा, लुझरी, साजैनी लुझरी, गोलवारी लुझरी, लहसुआ, डमकच[2], करमगीत, जितिया, जदुरा, और फगुआ या फगुवा।

इनमें लुझरी, लहसुआ, करमगीत और जदुरा सदानों और आदिवासियों मे समान रूप से प्रचलित हैं और मूलतः आदिवासी स्रोत के हैं।

विशेष गीत विशेष अवसरों पर गाये जाते हैं। झूमर सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रिय है। झूमर जैसे सदानों का प्राणप्रिय जातीय गीत है; सुख दुःख का साथी है। नागपुरी में कहावत[3] है—'हाथ पव पन्द्रह पैला[4], घर में झूमैर खेलैं मूसा लैला।' झूमर की विशेषता

---

१. (क) जड़ महंत घांसीदास……।
   (ख) जड़ हनुमान कहे, होवब नेहाल हो, दूर करू गृह के जंजाल।
   (ग) बरने प्रथम जड़ नरहरिदास गोई, तेही पदे, सदा दिन रहे आस गोई, तेही पदे।
   (घ) हरि से कहब सखी हमरे बिनतिया, कहे जड़ चन्दन पुसन बतिया, कहे जद।
   (ङ) जड़ मनिनाथ भने, कहत ना एको बने कुबली हरलएँ मोर प्रान, नहीं थालएँ साम।
   (च) द्विज बरजु भने, घुरि फिरि मन राउरे ठने……।

२. भारत के विभिन्न क्षेत्रों में डमकच या डोमकच के गीत प्रचलित हैं। इनका तुलनात्मक अध्ययन बड़ा दिलचस्प होगा। नागपुरी का एक गीत है, हालाँकि इसपर आधुनिकता की छाप है—

   किँहु बरात जनकपुर से आन हो
   अवध सुन्दर नारि धरि धरि तान : नाचन लागे।
   करि डोमकच गान : नाचन लागे।
   सिर सेंदूर सोहै जिमि ससि भान हो
   करि कुंतल बिच जलद सुहान : नाचन लागे।
   झलमल झलकत तरिमल तान हो
   असन अधर मुखे कचरत पान : नाचन लागे।
   ज्ञानु जयगोविन्द करत बखान हो
   जहँ रघुबरजी के डेरा स्थान : नाचन लागे।

३. गीतों की तरह कहावतों की दृष्टि से भी नागपुरी बहुत समृद्ध है। निर्धन जन-जीवन के उल्लास त्रास के अनुभवों में आकलित इन कहावतों में, यहाँ की भूमि की तरह ही, स्थानीय रंग से सराबोर एक बीहड़ सौन्दर्य है—

   जनी सिंगारे दोसर ले, खेत सिंगारे आपन ले।
   × × ×
   दिन भेलैं कुदिन, बरखा भेलैं काल, हरिना चाटे बाघकेर गाल।
   × × ×
   धान काटे गदरा, रब्बी काटे सुदरा। बाँहिगा तोड़े जब्बर, कोढ़ी तोड़े अब्बर।
   × × ×
   बाँध फूटे तो बकिली के दाव भेल। महरंग केर सेंदूर बहोरिया उतान होय के पीन्ध।
   × × ×
   रीन तो रीन, पैला धाने मछरी कीन।

४. पैला=अनाज नापने का एक छोटा-सा बरतन।

यह है कि जहाँ शास्त्रीय संगीत में स्थायी पहले आता है और पूरक पीछे, वहाँ झूमर में स्थायी अन्तरा के पीछे आता है। यह प्रायः छतालों का होता है। शरद् इसकी अनुकूल ऋतु है। झूमर के साथ नाच भी होता है, किन्तु इस सम्बन्ध में एक भ्रान्ति का निराकरण करना जरूरी है। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' में लिखा है कि 'इसके (झूमर के) लिए एक 'खेलड़ी', नचनी अथवा पतिता स्त्री का होना आवश्यक है, इससे नाच अति दूषित हो जाता है।'[1] लेकिन नचनी उस अर्थ में पतिता नहीं होती, जिस अर्थ में साधारणतः उस शब्द का प्रयोग होता है। नचनी वारांगना नहीं होती, बल्कि एक प्रकार से रक्षणीया होती है। वह अपने आदमी को छोड़कर औरों के साथ नहीं नाचती। उसका पुरुष ही माथे में मोरपंख खोंसकर और कमर में ढोलक बाँधकर सबसे पहले अखाड़े में आता है और तब गोल के अन्य पुरुष हरी डालियाँ या ईंत लेकर उतरते हैं।

आदिवासी-नृत्य के बिना गीतों की कल्पना ही नहीं कर सकते, पर सदानों के लिए यही बात नहीं कही जा सकती।

जीवन के सुख-दुःख, हास्य-रुदन, प्रेम-विरह, पर्व-त्योहार आदि की दृष्टि से तो आदिवासी और सदानी गीत समान हैं, किन्तु दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव भी पड़ा है। तभी तो हो, मुंडा और उराँव-गीतों में राम-कृष्ण का उल्लेख है और नागपुरी गीतों में जतुरा, मगहुल आदि गाये जाते हैं। पर दोनों में एक मौलिक अन्तर भी है। नागपुरी गीतों पर वैष्णव भक्ति और अध्यात्म का ऐसा प्रभाव पड़ा है कि उनके गायकों की दृष्टि आस-पास की प्राकृतिक छटा से हटकर अन्तर्मुखी हो गई है। यह नहीं कि नागपुरी गीतों में प्रकृति का अस्तित्व ही नहीं है, अस्तित्व मांसल है, किन्तु यह अस्तित्व किसी आध्यात्मिक विकलता या उन्माद के लिए ही है। इस दृष्टि से नागपुरी-गीत आदिवासी गीतों की तरह प्रकृति-गीति की कोटि में नहीं आते।[2]

मौलिक परम्परा, वैष्णववादों के प्रभाव तथा आधुनिक गायकों के कारण नागपुरी

---

१. पृ० २५५।

२. धानी राम का एक गीत देखिए, जो इस तथ्य को स्पष्ट करता है—

बरखा झेंड़ महीना भल भाय, हिया हारल सजनी माई, हरो भरल कुँअवाय।
भादव कठिन लाग दमेसा बजाय, हिया हारल सजनी माई, धक धक हिया धड़काय।
केहि से मोहन कर बँसिया मिलाय, हिया हारल सजनी माई, भादू भरे मनहुँ अकुलाय।
कवन कन्हैया कैसे दूर करवाय, हिया हारल सजनी माई, मने गुनि धानी पछताय।

[विशेष—धानी राम के कई गीतकार नागपुरी में हुए हैं।]

गीतों में तत्समता आती जा रही है। फिर भी उनके मूल रूप को निकाल लेना कठिन नहीं है।[1]

इससे बड़ी कठिनाई यह है कि एक प्रकार की भाव-भाषा, तोड़ और भंगिमा अनेक नामों से चलनेवाले गीतों में मिलते हैं। निराकरण यही कहकर किया जा सकता है कि ये सब एक ही सांस्कृतिक चेतना को उपस्थित करनेवाले लोग थे।[2]

इस प्रसंग में घासीराम और लछमिन तथा लछमिन और लुन्दरु की तुलना की जा सकती है।[3]

फिर अनेक बोलियों से घिरी रहने और अनेक भाषा-भाषियों के समागम के कारण एक ही गीत के अनेक रूप मिलते हैं।[4] इन्हीं के आधार पर जब नागपुरी का बोलीगत

---

१. पिया के आवन हाल सुनी भवने, नहीं आलएँ नन्द के नन्दने साजइन,
घटकि रहलएँ कोन ठने। गे साजइन, बिलमि रहलएँ कोन ठने!
गाथलीं पुहुप हार, धरली जतने, से हो कुम्हलाय गेल, डालिए दसने,
गे साजइन, घटकि रहलएँ कोन ठने!
कपुर, सोपारी पान, राखली भगने, ओहो उदसाय गेल बरेय भवने,
गे साजइन, घटकि रहलएँ कोन ठने!
बिधु बिधुपदे घासी चकोर से खने, नयना टटाय गेल उदये कारने,
गे साजइन, घटकि रहलएँ कोन ठने!

२. ऊपर के गीत से नीचे के गीत की तुलना कीजिए—
बुझि बुझि भने मन, बिलखत छनेछन, कहाँ गेली नन्द के नंदने, गे साजइन, सुखनी लागत भवने।
प्रगट अं तक बात कहत ना बने माई, कासे कहबं कोई हित ना, अपनें, गे साजइन, सुख०।
नहीं भावे चीर चोली, अमृत भोजने गोई, नहीं भावे मोर मन गुरु के बचने, गे साजइन, सुख०।
जीव करे अकबक, चीत न चैने गोई, कब निरखब आवे, साम बरने, गे साजइन, सुख०।
धनि लछिमिनी गुनी रहली भवने गोई, बिधुरल फनी, नी सुकत नयने, गे साजइन, सुख०।
(लछमिन नागपुरी की मीराँ हैं। मीराँ की तरह वे भी विवाह के बाद ही विधवा हो गईं। इनका फगुआ बड़ा प्रसिद्ध है।)

३. (क) कासे कहबुं दुती, बचन, बेकाम गोई, दागा देली, मनमोहन साम गोई, दागा देली।
चारी पहर राति रहली दीपक बारी, नहीं आली प्रभु करली बेहाल गोई, नहीं आली।
× × × × × × × × ×
धनि लछिमिनी गनी समुझि तरुनी पन, गुनि-गुनि प्रभु नयने ढरे लोर गोई, गुनि गुनि।
(ख) अंत के छल बूझि पाली, दागा देली गोई, अन्त के छल०।
× × × × × × × × ×
लुन्दरू कहत निसी, कान्दत नैना भिसी, भजनाथ कने छने भेली, दागा देली गोई, अंत०।

४. तुलना कीजिए—
(क) अम्बा मंजरे मधु मातलएँ रे, तइसने पिया मातलएँ मोर।
जइसने सुलज पनइ उड़इ गेलएँ रे, तइसने पिया उड़लएँ मोर।
जइसने नाग नागिन केंचुर छोड़वलएँ रे, तइसने पिया छुटलएँ मोर।
(ख) पिरती जीव के जंजाल, नेह लागल हो पिरती।
चलत-चलत पंथ, थकित भयल रंथ, बिजु बने भे गेल अंधार, नेह लागल०।
सरगे तो मेहरल राय गोधनिया है, तइसने मेहरे पिया तोर, नेह लागल०।
जइसने जे सरपिनि, केंचुली छोड़ावल, तइसने छोड़ल पिया तोर, नेह लागल०।

वर्गीकरण होने लगता है, तो एक अकारण कठिनाई हो जाती है। डॉ० उदयनारायण तिवारी कहते हैं—"पालामऊ जिले के शेष भाग में तथा समस्त राँची जिले में भोजपुरी का एक विकृत रूप बोला जाता है। इस विकृति का एक कारण तो मगही है, जो इसके पूरब, उत्तर और दक्षिण में बोली जाती है। इसके अतिरिक्त पश्चिम में छत्तीसगढ़ी का प्रभाव पड़ने लगता है। इन दोनों के अतिरिक्त इस विकृति का तीसरा कारण यह भी है कि यहाँ के अनार्य-भाषा-भाषी आदिवासियों की बोली के भी अनेक शब्द यहाँ की भोजपुरी में आ मिले हैं। सच बात तो यह है कि उधर के मूल निवासी 'आस्ट्रिक' (आग्नेय) तथा द्राविड़-भाषा-भाषी थे और बाद में आर्य-भाषा के रूप में इधर भोजपुरी का प्रसार हुआ।........इस विकृत भोजपुरी का नाम नागपुरिया अथवा 'छोटानागपुरी' की बोली है।" हालाँकि वे स्वयं मानते हैं कि वर्त्तमानकाल के क्रिया-रूप हे कौं, हे की; हे किस, हे का; हेके, हे-कें मगही के हैं। और, किसी भाषा में वर्त्तमानकालिक क्रिया-रूप का महत्त्व सर्वोपरि है। 'रउरा' शब्द भी विशेष सहायक नहीं होता; क्योंकि वह भोजपुरी के अतिरिक्त अवधी में भी है। अन्य विशेषताओं पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। वस्तुतः, हजारीबाग तक खाँटी मगही चलती है। रामगढ़ और चतरा से उसका रूप बदलने लगता है। इस दृष्टि से नागपुरी मगही के अत्यन्त निकट है।

एक और बात आश्चर्य में डालनेवाली है। डॉ० तिवारी डॉ० ग्रियर्सन का हवाला देते हुए लिखते हैं—"ग्रियर्सन के अनुसार यहाँ की (राँची के पठार के पूरब की) भाषा नागपुरिया नहीं; अपितु 'पँचपरगनिया' बोली है, जो वस्तुतः मगही का एक रूप है। अन्य विद्वान् इस 'पँचपरगनिया' को भोजपुरी का ही एक रूप मानते हैं। वस्तुतः इस सम्बन्ध में पूर्ण रूप से अनुसंधान की आवश्यकता है।" अनुसंधान की आवश्यकता का विरोध कौन करेगा, पर पँचपरगनिया पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर भी मालूम हो जायगा कि उस पर मगही तथा भोजपुरी का प्रभाव और कम हो जाता है तथा बँगला का किंचित् प्रभाव आ जाता है। इसी मिश्रित नागपुरिया का नाम 'पँचपरगनिया' है। इसके दो उल्लेखनीय जनकवि हुए हैं—विनन्दिया और गौरांगिया। विनन्दिया के गीत विनन्द-सिंह के नाम से भी मिलते हैं। कहा जाता है कि विनन्दसिंह वस्तुतः विनोदसिंह हैं, जो झिल्ली के परमार क्षत्रिय-राजकुल में उत्पन्न हुए थे और गौरांगिया श्रीगौरांगसिंहजी। इनके गीतों का एक संग्रह झिल्ली के राजाबहादुर श्रीउपेन्द्रनाथसिंह देव ने प्रकाशित करवाया है।[1] पुस्तक में पर्याप्त संशोधन की आवश्यकता है, किन्तु फिर भी इसमें संगृहीत पदों से भाषा का पता तो चल ही जायगा।

---

१. भादि झूमर गीत, प्रकाशक—रघुवर प्रकाशन, राँची, पृ० ११९, मूल्य १)। इन्हीं संगीत शास्त्री एवं छोटानागपुर शैली के नाट्य समंज्ञ लेखक की 'छोटानागपुर-नाच-मंजरी' नामक पुस्तक प्रकाशित हो रही है। इसमें, जिसकी पांडुलिपि लेखक ने मुझे दी थी, छोटानागपुर में प्रचलित जदुर, मुड़सौर, डोंगमारी, खरसा, फगुआरी, पाईक आदि नाच-भेदों का वर्णन है।

(क) सुनो गो ओ दुती, आमार विनती
बारे बारे मोर बोलना
प्रेम करियो ना, की गरीब मन माने ना।
से बड़ लम्पट, कुटिल कपट
पिरतीर चरित्र जाने ना
प्रेम करियो ... ...।
परिमुल ताहार परे गून्जी का हार
गौरांगिया भावे भूल ना
प्रेम करियो ना की करीब मन माने ना।

(ख) एमनी करमे मोर लिखले, एमनी करमे मोर लिखले।
××× ××× ×××
केने नाही एक संगे राखिले रे, एमनी करम मोर लिखले।
××× ××× ×××
विनन्द की बाँचे एका थाकिले, एमनी करम मोर लिखले।

हाँ, गौरांगिया की अपेक्षा विनन्दिया की भाषा बिहारी की विशेषताओं को अधिक सुरक्षित रखे हुई है।

संगे गोपीलाल विहरत नन्दलाल।
सेई देखि मन मोहाइला, कौन बने धेनु चराइला।
××× ×××
वनफूल गाँथी पिंधाइला, कौन बने धेनु चराइला।
गेरु धुती रांगा माटी, तिलकेर परिपाटी,
भाल भाल साज कराइला, कौन बने धेनु चराइला।
रीझे रंगे माती गेल, दिन अवसान भेल,
विनन्दसिंह कहाइला, कोन बने धेनु चराइला।

यही पँचपरगनिया है, जिसमें पयार छंद आज भी चलता है,[1] यों तो गीतगोविन्द की परम्परा, जो बिहार में अन्यत्र रुक गई, नागपुरी क्षेत्र में सर्वत्र बनी है, किन्तु पँचपरगनिया में यह परम्परा विशेष रूप से जीवित है। इस क्षेत्र के लोक-गीतों पर बंगाल के कीर्त्तन-पदों का प्रचुर प्रभाव है। विद्यापति, चण्डीदास, सूरदास और मीराँ की परम्परा इस क्षेत्र में बनाये

---

१. मरीवार उपाय, सुन विनोदिनी राय
चल आवो जमुनार कूले
धरा धरी हये गले उच्च स्वरे हरि बोले
झाँप दिब जमुनार जले
मरन हइल सार चोलोगे जमुनार धार
गौरांगिया तजिये पराने
राधे ए छार जीवन की कारने।

रखने का श्रेय चैतन्य महाप्रभु को है, जो दक्षिण यात्रा करते समय इधर पधारे थे। विनोद-सिंह का राजवंश इन्हीं की शिष्य परम्परा में पड़ता है। अठारहवीं शताब्दी में विनोदसिंह हुए थे। सन् १८५७ ई० के लगभग आरा के चौबे-बन्धु इधर वैष्णवधर्म के प्रचारार्थ आये थे।

नागपुरी के गीत मुख्यतः वैष्णवगीत हैं और इनमें राधाकृष्ण का प्रायः किशोर-यौवन ही चित्रित है। यह वैष्णवमत के पूर्वी रूप को ही प्रमाणित करता है।

जैसा हमने ऊपर निवेदन किया है, नागपुरी ने भाषावैज्ञानिकों का विशेष ध्यान आकृष्ट नहीं किया है। इसमें लिखित साहित्य का अभाव तो है ही, पर जो कुछ लिखित है, वह प्रामाणिक नहीं है।

आधुनिक काल में नागपुरी का अध्ययन विदेशियों ने शुरू किया। डॉ० ग्रियर्सन ने बिहार की बोलियों में इसका उल्लेख किया। पादरियों ने इसे ईसाई-धर्म के प्रचार का माध्यम बनाया। रेवरेण्ड एनिड ने 'सन्तमार्ग का सुसमाचार' का नागपुरी में अनुवाद प्रस्तुत किया। डॉ० हिटली 'नागपुरिया सदानी' के प्रथम व्याकरण-लेखक हुए। यह एक छोटी सी पुस्तिका थी। इसके बाद रेवरेण्ड फा० बुकाउट ने सदानी का अपेक्षाकृत बड़ा और पूर्ण व्याकरण लिखा। उन्होंने कुछ सदानी लोक-कथाओं का संग्रह भी किया। रेव० फा० फ्लर ने आसाम के चाय बगानों में काम करनेवालों के लिए सदानी की एक छोटी-सी पोथी बनाई। फा० फ्लर ने 'कोमुनियोंपुथी' और 'सदरी गीत-पुस्तक' भी निकाली। सन् १९१४ ई० में 'कलिकत्ता अकसिलियारी ब्रिटिश ओर फरेन बाइबल सोसाइटी' ने 'नागपूरिया में नया नियमकेर पहिला ग्रन्थ याने मत्तीसे लिखल प्रभु यीशु खृष्टकेर सुसमाचार' तथा 'नागपूरिया में रोमीमनले पावल प्रेरितकेर चिट्ठी' नामक दो पुस्तकें प्रकाशित कीं। पहली देवनागरी-लिपि में और दूसरी कैथी-लिपि में। पहली पुस्तक का एक उदाहरण देखिए—

"जे मन गरीब हैं, से सुखी हैं; काहे कि सरगराइज ओहेमनक हेके। जेमन उदास हैं, से सुखी हैं; काहे कि उमन खातिर पावैं। जेमन नरम हैं, से सुखी हैं काहे कि दुनिया केर अधिकारी होवैं। जेमन धरमकेर भूखे और पियासे हैं, से सुखी हैं काहे कि उमन अघाल जावैं। जेमन दयालु हैं, से सुखी हैं काहे कि उमन के दया करल जावी।"[1]

दूसरी पुस्तक की कुछ पंक्तियाँ हैं—

"अन्त में ए भाईमन, खूस रहा, सुधइर जावा, खातीर होवा, एके दिल रखा, मिलल रहा, तलेक प्रेम और खातिरकेर ईश्वर तोहरे साथे रही। एक दोसर के पवित्र चूमा ले के सलाम कहा। सोब पवित्र तोहरे के सलाम कहत हैं।"[2]

इस प्रकार इन दोनों पुस्तकों की भाषा सरल है, पर इसे ठेठ शायद नहीं कहा जा सकता। इन पुस्तकों का उद्देश्य धर्म-प्रचार था। इसीलिए इनका दाम क्रमशः एक

१. प्रभुयीशु खृष्टकेर सुसमाचार, पृ० १०।
२. रोमीमनले पावल प्रेरितकेर चिट्ठी, पृ० ७७।

पैसा और दो पैसा है। ज्ञातव्य है कि दोनों पुस्तकें डिमाई साइज में छपी हैं। पहली में १०२ पृष्ठ हैं और दूसरी में ७७। हितैषी कार्यालय, बरकन्दाज टोली, चाईबासा ने 'नगपुरिया करमगीत', 'नगपुरिया जनी झूमैर', 'नगपुरिया फगुआ गीत', 'डमकच गीत', 'बियाह गीत', 'नगपुरिया जेवी संगीत', 'नगपुरिया गीत छत्तीस रंग' आदि गीत-संग्रह तथा 'जीनिया कहनी', 'फोगली बुढ़िया कर कहनी', 'नगपुरिया पहिल पोथी' आदि गद्य की पुस्तकें प्रकाशित की हैं। इधर राँची के पादरी पीटर शान्ति नवरंगी ने 'ए सिम्पुल सदानी ग्रामर' तथा 'ए सदानी रीडर' (ठेठ सदानी बोली में कहनी, बातचीत अउर गीत) नामक पुस्तकें लिखी हैं। अंतिम पुस्तक के गद्य की भाषा वस्तुतः ठेठ नागपुरी है, किन्तु यही बात इसके पद्यांश के संबंध में नहीं कही जा सकती। इस पुस्तक में कुछ लोकगीत और कुछ लोक-कथाएँ हैं और कुछ लेखक की रची कविताएँ हैं। नागपुरी लोकगीत के वर्त्तमान गायकों में पाण्डेय वीरेन्द्रनाथ राय का नाम उल्लेखनीय है। इधर आकाशवाणी के राँची केन्द्र की स्थापना तथा उसके निर्देशक श्री सत्यप्रकाश कौशल की सजगता के फलस्वरूप नागपुरी-गीतों को एक नई प्रेरणा मिली है। इसी केन्द्र के लिए विष्णुदत्त साहु वकील ने 'तेतरकेर छाँहें' नामक रेडियो-रूपक लिखा, जो अब बिहार-सरकार के जन-सम्पर्क-विभाग, पटना द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

इधर अनेक व्यक्ति छोटानागपुर की भाषाओं एवं साहित्य के संकलन, सम्पादन तथा समीक्षात्मक विवरण उपस्थित करने का उत्साह दिखला रहे हैं। पर ऐसा उत्साह प्रायः खतरे की सीमा तक पहुँच जाता है। *यदि ऐसे उत्साही सज्जन अपनी सेवा संकलन* तक ही सीमित रखें और केवल प्रशिक्षित विशेषज्ञ ही शोध, समीक्षा एवं सम्पादन का कार्य करें, तो हितकर है।

संताली भाषा और साहित्य

'संताली' हमारे देश के बिहार, बंगाल, उड़ीसा और आसाम में रहनेवाले लगभग ३० लाख संतालों की मातृभाषा है। इनकी आबादी सबसे अधिक बिहार के संताल-परगना जिले में है और यहीं की संताली आदर्श (स्टैण्डर्ड) भी समझी जाती है।

'संताल' शब्द की उत्पत्ति, जहाँ तक मुझे पता है, बंगाल के मेदिनीपुर जिला स्थित 'सिलदा' परगने के एक प्राचीन नाम 'सौंतभूम' (मूलतः 'सामंतभूमि') से हुई है और इसका मूल रूप 'सौंतहोड़' है, जो काल-क्रम से 'सान्ताड़' और 'सान्तरूड़' से 'संताल' बना।[1] इस प्रकार 'संताल' लोगों की भाषा का नाम 'संताली' हुआ। परन्तु संताल लोग साधारणतः आपनों में अपने को 'होड़' और अपनी भाषा संताली को 'होड़ रोड़', अर्थात् 'होड़ लोगों की बोली' भी कहा करते हैं।

भाषा-परिवार

संताली आर्येतर भाषा है। भाषा शास्त्र के कई विद्वानों ने इसे अन्तर-राष्ट्रीय भाषा-क्षेत्र में 'मैलेनोपालिनेशियन' परिवार में रखा है। भारतीय भाषा-क्षेत्र में संताली भाषा-परिवार के लिए कई नाम आये हैं। इसे आस्ट्रिक भाषा भी कहा जाता है। संताली, मुंडारी, हो आदि भाषाओं को सबसे पहले मैक्समूलर ने द्राविड़ी भाषाओं से अलग समझा। परन्तु डॉ० ग्रियर्सन ने इन्हें 'कोल भाषा'-परिवार के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न किया। परन्तु उनका यह नाम चला नहीं। संताल, मुण्डा, हो आदि यहाँ की विभिन्न जन जातियों में, जो वस्तुतः एक ही मूल की हैं, मुण्डा लोगों को विशेष स्थान प्राप्त रहा है। 'मुण्डा' शब्द 'संताल' शब्द की अपेक्षा प्राचीन भी है। इसलिए कुछ विद्वानों ने संताली, मुण्डारी, हो आदि इनकी विभिन्न बोलियों को 'मुण्डा-भाषा-परिवार' की भाषाओं के नाम से निरूपित किया है और मान्यता भी सबसे अधिक इसी नाम को मिली है। हाँ, संतालों का एक मध्ययुगीन नाम 'खेरवार' भी रहा है। अतः कुछ लोग संताली को 'खेरवारी परिवार' की भाषा के नाम से भी मानते और जानते रहे हैं।

ध्वनि-समूह

संताली भाषा की विभिन्न ध्वनियों के लिए देवनागरी के सभी स्वरों—सभी वर्णों और अन्तस्थ व्यंजनों तथा ङ, ञ, ण, ड़, और ं (अनुस्वार)—की आवश्यकता तो है ही,

---

१. 'मार्तण्ड' (वर्ष ३, अङ्क १) में प्रकाशित मेरा लेख 'संताल शब्द की उत्पत्ति' देखें। —लें०

कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं, जिनके लिए एक अर्धविवृत कंठ्य-तालव्य अग्र स्वर, एक अर्धविवृत कंठ्य मध्य स्वर तथा एक अर्धसंवृत कंठ्य-तालव्य अग्र स्वर की भी आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ—आक (ऊव), ओल (लिखना), एंगेर (गाली देना) आदि।[1] इनके सिवा दो ध्वनियाँ और हैं, जिनमें से एक के लिए ह्रस्व इकार और एकार के बीच तथा दूसरे के लिए ह्रस्व उकार और ओकार के बीच एक-एक स्वर की आवश्यकता है; जैसे 'दारि'—'दारे' (पेड़), 'गुडु'—'गोडो' (चूहा) आदि। स्वरों में आ, ए, ऐ, ओ और औ के ह्रस्व उच्चारण भी इस भाषा में मिलते हैं।

संताली में कुछ ऐसी ध्वनियों की भी बहुलता है, जिनके लिए उपर्युक्त स्वरों के सिवा, चार हलन्त व्यंजनों की भी आवश्यकता होती है। वे हैं—क्, च्, त् और प्। इन व्यंजनों के उच्चारण में साँस पहले खींच ली जाती है, तब स्पर्श होता है, फिर स्फोट। ऐसा होता है कि साँस का वेग एकाएक मुँह के भीतर ही रुक जाता है। इस दृष्टि से इन्हें अवरुद्ध व्यंजन भी कहा जा सकता है, परन्तु हैं ये वास्तव में हलंत व्यंजन ही; क्योंकि इनके पश्चात् किसी स्वर-वर्ण का आगम होने पर ये क्रमशः स्व-वर्गीय तृतीय वर्णों में परिणत हो जाते हैं।[2] ये हलत व्यंजन मुख्यतः शब्दों के अन्त में ही आते हैं। सिर्फ 'क्' ही है कि कभी-कभी शब्द के मध्य में भी आता है। उदाहरणार्थ—दाक् (पानी), लाच् (पेट), चुपुत् (मुट्ठी), चाहाप (मुँह बाना), बाक्नाव (बनाना) आदि।

'ङ' और 'ञ' इस भाषा में स्व-वर्गीय वर्णों के साथ संयुक्त रूप में तो आते ही हैं, स्वतन्त्र रूप में भी आते हैं तथा इनके साथ स्वरों का योग भी होता है। 'ञ' तो शब्दों के आदि में भी आता है। यथा—ञाम (पाना), ञिदिर (दीमक), ञुतुम (नाम), ञुत (अँधेरा), ञेल (देखना), तेहेञ (आज), बाङ (नहीं), माराङ (बड़ा है) आदि। इनके सिवा 'न', 'र' और 'ल' की महाप्राण ध्वनियाँ भी संताली में मौजूद हैं, जैसे—नान्हा (पतला), दार्हा (कुएड), कुल्ही (गली) आदि।

संताली में ऐसी ध्वनियाँ प्रायः नहीं ही हैं, जिनके लिए संयुक्त वर्णों की आवश्यकता हो। हाँ, अनुनासिक वर्ण कहीं-कहीं स्व-वर्गीय वर्णों के साथ संयुक्त रूप में अवश्य आते हैं।

व्याकरण

संताली में व्याकरण के विभिन्न पदों के लिए शब्दों के विभिन्न रूप नहीं होते। एक ही शब्द, शब्दार्थ के अनुसार, विभिन्न पदों में व्यवहृत हुआ समझा जाता है। इस प्रकार एक ही शब्द, बिना किसी रूपान्तर के, संज्ञा भी हो सकता है, विशेषण और

---

१. संताली के इन तीनों स्वरों के रूप में हम क्रमशः आकार के नीचे एक बिंदी (ा), ओकार के नीचे एक बिंदी (ो) तथा एकार के ऊपर एक अर्धचन्द्र का (ˇ) प्रयोग करते आ रहे हैं।—लेखक

२. 'धर्मशिक्षा' (वर्ष १, अङ्क ७) में प्रकाशित मेरा लेख 'संताली भाषा' देखें।—लेखक

क्रिया भी। भाववाचक संज्ञाओं की इस भाषा में बड़ी कमी है, सम्भवतः इसलिए कि संताल-मानस स्थूल को छोड़ भाव को ग्रहण करने में अक्षम-सा रहा है।

संताली में लिंग-भेद साधारणतः भिन्न-भिन्न शब्दों से या संज्ञाओं में नर और मादावाचक शब्दों के योग से होता है। मनुष्य और गोवंशवाचक शब्दों को छोड़ अन्यान्य संज्ञाओं में साधारणतः दोनों लिंगों में एक ही शब्द आता है। परन्तु, इस भाषा में चेतन और अचेतन का भेद अवश्य है। प्रत्येक वाक्य में, अपने-अपने प्रत्यय-रूप में, प्रत्येक चेतनकर्त्ता और कर्म का आना अनिवार्य है। लिंग-भेद के कारण इस भाषा के सर्वनामों, विभक्तियों और क्रियारूपों में कोई विकार नहीं होता, परन्तु चेतन-अचेतन के कारण अवश्य होता है। जीवधारियों के अतिरिक्त देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों, चित्र-मूर्त्तियों, ग्रह-नक्षत्रों, चाँद-तारों और प्राकृतिक शक्तियों को संताली में चेतन समझा जाता है।

वचन इस भाषा में तीन हैं—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। द्विवचन का प्रत्यय 'किन' और बहुवचन का 'को' है, परन्तु इनके कारण शब्द-रूपों में कोई विकार नहीं होता। अचेतन संज्ञाओं में तो साधारणतः इनकी अपेक्षा भी नहीं है।

संताली में पुरुषवाचक सर्वनाम निम्नलिखित हैं—इञ (मैं), आलाङ, आलिञ (हम दोनों), आबो (न), आलें (हमलोग), आम (तू), आबेन (तुम दोनों), आपें (तुम लोग), उनी (वह), उनकिन (वे दोनों), ओनको (वे लोग)। द्विवचन और बहुवचन में उत्तम पुरुष सर्वनाम के दो-दो रूप हैं—एक में वाचक के साथ वाच्य भी शामिल रहता है, दूसरे में वह शामिल नहीं रहता। उदाहरण के लिए 'आलाङ' (द्वि० व०) और 'आबो' (ब० व०) में वह शामिल है, परन्तु 'आलिञ' (द्वि० व०) और 'आलें' (ब० व०) में नहीं।

अन्यपुरुष में एक निजवाचक सर्वनाम भी है—'आच्' (आप), जिसके रूप द्विवचन में 'आकिन' और बहुवचन में 'आको' हैं।

अन्यान्य सर्वनामों में चेतन और अचेतन दोनों के लिए भिन्न-भिन्न शब्द हैं। यथा—चेत् ओकोय (कौन ?, चे०); ओका (कौन सा ?, अचे०), चेले (क्या ?, चे०), (क्या ?, अचे०); नुई (यह, चे०), नोआ (यह, अचे०); जाहाँय (कोई, चे०), जाहाँ (कुछ, अचे०) आदि। इस भाषा में सम्बन्धवाचक सर्वनाम कोई नहीं है; उसकी आवश्यकता की पूर्त्ति प्रश्नवाचक सर्वनाम से ही होती है। संताली में निश्चयवाचक सर्वनाम अनेक हैं, पर उनके भेद मुख्यतः तीन हैं—निकटवर्त्ती (नुई—यह), दूरवर्त्ती (उनी—वह) और अधिक दूरवर्त्ती (हानी—वह)। 'उनी' और 'हानी' के अचेतन-रूप क्रमशः 'ओना' और 'हाना' हैं।

संताली में, पुरुष और वचन के अनुसार, प्रत्येक चेतन सर्वनाम के एक-एक कर्त्ता और कर्म प्रत्यय भी होते हैं; कर्तृ प्रत्यय वाक्य में क्रियापद के पहले या पीछे आता है,

कर्म प्रत्यय उसके बीच। एक प्रकार से संताली के ये दोनों सार्वनामिक प्रत्यय ही हिन्दी के 'ने' और 'को' का काम करते हैं; क्योंकि कर्त्ता और कर्म के लिए संताली में कोई कारक-चिह्न या विभक्ति नहीं है।

इस भाषा में आदर के लिए कोई अलग सर्वनाम या शब्द नहीं है और न आदर के लिए किसी दूसरी शब्दावली का व्यवहार ही होता है। हाँ, सास-ससुर और जमाई या पुत्रवधू के बीच, दोनों ओर से, एकवचन में भी उत्तम और मध्यम पुरुष के द्विवचन-रूपों का व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार समधी लोग परस्पर एकवचन मे भी बहुवचन का व्यवहार करते हैं।

संताली में कारक के कारण शब्द के रूप में कोई विकार नहीं होता। विभिन्न कारकों का बोध इस भाषा की विभिन्न विभक्तियों से होता है, जिनमे से मुख्य ये हैं—तेँ (से), ठेँन (से, के पास), लागित् (के लिए); रेँन, रेयाक्, रेयाड, -आक्, -आड (का, के, की); खोन, खोच् (से), रेँ (में, पर) आदि। रेँन (का, के, की) सिर्फ चेतन संबंधियों के लिए आता है। कर्त्ता और कर्मकारक मे, जैसा कहा जा चुका है, संताली में कोई विभक्ति नहीं है।

एक से दस तक की सख्याओं के लिए इस भाषा में अपने शब्द हैं—मित्, बार, पेँ, पोन, मोंड़े, तुरुई, एयाय, इराल, आरेँ और गेँल। इनके क्रमवाचक, आवृत्ति-वाचक, समूहवाचक आदि रूप भी विद्यमान हैं। बीस के लिए इस भाषा में 'इसी' (कोरी) शब्द है; परन्तु इससे ऊपर की संख्याओं के लिए कोई शब्द नहीं है। दस से ऊपर की गिनती दस या बीस की ईकाई से होती है; जैसे—'गेँल-मित्' (११), 'गेँल बार' (१२), 'मित् इसी मित्' या 'बार गेँल मित्' (२१) आदि। 'डेढ़', 'ढाई', 'पौने' आदि अपूर्णाङ्क तथा 'सौ', 'हजार', 'लाख' आदि बड़ी संख्याओं के लिए इस भाषा में हिन्दी के शब्दों का ही व्यवहार किया जाता है।

संताली में क्रियापद ही मुख्य होता है; ऐसा कि कभी कभी पूरे का पूरा वाक्य एक ही क्रियापद में आ जाता है। इस दृष्टि से यह भाषा योगात्मक प्रश्लिष्ट है, यों यह मुख्यतः योगात्मक अश्लिष्ट ही है। संताली के प्रत्येक क्रियापद की रचना साधारणतः निम्नलिखित रूप में होती है—

धातु + काल – प्रत्यय + कर्म – प्रत्यय (यदि हो तो) + संबंध – प्रत्यय (यदि हो तो) + समापिक 'आ' + कर्त्तृ – प्रत्यय (यदि क्रियापद के पूर्व न आया हो तो)। उदाहरण के लिए—(सेता) गोच् के देता माय = (सेता) गोच् + केत् + ए + ताम + आ + य = (कुत्ते) मार दे + इया + को + तुम्हारे + (।) + उसने = उसने तुम्हारे कुत्ते को मार दिया।

संताली में हिन्दी, बँगला आदि से भी अधिक काल-भेद हैं। जिस प्रकार इस भाषा में कोई भी शब्द क्रिया की तरह व्यवहृत हो सकता है, उसी प्रकार कोई भी धातु अकर्मक या सकर्मक हो सकता है; भेद सिर्फ काल प्रत्ययों में ही है, धातुओं में नहीं। जैसे—गोच् एनाय (वह मर गया), गोच् के-देयाय (उसने उसे मार दिया) आदि।

धातु के मध्य में, उसके स्वरयुक्त व्यञ्जनाक्षर के बाद, उसी स्वरयुक्त-'प'-के आगम से इस भाषा में पारस्परिक धातु बनता है; जैसे—दल् (मारना), दापल् (एक दूसरे को मारना); रेन् (छीनना); रेपेन् (छीना झपटी करना) आदि। वाच्य इसमें तीन हैं—कर्तृ, कर्म और कर्मकर्तृ वाच्य। धातु में 'ओचो' के योग से प्रेरणार्थक और अनुमति-सूचक क्रियाएँ बनती हैं।

अव्ययों और अनुकरणवाचक शब्दों की संताली में बहुलता है, जिनसे भावों की सूक्ष्म से सूक्ष्म अभिव्यक्ति में चार चाँद लग जाते हैं।

पर्यायवाचक और अनेकार्थक शब्द भी इस भाषा में विद्यमान हैं, पर अधिक नहीं। समता के साथ उतार-चढ़ाव इस भाषा का सौंदर्य है। पद्यात्मक भाषा अपेक्षाकृत ललित और आकर्षक होती है; गद्य के 'तिनाक्' (कितना) और 'उनाक्' (उतना)-जैसे कठोर शब्द साधारणतः पद्य में 'तिमिन' और 'उमिन'-जैसे कोमल शब्द बन जाते हैं। इस भाषा में कभी-कभी एक ही अर्थ में, अलग-अलग स्थितियों के लिए, अलग-अलग शब्द आते हैं; यथा—'बैठना' के अर्थ में मनुष्यों के लिए 'दुड़ुप्', परंतु पशुओं के लिए 'बुरुम' और पक्षियों के लिए 'आप्' शब्द हैं।

शब्दावली

संताली शब्दावली का अध्ययन ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय आदि कई दृष्टियों से किया जा सकता है। प्रत्येक में अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों के संधान की संभावनाएँ हैं।

संताली लोक-वार्त्ता के अनुसार सर्वप्रथम यह सम्पूर्ण सृष्टि जलमय थी। बाद में 'ठाकुर' के आदेश से केंचुए ने कछुए की पीठ पर, अतल से मिट्टी उठाकर, पृथ्वी को खड़ा किया। संताली में जल, केंचुआ, कछुआ और पृथ्वी के लिए क्रमशः 'दाक्', 'लेंडेत्', 'होरो' और 'ओत' शब्द हैं। संभवतः उसी 'होरो' से संताली का मनुष्यवाची 'होड़' शब्द बना है।

प्रारंभ में संतालों का संसार छोटा था। आहार, निद्रा और भय में ही उनका समय बीतता था। पृथ्वी और प्रकृति की उन्मुक्त गोद में उनका विचरण होता था। फलतः उनकी भाषा की मूल शब्दावली में वन-पर्वतों, पेड़-पौधों, फल-मूलों, पशु-पक्षियों आदि की संज्ञाओं एवं तत्संबंधी क्रियाओं का स्थान ही प्रमुख रहा। बिर (वन), बुरू (पहाड़), धिरी (पत्थर), गाडा (नदी), कुल (सिंह), तारूप् (बाघ), बाना (भालू), मिरू (तोता), उल (आम), तेरेल (केंद), मात् (बाँस) आदि इसके उदाहरण-स्वरूप हैं। इसी प्रसंग में यह भी जान लेना आवश्यक है कि सर्वनामों, एक से दस तक की संख्याओं, सगे-संबंधियों, मन के विभिन्न रागों तथा खाना, पीना, सोना, जागना आदि सामान्य क्रियाओं के लिए संताली की अपनी मौलिक शब्दावली है। उदाहरण-स्वरूप—एंगा (माँ), आपा (बाप), बोयहा (भाई), मिसएरा (बहन), एदरे (क्रोध), बोतोर (भय), जोम (खाना), नू (पीना) आदि।

इससे आगे ज्यों-ज्यों समाज का विकास होता गया, भारतीय आर्यों के साथ संतालों के पूर्वजों का संसर्ग बढ़ता गया और दोनों ओर से शब्दावली का आदान-प्रदान हुआ। 'आग' और 'आग में किसी चीज को भुनने' के साथ साथ 'संगेल' (आग) और 'राराक्' (भुनना)-जैसे शब्दों को तो संतालों के पूर्वजों ने कालक्रम से स्वयं सीख लिया था, परंतु आग जलाने' और किसी चीज को 'पकाने' या 'उसिनने' का ज्ञान संभवतः भारतीय आर्यों से ही उन्हें प्राप्त हुआ। संताली के 'जॉल' (आग जलाना), 'इसिन' (पकाना, उसिनना) आदि शब्द इस कथन की पुष्टि में सहायक हैं। उसी प्रकार, संताली में, विभिन्न आकार-प्रकार के पत्तों के दोनों तथा मिट्टी के बरतनों से संबंधित अनेक मौलिक शब्द हैं; परंतु 'थारी' (थाल), 'बाटी' (कटोरा), 'लोटा' (लोटा) आदि विभिन्न धातुओं के बरतनों के नाम-संबंधी शब्द मुलतः ऋण के हैं। धातुओं में से सिर्फ 'लोहे' के लिए संताली को अपना (मेंड़हेंत) शब्द है; बाकी धातुओं के नाम संस्कृत या हिंदी से उसमें आये हैं।

संतालों का मूल पहनावा कमर में लपेटा जानेवाला एक वस्त्र-खंड है—पुरुषों के लिए 'पंची' और स्त्रियों के लिए 'पारहौड़'। 'धुती', 'साड़ी', 'पिछौड़ी' (चादर), 'आगरोप' (अंगरखा) आदि को तो इन्होंने बाद में अपने पड़ोसियों से लिया है। अतः इनकी संज्ञाएँ भी ऋण की हैं। संताली के 'कास कोम' (कपास), 'तुलाम' (तुला, रूई) 'सुताम' (सूत) आदि शब्द भी भारतीय आर्यभाषाओं से ही इसमें आये हैं। 'खाट' को संताली में 'पारकोम' कहते हैं। निश्चय ही यह शब्द 'पर्यङ्कम्' से बना है।

यद्यपि संतालों का जातीय इतिहास युगों से उपेक्षा के अन्धकार में रहा है, तथापि इतना तो स्पष्ट ही है कि इनके पूर्वजों का निकट सम्पर्क भारतीय आर्यों के साथ रहता आया है और उसी प्रसंग में उन्होंने कृषि, गो-पालन आदि में प्रवेश पाया है। यही कारण है कि इन विषयों की अधिकांश शब्दावली भारतीय आर्य-भाषाओं से ही सम्बन्ध रखती है। उदाहरण के लिए—'खेत' (क्षेत्र), 'सी' (जोतना), 'नाहेल' (लागल, हल), 'दातरोम' (दात्रम्, हँसिया), 'बुसुप्' (बुसम्, पुआल), 'जाव' (जव), 'गुहुम' (गेहूँ), 'चावले' (चावल) आदि।

परन्तु 'गाँव' के अर्थ में संताली में 'आतो' (मुंडारी में 'हातो') शब्द है, जिसका कोई संबंध आर्य-भाषाओं के किसी शब्द से नहीं दीख पड़ता। संभवतः संतालों में ग्राम-रचना की कल्पना मौलिक रूप से विद्यमान रही है। हाँ, 'शहर' के अर्थ में संताली को कोई अपना शब्द नहीं है। 'देश' के अर्थ में इस भाषा में 'दिसोम' शब्द प्रचलित है। वस्तुतः अपने आस-पास बीस-तीस कोसों तक विस्तृत भूभाग ही संतालों का 'दिसोम' होता है। संभवतः इसीलिए 'भारतवर्ष' के लिए उनकी भाषा में अपना कोई नाम नहीं है।

ऋण, उधार, सूद, महाजन आदि के लिए संताली में क्रमशः 'रिन', 'धार', 'सुद', 'महाजन' आदि शब्द हैं। स्पष्ट है कि ये शब्द ऋण के हैं। संभव है, संतालों में मूलतः ऋणदान की कोई प्रथा नहीं थी। इसी प्रकार 'भिक्षा' और 'दान', 'धनी'

और 'निर्धन', 'मालिक' और 'नौकर' के लिए भी संताली को अपना कोई शब्द नहीं है, जिससे पता चलता है कि इनके समाज में समानता का बहुत अधिक भाव रहा है।

विभिन्न जातीय संस्कारों के संबंध में इस भाषा में 'नारता' (छुट्टी), 'बापला' (विवाह), 'भाण्डान' (श्राद्ध) आदि अपने शब्द हैं। परंतु शिक्षा, साहित्य, कला, विज्ञान, वाणिज्य, राजनीति आदि विषयों के शब्द इसमें शायद ही कोई अपने हों। वस्तुतः इन विषयों की शब्दावली संस्कृत, हिन्दी, बँगला आदि भाषाओं से इसमें आई हैं, आ रही है।

लोक-साहित्य

संताली का लिखित साहित्य अभी अपनी शैशवावस्था में है, परन्तु इसका लोक-साहित्य काफी सम्पन्न है। लोक-गीतों, लोक-कथाओं, लोकोक्तियों और पहेलियों के रूप में संतालों ने आज तक अपने पूर्वजों की थाती को जिस खूबी के साथ सुरक्षित रखा है, वह वास्तव में गौरव की वस्तु है। हर्ष की बात है कि इधर कुछ दिनों से संताली लोक-साहित्य-संग्रह की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ है। सुना है कि विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्त्वावधान में विगत तीन-चार वर्षों में इस दिशा में बहुत-कुछ काम भी हुआ और हो रहा है।

लोक-गीत—संतालों का जातीय जीवन गीतों से पूर्ण है। गीत इनकी संस्कृति की वह अमूल्य सम्पत्ति हैं, जो इन्हें अपनी संघर्षपूर्ण जीवन-यात्रा में हँसते-खेलते निरंतर आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा देते रहे हैं। इनके लोक-गीतों में वह जादू है, जिसके बल पर ये अपने जीवन की क्रूर विभीषिकाओं के साथ दिन-रात खिलवाड़-से करते हुए अपने होठों पर सहज-सुलभ मुसकान और हृदय में अल्हड़ उन्माद-सा लेकर, युगों की उपेक्षा एवं बुभुक्षा को छूमंतर करते आये हैं।

प्रकृति के साथ पृथ्वी-पुत्र संतालों का सदा से घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। कौन फूल कब खिलता है, किस पेड़ में कब फल लगते हैं, किस ऋतु में किस पक्षी का आगमन होता है, किस पेड़ की छाया कितनी सुखदायक है, किस झरने की झर-झर में किसका स्वर मुखरित हो रहा है आदि बातों के साथ संतालों की अपनी अनुभूतियों एवं कल्पनाओं का सीधा सम्बन्ध है। पृथ्वी के विभिन्न रूप-रस-गंधपूर्ण पेड़-पौधों, लता-द्रुमों, फल-फूलों, पशु-पक्षियों, झरनों और नदियों के गुणों एवं क्रिया-कलापों के साथ मानव-जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का ऐसा सुन्दर सामञ्जस्य संताली लोक-गीतों में स्थापित किया गया है कि देखते ही बन पड़ता है। उदाहरण के लिए एक छोटा-सा गीत लें—

कूम्हीं मुचात् रे बाड़े दारे,
जोंरो जोंरो काने धांग जोंरो सेन।
ओने ओनका गे आलों मिमरा,
दांहो दांहो काने बाको दाक् हो॥ (दांङ)

अर्थात्, गाँव की गली के छोर पर जो बड़ का पेड़ है, उसकी बरोह जमीन तक आते-आते रुक गई, जमीन तक पहुँची नहीं। गाँव के प्रेमी भी वैसे ही होते हैं, वे जीवन-संगिनी के रूप में अपनी प्रेमिका को ग्रहण करने की बात तो करते हैं, पर उसे अन्त तक निभाते नहीं, बीच में ही अपना हाथ खींच लेते हैं।

एक साधारण-सी वस्तु को लेकर जीवन के कितने बड़े सत्य का सहज उद्‌घाटन किया गया है—यह बात वे ही अच्छी तरह जान सकते हैं, जिन्हें संताल-समाज को निकट से देखने का मौका मिला हो।

संतालों का प्राचीन इतिहास अंधकार मे है। ऐसी दशा में इनके लोक-गीत और लोक-कथाएँ ही कुछ ऐसे साधन हैं, जिनके आधार पर उस पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला जा सकता है। इनकी लोक-कथाओं के अनुसार पृथ्वी पर प्रथम मानव दम्पति का जन्म, पूर्व की ओर, समुद्र में 'हाँस-हाँसिल' नाम के दो पक्षियों से हुआ। उन पक्षियों ने 'पूर्व से पश्चिम की ओर उड़कर', उस मानव-दम्पति को समुद्र से उठाकर, किसी स्थल-प्रदेश में ला रखा।[1] इनके एक प्राचीन लोक-गीत में कहा गया है कि "हिहिड़ी-पिपिड़ी" में हमारा जन्म हुआ, 'खोज कमान' में हमारी खोज हुई, 'हराता' में हमारी वंशवृद्धि हुई और 'सासाङ बेड़ा' में हमारा जाति-विभाजन हुआ।" 'हिहिड़ी-पिपिड़ी' से 'सासाङ बेड़ा' तक के चारों स्थान कहाँ थे या कहाँ हैं—इस संबंध में अबतक कोई निश्चित मत नहीं है। नृतत्त्व-शास्त्र के विद्वान् रक्त, नाक, कपाल, भाषा आदि के परीक्षणों के आधार पर संतालों के आदि-देश का पता लगाने का यत्न करते हैं। उन्हें संताली लोक-साहित्य की इन वस्तुओं से भी सहायता मिल सकती है।

'हिहिड़ी-पिपिड़ी' आदि के बाद संताली लोक-वार्त्ताओं में क्रमशः 'जर्पी-दिसोम' (सिन्न दुआर, बाहीं दुआर), 'आयरे दिसोम', 'कायण्डे दिसोम', 'चाय दिसोम', 'चंपा दिसोम', 'तोदे पुखुरी', 'बाहा बादेला', 'जोना जोसपुर', 'खासपाल बेलाँचंजा', 'सिर दिसोम', 'सिखर दिसोम, 'नागपुर', 'साँत दिसोम' और 'संताल परगना' का उल्लेख है। कहा जाता है कि अपनी यात्रा के क्रम में संतालों को किसी समय 'सिन्न-दुआर' और 'बाहीं दुआर' नाम की दो घाटियों से गुजरना पड़ा था तथा 'चाय-चंपा' का समय उनका स्वर्ण-काल था। यहाँ उनका अपना राज-पाट भी था। आज भी उस 'चाय-चँपा' की मधुर स्मृति संतालों के जीवन में संजीवनी का संचार किया करती है।

साहित्य, धर्म और राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी संताली लोक-गीतों में वे सारी वस्तुएँ उपलब्ध हैं, जिनकी अपेक्षा किसी भी समृद्ध लोक-साहित्य मे की जा सकती है। काव्य के सभी तत्त्व उनमें विद्यमान हैं। प्रेम और सौंदर्य, काम और मनोविज्ञान, दाम्पत्य और गार्हस्थ्य, कर्म और जीवन, धर्म और सांस्कृतिक आदर्शों के अनूठे भावों से इनके लोक-गीत

---

१. 'विशाल भारत' (नवम्बर, १९४६) में प्रकाशित मेरा लेख 'संताल और उनकी परम्परा' देखें। —ले०

अलंकृत हैं। शृंगार, हास्य, करुण और शान्त रसों की उनमें प्रमुखता है, जिनमें से शृंगार को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। कहीं-कहीं विभिन्न अलंकारों का भी बड़ा ही सम्यक् नियोजन हुआ है। एक उदाहरण लीजिए—

कुँआरी मेनते—
छड़वी कुड़ीइज आवाना।
हाय रे कोपालतिज, हायरे नुसीबतिज!
वेले सिंजो मेनते रापाक् सिजोइज हातावाना!

अर्थात्, क्वाँरी समझकर मैंने परित्यक्ता कन्या से विवाह कर लिया! धिक्कार मेरे भाग्य को, धिक्कार मेरे प्रारब्ध को! पका बेल समझकर मैंने पकाया बेल उठा लिया!!

पके बेल की उपमा क्वाँरी कन्या से और पकाये बेल की परित्यक्ता से! क्या खूब!! शरीर और प्राण के बारे में एक संताली लोक-गीत इस प्रकार है—

होय जिवी हो, हासा होड़मो;
हेसाक् साकाम लेका हिपिड़-हिपिड़।
सारू साकामदाक् लेका जिरे मा ठोल-ठोल।
नोया सेताक् सिसिर याड ताहेना!!

अर्थात्, ये प्राण क्या हैं? हवा हैं; शरीर क्या है? मिट्टी है। पीपल के पत्तों-से डोलनेवाले ये प्राण! अरई के पत्तों पर पड़े जल-कणों की तरह ये ढुलक पड़नेवाले हैं। ये प्रातःकालीन शिशिर की नाईं क्षणभंगुर हैं।

हमारे देश के राष्ट्रीय आंदोलन में भी संतालों का अत्यधिक हाथ रहा है। विदेशी शासन के विरुद्ध क्रांति की पहली लहर सबसे पहले सन् १८५५ ई० में संतालों के ही बीच उठी, जो इतिहास के पन्नों में 'संताल-विद्रोह' के नाम से विख्यात है। पीछे, अँगरेजों के दमन-चक्र में पड़कर, संतालों की क्रांति की उक्त लहर ने अहिंसक 'खेरवार-आंदोलन' का रूप धारण किया, जो अंत तक हमारे देश के राष्ट्रीय आंदोलन को बल देता रहा। इस प्रकार महात्मा गांधी के व्यक्तित्व एवं नेतृत्व ने संताल-मानस को भी कम प्रभावित नहीं किया है। यही कारण है कि संताली लोक-गीतों में स्वराज्य तथा गांधी और नेहरू बाबा की प्रशस्ति के स्वर कम नहीं सुनाई पड़ते। एक लोक-गीत में दोनों को राष्ट्ररूपी विशाल भवन के दो प्रमुख खंभों के रूप में चित्रित किया गया है और आशा की गई है कि उनसे ही देश का उद्धार होगा।

लोक-कथाएँ—लोक-कथाओं के क्षेत्र में भी संताली लोक-साहित्य काफी सम्पन्न है। इनकी लोक-कथाएँ मुख्यतः सृष्टि की रचना, समाज में प्रचलित विभिन्न मान्यताओं, भूत-प्रेत, पशु-पक्षियों, इनके विभिन्न गोत्रों की उत्पत्ति आदि बातों से सम्बन्ध रखती हैं। जिस प्रकार विविध [illegible] समाज के समादृत अंग हैं, उसी प्रकार इनकी लोक-कथाएँ इनके अस्तित्व एवं समाज के विकास के सही दर्पण हैं। सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई, मनुष्य का जन्म कैसे हुआ, किस भूत या देवता का आशीर्वाद कैसे हुआ,

समाज की कौन सी मान्यता कब स्थापित हुई आदि के सम्बन्ध में इनकी लोक-कथाओं में प्रचुर सामग्री बिखरी पड़ी है।

परन्तु संताली लोक-गीतों में जैसे वीर-गाथाओं का अभाव है, वैसे ही इनकी लोक-कथाओं में वीर-चरित्रों का उल्लेख नगण्य-सा है। सिर्फ 'माधोसिंग', 'मलुआ विजय' और 'कपि करान'-जैसे दो ही तीन चरित्र ऐसे हैं, जिनके सम्बन्ध में यत्किंचित् वीर-भाव है। माधोसिंग (माधोसिंह!) के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह एक वर्ण-संकर दासी पुत्र था, जो अपने बल, बुद्धि और पराक्रम से संतालों के 'किसकू' राजा का मन्त्री बन बैठा! परन्तु वर्ण-संकर होने के कारण उसे कोई अपनी कन्या देने को तैयार नहीं था। ऐसी दशा में उसने बलात् अपने राजा की कन्या से विवाह करना चाहा। अतः राजा-प्रजा-सहित सभी संताल, उसके भय से, अपनी स्वर्ण-भूमि 'चाय-चंपा' को छोड़कर एक दिन रातों-रात कहीं भाग गये। उसके बाद माधोसिंग का कोई पता नहीं चला।

'मलुआ विजय' और 'कपि करान' के बारे में कथा है कि जब यायावर संताल 'सिरदुआर' और 'बाईं दुआर' नाम की घाटियों में पहुँचे, उनकी राह 'पत्थर की किवाड़ों' से बन्द मिली। उस समय उन्हीं दोनों वीरों में अपने-अपने धनुषों की नोकों से उन किवाड़ों को हटाकर राहें बनाईं; जिनसे होकर संतालों का दल आगे बढ़ा!

संताली लोक-गीतों एवं लोक-कथाओं में 'चाय-चम्पा' में संतालों के आपसी संघर्ष का भी उल्लेख है।

पशु-पक्षी-सम्बन्धी कथाओं में बाघ, सिंह और सियार-सम्बन्धी कथाओं की अधिकता है। सियार को तो, अन्यान्य भाषाओं के लोक-साहित्य की तरह, यहाँ भी चातुरी और धूर्तता के प्रतीक के रूप में चित्रित किया गया है। सामान्य कथाओं में से अधिकांश प्रेमी-प्रेमिकाओं से सम्बन्ध रखती हैं। मूर्खता-सम्बन्धी कथाओं की भी प्रचुरता है, जिनमें हास्य के तत्त्व अधिक हैं।

लोकोक्तियों एवं पहेलियों के रूप में भी संतालों में लोक-साहित्य की अत्यधिक सामग्री बिखरी पड़ी है। इनकी लोकोक्तियाँ और पहेलियाँ बड़ी अनुभूतिपूर्ण और सटीक होती हैं। एक संताली लोकोक्ति में कहा गया है—'हरम्‌ एरा [illegible] लिकिक, [illegible] खक् था'—अर्थात् 'सौतिया डाह अलकुशी की खुजलाहट है, जो कहीं नहीं जाता।' वास्तव में, कितनी अनुभूतिपूर्ण है संतालों की यह उक्ति।

लिखित साहित्य[1]

कहा जा चुका है कि संताली का लिखित साहित्य अभी अपनी शैशवावस्था में है। कारण यह है कि संतालों में शिक्षा का प्रसार आज से ५०-६० वर्ष पूर्व कभी नहीं हुआ। सम्भवतः आज से सौ वर्ष पहले संतालों में कभी कुछ लिखा-पढ़ा भी गया है या नहीं,

---

१. 'प्रकाश' (साप्ताहिक) वर्ष १, अंक १० में प्रकाशित मेरा लेख 'संताली भाषा और उसका साहित्य' देखें। —ले०

इसका कोई पता नहीं है। ऐसी दशा में श्रीपी० श्रो० बोडिंग की यह बात मान लेने को बाध्य होना पड़ता है कि संताली भाषा या उसके बारे में सबसे पहले जिन्होंने कुछ लिखा, वे थे श्रीजेरेमिया फिलिप्स नाम के एक पादरी साहब। उन्होंने सन् १८५२ ई० में 'एन इंट्रोडक्शन टू दि संताल लैंग्वेज' नाम की पुस्तक लिखी। मुझे अब तक वह पुस्तक देखने का मौका नहीं मिला है, परन्तु बोडिंग साहब के कथनानुसार फिलिप्स साहब ने उस पुस्तक में संताली के लिए बँगला लिपि का व्यवहार किया है।

कोष और व्याकरण—सन् १८५५-५६ ई० में विदेशी शासन के विरुद्ध संतालों की जो सशस्त्र क्रान्ति हुई, उसके बाद ही इनके बीच ईसाई मिशनरियों का प्रवेश होने लगा। उन्होंने इनमें अपने धर्म के प्रचार के लिए संताली सीखना शुरू किया और व्याकरण तथा शब्दकोषों के निर्माण में हाथ लगाये। फलतः सन् १८६८ ई० में श्रीई० एल्० पक्सले नाम के एक दूसरे पादरी साहब ने 'ए वोकेब्युलरी ऑफ् दि संताली लैंग्वेज' तथा सन् १८७३ ई० में श्रीएल० श्रो० स्क्रेफसरुड नाम के एक तीसरे पादरी साहब ने 'ए ग्रामर ऑफ् दि संताल लैंग्वेज' नामकी पुस्तकें लिखीं, जिनमें संताली के लिए रोमन-लिपि का व्यवहार किया गया। बात यह थी कि उन्हें तो संतालों के लिए कुछ लिखना था नहीं, लिखना था तो अपने ही लोगों के लिए, ताकि वे आसानी से संताली सीख सकें। ऐसी दशा में उन्हें संताली में रोमन-लिपि के व्यवहार में ही सुविधा थी। इस प्रकार सन् १८६६ ई० में प्रकाशित कैम्पबेल साहब के 'संताली-इंगलिश एण्ड इंगलिश-संताली' शब्दकोष, सन् १६२६ ई० में प्रकाशित बोडिंग साहब के 'मैटिरियल्स फॉर ए संताली ग्रामर' तथा 'ए संताल डिक्शनरी' एवं सन् १६४७ ई० में प्रकाशित मैकफेल साहब के 'एन इन्ट्रोडक्शन टू संताली' आदि अँगरेजी की पुस्तकों में भी संताली के लिए रोमन-लिपि का ही व्यवहार किया जाता रहा। हाँ, संताली व्याकरण और शब्दकोष के निर्माण में संताली के लिए रोमन-लिपि के व्यवहार की परम्परा तब टूटी, जब देवनागरी में सन् १६५१ ई० में इन पंक्तियों के लेखक द्वारा लिखित 'संताली-प्रवेशिका' तथा श्रीकेवल सोरेन आदि द्वारा संकलित एक छोटे-से हिन्दी-संताली-कोष का प्रकाशन हुआ।

परन्तु सच पूछें तो, उपर्युक्त व्याकरणों एवं शब्दकोषों को अँगरेजी या हिन्दी-साहित्य की सम्पत्ति ही कहा जायगा, संताली-साहित्य की नहीं।

संताली की सबसे पहली पुस्तक, जहाँ तक हमें ज्ञात है, 'होड़ को रेन मारे हापड़ाम को रेयाक् काथा', रोमन-लिपि में, पहली बार सन् १८८७ ई० में ईसाई मिशनरियों द्वारा प्रकाशित की गई। कहते हैं, उसे श्रीस्क्रेफसरुड साहब ने 'कल्याण' नाम के एक बूढ़े संताल से सुनकर लिपिबद्ध किया है। उसमें संतालों की परम्परा एवं रीति-रिवाजों की अच्छी झाँकी है। उसके बाद दस-पन्द्रह वर्षों तक संताली की कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई। परन्तु बीसवीं सदी के प्रथम २५ वर्षों में इस भाषा में दर्जनों पुस्तकें लिखी गईं, यद्यपि प्रायः सभी ईसाई धर्म-सम्बन्धी ही थीं। बोडिंग साहब-कृत बाईबिल का अनुवाद एवं तत्सम्बन्धी दो-एक-गीत-संग्रह भी प्रकाशित किये गये। कहना न होगा कि उन्हें अपनी मातृभाषा में देखकर संतालों का उनकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था।

इसी बीच संताल परगने के कतिपय प्राइमरी स्कूलों में संताली भी पढ़ाई जाने लगी। उस समय तक विदेशी मिशनरियों के पाँव यहाँ जम चुके थे। फलस्वरूप, हण्टर-कमीशन के तीव्र विरोध के बावजूद, उन स्कूलों के लिए रोमन-लिपि में लिखी संताली की पुस्तकें ही मंजूर कर ली गईं, जो लगभग सन् १६४०-४१ ई० तक चलती रहीं। सन् १६४१ ई० में बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रोत्साहन से इन पंक्तियों के लेखक ने संताली की दो-तीन रीडरें देवनागरी में लिखीं, जो सम्मेलन द्वारा प्रकाशित हुईं। श्रीगोपाल लाल वर्मा ने भी उसी वर्ष संताली की कई रीडरें देवनागरी में लिखवाईं, जो बाद में, संताली प्राइमरी स्कूलों में पढ़ाई जाने लगीं।

रोमन-लिपि में ही बोडिंग साहब द्वारा संगृहीत संताली लोक-कथाओं की एक छोटी-सी पुस्तक, 'होड़ काहनीको', सन् १६२४ ई० में प्रकाशित हुई। फिर सन् १६३० ई० में श्रीसी० एन्० कुमार नामक एक संताल पादरी-लिखित 'संताल परगना, संताल आर पहाड़ियाको-याक् इतिहास' नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई। उसमें संताल परगना, संताल और पहाड़िया लोगों का संक्षिप्त इतिहास है।

काव्य—संताली में अबतक केवल लोक-गीतों की ही परम्परा थी और सन् १६४२ ई० से सन् १६४५ ई० के बीच श्रीडब्ल्यू० जी० आर्चर की प्रेरणा से 'होड़ सेरेञ' और 'दोङ सेरेञ' नाम के दो लोक-गीत संग्रह प्रकाशित भी हुए। परन्तु शिक्षा-प्रसार के साथ साथ संताली कवियों एवं लेखकों का आविर्भाव भी होने लगा। इस प्रकार संताली में श्रीपाउल जुझार सोरेन-रचित कविताओं की सबसे पहली पुस्तक 'ओनोंड़हें बाहा डालवाक्' (फूल की डाली) रोमन-लिपि में, सन् १६३५ ई० में प्रकाशित हुई। उसकी कुछ कविताएँ संताली लोक-गीतों के आधार पर रचित हैं और कुछ विभिन्न छन्दों में बद्ध तुकांत शैली में। उस पुस्तक में (अब स्वर्गीय) सोरेनजी की भाषा ओजोगुण-प्रधान है। भावों में अपने सांस्कृतिक आदर्शों का निर्वाह किया गया है। संताली कविताओं की दो और पुस्तकें, क्रमशः सन् १६४८ ई० और सन् १६५१ ई० में बँगला-लिपि में प्रकाशित हुईं—श्रीरघुनानन मरण्डी-लिखित 'सेरेञ इता' (गीत के बीज) और श्रीठाकुरप्रसाद मुर्मू-लिखित 'एभेन आड़ाङ' (जागरण-गान)। दोनों में फुटकर कविताओं का संग्रह है। देवनागरी में भी श्रीशारदाप्रसाद किसकू-रचित ४१ फुटकर कविताओं का एक संग्रह, 'भुरका इपिल' (शुकतारा), सन् १६५३ ई० में प्रकाशित हुआ। किसकूजी की कविताओं में स्वदेश एवं स्वभाषा-प्रेम के भावों का प्राचुर्य है। सन् १६५३ ई० में ही इन पंक्तियों के लेखक द्वारा संताली लोक-गीत-छन्द में रचित गांधी-गाथा की एक पुस्तक, 'दि सोम बाबा' (राष्ट्रपिता), देवनागरी में प्रकाशित हुई। श्रीठाकुरप्रसाद मुर्मू तथा श्रीनारायण सोरेन की कई अच्छी-अच्छी कविताएँ साप्ताहिक 'होड़-सोम्बाद' में भी प्रकाशित हुई हैं। अभी-अभी 'गिरा' नाम से सोरेनजी का एक कविता-संग्रह रोमन-लिपि में निकला है। उनकी कविताओं में छायावाद का स्वर है।

उपन्यास और कथा-साहित्य—संताली का सबसे पहला उपन्यास, सन् १६४६ ई० में रोमन-लिपि में प्रकाशित, 'हाड़मवाक् आतो' (हाड़मा का गाँव) है, जो श्रीआर०

कार्स्टेयर्स के अँगरेजी-उपन्यास 'हाड़माज विलेज' का श्रीआर० आर० के० रासाम-कृत अनुवाद है। उसे एक ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है, जिसका आधार पूर्वोक्त 'संताल-विद्रोह' है। परन्तु उसकी भाव-भूमि में विदेशी शासन के विरुद्ध संतालों की उक्त सशस्त्र क्रांति की लहर को यहाँ के 'दिकुओं' के विरुद्ध किये गये विद्रोह के रूप में मोड़ दिया गया है। 'हाड़मा' उक्त उपन्यास का नायक है।

दूसरा उपन्यास, श्रीनुनकू सोरेन-लिखित 'मुहिला चेचेत् दाई' (अध्यापिका 'मुहिला'), सन् १९५२ ई० में प्रकाशित हुआ, जिसमें एक प्रेम-कथा के आधार पर 'मुहिला' नाम की एक अध्यापिका का चरित्र-चित्रण किया गया है। वह बिलकुल अधूरा-सा और असफल है।

कथा-साहित्य में बोडिंग साहब के लोक-कथा-संग्रह का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उसी प्रकार का एक दूसरा संग्रह 'गाम-काहनी', रोमन-लिपि में, सन् १९४५ ई० में प्रकाशित हुआ। परंतु संताली का सबसे पहला कहानी-संग्रह, 'कुकमू' (स्वप्न), देवनागरी-लिपि में, सन् १९५२ ई० में, प्रकाशित हुआ है। उसमें श्रीबालकिशोर बासुकि-लिखित छह बालोपयोगी सामाजिक कहानियाँ हैं। दूसरा संग्रह इन पंक्तियों के लेखक का 'बुल मुण्डा' (पियक्कड़) है, जिसकी अधिकांश कहानियाँ 'होड़-सोम्बाद' में प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रेमचंद की 'पंच-परमेश्वर', 'नमक का दारोगा', 'मुक्तिधन' आदि कुछ कहानियों का अनुवाद भी इन पंक्तियों के लेखक ने संताली में किया है।

नाटक—श्री श्रीमी० एन्० कुमार-लिखित बाईबिल-संबंधी एक पद्यात्मक नाटक पहले भी देखा गया है, परंतु संताली का सबसे पहला साहित्यिक नाटक, मयूरभंज के श्रीरघुनाथ मुर्मू-लिखित 'बिदू-चांदन' सन् १९४२ ई० में उड़िया-लिपि में और सन् १९४७ ई० में बँगला-लिपि में प्रकाशित हुआ। यह नाटक संताली-साहित्य की एक अमूल्य निधि है। उसमें प्राचीन संताल-समाज के 'बिदू' और 'चांदन' नामक दो कल्पित नायक और नायिका के आदर्श चरित्रों का सफल चित्रण किया गया है। उन्हीं लेखक का एक दूसरा नाटक, 'खेरवाड़ वीर', सन् १९५२ ई० में बँगला-लिपि में प्रकाशित हुआ। उसमें कल्पना से ऐतिहासिक रंग देते हुए मानवों और दानवों के संघर्ष का वर्णन किया गया है, जिसमें संतालों के कल्पित आदि-पुरुष वीर 'खेरवाड़' का सफल चरित्र चित्रण है। लेखक के अनुसार एक ही वंश के लोग कर्मानुसार मानव और दानव हो गये थे तथा आधुनिक संताल मानव वंशधर हैं।

संताली का तीसरा नाटक, श्रीरघुनाथनारायण 'रसाल' लिखित 'आले आतो' (हमारा गाँव), सन् १९५३ ई० में, देवनागरी में प्रकाशित हुआ है। यह एक सामाजिक नाटक है। फिर, सन् १९५६ ई० में श्रीबालकिशोर बासुकि 'अरमान' लिखित 'आदिम आत्मी' (मन दांग) नामक नाटक अभी अभी निकला है। यह एक सामाजिक नाटक है, जिसमें नशाखोरी से बचने का सन्देश है।

पत्र-साहित्य—संताली पत्र-पत्रिकाओं के क्षेत्र में रोमन लिपि में मुद्रित संताल मिशन के मासिक पत्र 'पेड़ा होड़' (कुटुम्ब, अतिथि) का नाम पहले आयेगा। यह पत्र

सबसे पहले सन् १८६० ई० में, उक्त बोडिंग साहब के सम्पादकत्व में 'होड़ होपोन रेन पेड़ा' (संताल-मित्र) के नाम से निकला था। रोमन-लिपि में ही 'मारसालतावोन' (हमारा प्रकाश) नामक एक और मासिक पत्र कैथोलिक मिशनवालों द्वारा, सन् १६४६ ई० से, निकाला जा रहा है। दोनों का उद्देश्य संतालों में ईसाई-धर्म का प्रचार है।

परन्तु संताली का सर्वप्रथम समाचार-पत्र, साप्ताहिक 'होड़-सोम्बाद' (संताल-समाचार) इन पंक्तियों के लेखक के संपादकत्व मे सन् १६४७ ई० से, देवनागरी में, बिहार-सरकार के जन-सम्पर्क-विभाग द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इस पत्र ने अपनी छोटी-सी उम्र में ही संताली-साहित्य के विकास में यथेष्ट हाथ बँटाया है। इसमें संताली कविताएँ, कहानियाँ आदि भी प्रकाशित हुआ करती हैं। संताली का एक अन्य पाक्षिक पत्र, 'सागेन साकाम' (नवपल्लव), आदिवासी महासभा की ओर से, देवनागरी और बँगला-लिपियों में, चार-पाँच वर्षों से यदा-कदा निकला किया है। फिर, विगत तीन वर्षों से पश्चिम बंगाल-सरकार के प्रचार-विभाग की ओर से 'कथावार्त्ता' ('गालमाराव') नामक एक पाक्षिक पत्रिका बँगला-लिपि में लिखित संताली में निकलने लगी है। उसमें मुख्यतः सरकार की प्रचार-सामग्री ही रहती है। पश्चिम बंगाल के ही कुछ संताली साहित्यकारों के प्रयत्न से विगत एक वर्ष से, एक अन्य साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मासिक पत्रिका श्रीभवतोष सोरेन के सम्पादकत्व में बँगला-लिपि में निकलने लगी है। उसका नाम है 'खेरवाड़ आड़ाङ', अर्थात् 'खेरवाड़ लोगों की आवाज'।

विविध-साहित्य—संताली के अन्यान्य साहित्य में श्रीएस० एच० मुर्मू की 'काराम आर चाचा छुटियार' इन पंक्तियों के लेखक की 'महात्मा गांधी', (जीवन-चरित्र) तथा रामायण का गद्यानुवाद, श्रीनुनकू सोरेन की 'आम रेन जुरी' (तुम्हारी संगिनी) आदि पुस्तकें मुख्य हैं। दो-चार पुस्तकें और हैं, जो राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, पं० जवाहरलाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओं की जीवनियाँ तथा बाईबिल की कथा-वस्तुओं से सम्बन्धित हैं।

पाठ्य-पुस्तकें—संताली भाषा और साहित्य को बिहार की निम्न प्राथमिक पाठशालाओं एवं माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालयी परीक्षाओं में स्थान प्राप्त हो चुका है। इसके लिए 'बिहार टेक्स्ट-बुक एण्ड एडुकेशन लिटरेचर कमिटी' की ओर से संताली भाषा और साहित्य की चार पाँच पाठ्य-पुस्तकें देवनागरी लिपि में प्रकाशित की जा चुकी हैं और जिनकी पढ़ाई भी विद्यालयों में हुआ करती है। इन पुस्तकों में 'संताली साहित्य' ('कायनी आर गाथनी') मुख्य हैं।

उपसंहार

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट हो चुका है कि संताली भाषा में विभिन्न लिपियों—देवनागरी, बँगला, उड़िया और रोमन का प्रयोग होता रहा है और प्रत्येक में दो चार पुस्तकें प्रकाशित भी हो चुकी हैं। बात यह है कि संताली, मुंडारी, हो आदि भाषाओं की अपनी कोई लिपि नहीं है। अतः जब जिसने जिसमें चाहा, संताली की पुस्तकें लिखीं और प्रकाशित कराईं। इधर उड़ीसा में एक नई लिपि का भी आविष्कार कर लिया

गया है। परन्तु सच तो यह है कि इस भाषा का वास्तविक हित इसके लिए राष्ट्रलिपि देवनागरी के प्रयोग में ही है। वास्तव में देवनागरी इसके लिए सर्वथा उपयोगी भी है।[1]

अन्त में, इन शब्दों के साथ इस निबन्ध को समाप्त करना चाहूँगा कि संताली भाषा और उसके साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है। भारत के संविधान में तो नहीं, पर बिहार की माध्यमिक विद्यालयी परीक्षाओं में इसे एक भारतीय भाषा के रूप में स्थान मिल चुका है और प्रतिवर्ष सैकड़ों विद्यार्थी इस भाषा और साहित्य में परीक्षा देते हैं। अब तो पश्चिम बंगाल में भी मैट्रिक की परीक्षा तक संताली भाषा और साहित्य को स्थान मिल रहा है। आशा है, वह दिन दूर नहीं, जब यह विश्वविद्यालय की शिक्षा में भी स्थान प्राप्त कर लेगा। तथास्तु।

---

१. 'विशाल भारत' (अक्तूबर, १९४७) में प्रकाशित मेरा लेख 'संताली भाषा और देवनागरी-लिपि' देखें। —ले०

उराँव भाषा और साहित्य

भाषा की दृष्टि से द्राविड़ और प्रजातीय तत्त्वों की दृष्टि से आग्नेय, उराँव-जाति बहुत दिनों तक मानव-वैज्ञानिकों के लिए विवाद का विषय बनी रही है। पूर्ववर्ती विद्वान् बहुत दिनों तक उराँवों के साथ ही विन्ध्य के दक्षिण-पूर्व की सभी आदिम-जातियों को द्राविड़ मानते रहे। फिर जब आस्ट्रिक नामक एक नवीन भाषा-परिवार की खोज हुई और उसकी मुण्डा-शाखा ने बहुत-सी जातियों की भाषाओं को अपने में समेट लिया, तब उन जातियों के प्रजातीय तत्त्व भी विश्वसनीय नहीं रहे और विद्वानों ने उराँव, गोंड, पहाड़िया आदि दो-चार जातियों को ही लेकर सन्तोष किया और इन्हीं पर अपनी लक्ष्मण-रेखा खींची। किन्तु, इधर जब से प्रजातीयों के निर्धारण में रक्त-वर्गों का विश्लेषण भाषा की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है, तब से उनकी बची-खुची सम्पदा भी लुट गई है। नये अनुसंधान कहते हैं कि भारत के मध्य-देश की उराँव, गोंड, सौरिया-पहाड़िया आदि आदिम जातियों की द्राविड़-भाषा उनके द्राविड़ प्रजातीय होने का प्रमाण नहीं, वरन् भाषात्मक द्राविड़ीकरण का प्रमाण है। डॉ॰ गुहा[१] ने एक नये सिद्धान्त की स्थापना करके, कि यदि कोई जाति अपने से अधिक उन्नत और संस्कृत जाति के सम्पर्क में आती है, तो वह अपनी भाषा भूलकर उन्नत जाति की भाषा को अपना लेती है, उराँव या वैसी ही अन्य जातियों की द्राविड़-भाषा का रहस्योद्घाटन कर दिया है। वस्तुतः उराँव-जाति भारत के विशाल आग्नेय या निषाद-परिवार की ही एक शाखा है, जो कालान्तर में द्राविड़-भाषाओं के सम्पर्क में अपनी पुरानी मुण्डा-भाषा भूल गई और जब पुनः घूम-फिरकर अपने बिछुड़े हुए पुराने साथियों के पास पहुँची, तब भाषा की दृष्टि से उसका पूरा कायाकल्प हो चुका था।

उराँवों की अनुश्रुतियाँ कहती हैं कि वे कर्णाटक से नर्मदा के तटों पर होते हुए सोन की घाटी में पहुँचे और रोहतासगढ़ में राज्य स्थापित किया। फिर मुसलमानों द्वारा वहाँ से हटाये जाने पर वे दो श्रेणियों में बँटकर कोयल की घाटी, छोटानागपुर और गंगातटवर्त्ती राजमहल की पहाड़ियों की ओर चले गये, जो उराँव और सौरिया-पहाड़िया के नाम से प्रसिद्ध हैं।

किन्तु इस मुसलमानी दबाव की कल्पना के सम्बन्ध में कर्नल डाल्टन[२] को आपत्ति है—"जैसा कि उराँव कहते हैं, वे नागवंशियों के प्रथम राजा फणिमुकुट राय के जन्म के

---

१. डॉ॰ बी॰ एस्॰ गुहा—रेस एलिमेण्ट्स इन इण्डियन पोपुलेशन।

२. श्रीसी॰ टी॰ डाल्टन—डिस्क्रिप्टिव एथनालॉजी ऑफ् बंगाल (१८७२ ई॰) श्रीडब्ल्यू॰ जी॰ आर्चर द्वारा 'दि ब्लू ग्रूव' में उद्धृत—पृ॰ १।

पहले से ही छोटानागपुर में थे। छोटानागपुर के वर्त्तमान राजा फणिमुकुट राय की बावनवीं पीढ़ी में (सन् १८७२ ई०) हैं। स्पष्ट है कि उराँव मुहम्मद साहब के जन्म से पहले ही (छोटानागपुर में) नागवंशियों की अधीनता में आ चुके थे।"

यह अनुश्रुति चाहे उराँवों और सौरिया-पहाड़ियों की एकता का आधार न हो, किन्तु उनकी भाषा तो एकता का आधार है ही। पहाड़िया की मल्तो-भाषा उराँवों की भाषा कुरुख से मिलती-जुलती है। यही तथ्य आजतक दोनों जातियों की एकता का प्रमाण-पत्र बना हुआ है। श्रीललितप्रसाद विद्यार्थी[1] ने दोनों भाषाओं के ६१ शब्दों की तुलना करके यह निष्कर्ष निकाला है कि ये दोनों भाषाएँ हजार से डेढ़ हजार वर्ष पहले तक अलग हुई हैं। किन्तु दूसरे नये शोध इस एकता-सिद्धान्त को चुनौती दे रहे हैं। वास्तव में दोनों जातियाँ आर्थिक जीवन-प्रणाली के दो स्तरों पर हैं। उराँव जहाँ उन्नत कृषि की प्रणाली अपनाये हुए हैं, वहाँ पहाड़िया अभी झूम कृषि की अवस्था में है। दोनों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी महान् अन्तर है। गोत्र-प्रणाली उराँवों की सामाजिक व्यवस्था का आधार है, पर गोत्र और लांछन (टोटम) का पहाड़िया को पता भी नहीं है। धुमकुरिया उराँवों के सामाजिक जीवन का प्रमुख केन्द्र है, पर पहाड़िया-समाज में उसका कोई अस्तित्व नहीं। फिर भी, कुरुख-भाषा और उसकी तीन उपभाषाओं—सौरिया-पहाड़िया, माल-पहाड़िया और कुमारभाग—के साथ मल्तो की एकता में कोई विवाद नहीं।

उराँवों की कुल संख्या[2] लगभग दस लाख है, जिसमें साढ़े छह लाख बिहार में और उसमें भी पाँच लाख तेरह हजार केवल राँची जिले में हैं। राँची का उत्तरी-पश्चिमी भाग उराँव-क्षेत्र कहलाता है। बिहार के अतिरिक्त उड़ीसा के गंगपुर में चौंसठ हजार और मध्यप्रदेश के पूर्वी भाग की छत्तीसगढ़, जशपुर, उदयपुर, सुरगुजा, कोरिया आदि हाल तक की रियासतों में १,६२,६६० की संख्या में ये बसे हुए हैं। मल्तो की तीनों बोलियों के बोलनेवाले पहाड़ियों की संख्या एक लाख सात हजार है। जलपाईगुड़ी के चाय बगानों में भी उन्होंने अपना एक उपनिवेश बसा लिया है।

उराँवों की कुरुख-भाषा उस द्राविड़-भाषा-परिवार की एक उपभाषा है, जो भारत में आर्यभाषाओं के बाद सबसे बड़ी संख्या में बोली जाती है। द्राविड़-भाषा-परिवार के चार उप-विभाग हैं—(१) द्राविड़—जिसमें तमिल, मलयालम और कन्नड़—तीन प्रमुख साहित्य-सम्पन्न भाषाएँ और तुलु, कोडगू, टोडा और कोटा पिछड़ी जातियों की बोलियाँ हैं। लाक्षा द्वीप के हजारों निवासियों की भाषा, मलयालम का ही एक रूप है। (२) मध्यवर्ती समुदाय—गोंडी, कुरुख, मल्तो, कूई या कन्धी और कोलामी पाँच

---

1. डॉ० ललितप्रसाद विद्यार्थी—दि लिंग्विस्टिक एफिनिटी ऑफ दि उराँव एण्ड दि सॉरिया—एण्ड अप्लिकेशन ऑफ् लेक्सिको स्टैटिस्टिकल डेटिंग। (एक अप्रकाशित निबन्ध—सन् १९५१ ई०)

2. सेंसस ऑफ् इण्डिया—१९४१, भाग ७, बिहार [पृ० ४०—५०]

बोलियाँ हैं, जो मध्यभारत की आदिम जातियों द्वारा बोली जाती हैं। (३) तेलुगु, जिसका साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। (४) बिलोचिस्तान की बोली ब्राहुई, जिसकी जनसंख्या एक लाख सत्तर हजार है और जो भूमध्यसागर के तटों से किसी पूर्व-युग में द्राविड़ों के आगमन का एवं किसी और एक समय में महेंजोदाड़ो और हड़प्पा की सभ्यता के अस्तित्व का प्रमाण देने के लिए बलूची, फारसी और सिन्धी भाषाओं के बीच बड़ी कठिनाई से अपना अस्तित्व बचा रही है।

उराँव या कुरुख-भाषा की केवल एक बोली का पता है, वह है 'बरगा-उराँव'[1], जो उड़ीसा के गंगपुर में बोली जाती है। ग्रियर्सन ने 'बरगा' शब्द की व्युत्पत्ति बिगड़ा शब्द से की है, अर्थात् उराँव-भाषा का 'करप्ट-फौर्म' या विकृत रूप। दोनों के उच्चारण में थोड़ा सा अन्तर है। जैसे—धरती के लिए, कुरुख—खेखेल, बरगा—हेहेल। हाथ के लिए, कुरुख—खेक्खा, बरगा—हेक्खा, । पैर के लिए, कुरुख—खेड्डु, बरगा—हेड्डु। भैंस के लिए, कुरुख—मनखा, बरगा—मनहा। बरगा में 'ख' को 'ह' करने की प्रवृत्ति है।

कुरुख के अन्य नाम हैं[2]—'किसानी', 'धाँगरी', 'खेण्डरोई' आदि, जो केवल पेशा के नाम हैं। ये नाम बोली के किसी विशेष स्वरूप की सूचना नहीं देते।

प्रजातीय नाम 'उराँव' और भाषा के नाम 'कुरुख'—दोनों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में लोक-बुद्धि, विद्वद्बुद्धि—दोनों ने बड़ी मनोरंजक कल्पनाओं का सहारा लिया है। उराँव के ओराँव, उरंग, ओवरंग आदि अनेक रूप मिलते हैं। डॉ० हान कहते हैं[3] कि उराँव कुरुख-जाति के गोत्रों में से एक गोत्र है। ग्रियर्सन[4] ने हिन्दी के उड़ाऊ शब्द से 'उराँव' की उत्पत्ति बताई है, अर्थात् यह उराँवों को हिन्दुओं की दी हुई उपाधि है। उन्होंने इसी तरह हिन्दुओं के ही नाम पर भारत की आष्ट्रिक भाषाओं के लिए 'कोल' नाम चलाना चाहा था। फिर उन्होंने[5] 'कैवोडी' भाषा के 'उरगाई' या 'वरगाई' के 'उराग' शब्दों में उराँव की समता खोजी है। दोनों का अर्थ होता है—मनुष्य। यदि किसी अनपढ़ उराँव से पूछिए कि इस शब्द का अर्थ क्या है, तो वह बतायेगा कि मुण्डा लोग हमें चिढ़ाने के लिए उरङ्ग कहते हैं। उरङ्ग का अर्थ है थोंथी, अर्थात् थोंथी खानेवाला। एक शिक्षित उराँव ने बताया कि हम हनुमानजी के वंशज हैं। उराँव का अर्थ है 'वानर'। उराँव हनुमानजी के गोत्र का नाम है। मुण्डा लोग उराँवों की सृष्टि-कथा पर टीका प्रस्तुत करते हैं कि पाप की धरती को जलाने के बाद भगवान् नीचे उतरे। एक चट्टान के नीचे छिपे हुए दो छोटे बच्चे—भाई-बहन—उन्हें दिखाई पड़े। भगवान् को दया आ गई। उन्होंने बच्चों से कहा कि तुमलोग खेत बनाओ, मैं बीज और पानी

1. सर जॉर्ज ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इण्डिया, भाग ४, पृ० ४०६।
२. वही।
३. वही।
४. वही।
५. वही।

लाने जाता हूँ। बेचारे भूखे-प्यासे सबेरे तक खेत कोड़ते रहे। जब भगवान् बीज लेकर पहुँचे, तब सबेरा हो रहा था। फिर भी सबेरे तक खेत कोड़ते जा रहे थे। बस, उनका नाम 'उर-आँव' अर्थात् 'सबेरे तक कोड़नेवाला' पड़ गया।

मुण्डाओं की एक दूसरी अनुश्रुति है—एक बार मुण्डा लोग जंगल में पूजा कर रहे थे कि एक आदमी भागता हुआ वहाँ पहुँचा और उसने शरण देने की प्रार्थना की। उसे खदेड़ते हुए कुछ 'कुडुक' निकट आ पहुँचे थे। मुण्डाओं के नेता ने दया करके तुरन्त एक जनेऊ आगन्तुक के ऊपर फेंक दिया और उसे मुण्डा बना लिया। कुडुक आदमी को नहीं पाकर लौट गये। 'हुरंग' का अर्थ है फेंकना। उसी फेंके हुए जनेऊ को ग्रहण करनेवाले आदमी के वंशज हुरंग या उराँव हैं। वैसे ही कुरुख की भी अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं। डा० हॉन[1] ने आग्नेय भाषाओं के 'हॉरो' शब्द से 'कुरुख' की तुलना की है। 'हॉरो' का अर्थ है—मनुष्य। फिर उन्होंने[2] इसकी समता के लिए द्रविड़ियन सीथियन शब्द 'कुरुक' को उपस्थित किया है, जिसका अर्थ है—'चिल्लानेवाला'। ग्रियर्सन ने तमिल के 'कारगु' शब्द, जिसका अर्थ है गीध, से कुरुख को मिलाया है।

कुरुख-भाषा अन्तर्योगात्मक भाषाओं का अच्छा उदाहरण है, जो इस गुण में यूराल, अल्ताई और द्राविड़-भाषाओं से मिलती है। जैसे—

एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए—

खद्दस	खद्दर	बच्चा
बेलस	बेलट	राजा

अधिकरणकारक—

खाड़ पत्तान्ति इत्ति—नदी पहाड़ से उतरती है।

प्रेरणार्थक क्रिया—

एकना (चलना) से एकताअना—(चलाना)

एकतातअना—(चलवाना)

मोखना—(खाना) से मोखतअना—(खिलाना)

मोखतातअना—(खिलवाना)।

कुरुख[3]-भाषा में संस्कृत और मुण्डारी के समान लिंग तीन होते हैं—पुँल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग। इनमें पुँल्लिंग और स्त्रीलिंग का प्रयोग केवल मनुष्य-योनि में होता है। शेष सभी सजीव और निर्जीव संज्ञाएँ नपुंसकलिंग-सी व्यवहृत होती हैं। यहाँ तक कि ईश्वर भी नपुंसकलिंग माना जाता है; इसलिए उसकी क्रिया होती है स्त्रीलिंग रूप में। अब ईसाइयों में ईश्वर, दूत और आत्मा शब्द पुँल्लिंग के समान व्यवहृत किये जाने लगे हैं। आज उराँव-भाषा में ईश्वर अर्द्धनारीश्वर बन गया है।

---

१. सर जॉर्ज ग्रियर्सन—लि० स० इ०।

२. वही।

३. श्रीआह्लादतिर्की—कुड़ुख सद्दा (व्याकरण-सम्बन्धी बातों के लिए निबन्ध-लेखक अनुगृहीत है।)

कुरुख-भाषा में संज्ञाओं का लिंग पहचानना बड़ा सरल है। सामान्य नियम यह है कि पुँल्लिंग शब्दों के अन्त में प्रायः 'स' और स्त्रीलिंग शब्दों के अन्त में 'य' या 'ई' लगा रहता है।

जैसे : आलस—पुरुष; कुक्कोस—बालक; डाक्टरस—डाक्टर।

वैसे ही : कुकोय—लड़की, आलि—स्त्री, उर्बनि—मालकिन।

स्त्रियों से बात चीत करने में पुरुष उनके लिए पुँल्लिंग और बहुवचन का प्रयोग करता है।

पुरुष से बात करने में स्त्री भी अपने लिए पुँल्लिंग का प्रयोग करती है।

पुरुष कहता है—मंड्डि ओडुकर फगनी अरा बुधनी— (फगनी और बुधनी, तुमलोग भात खाये!)

स्त्री स्त्री से कहती है : एन एकेन— (मैं चलती हूँ।)

स्त्री पुरुष से कहती है : एन एकदन—(मैं चलता हूँ।)

स्त्री से बात करने में पुरुष द्वारा क्रिया के उन रूपों का प्रयोग हास्यास्पद होता है, जिनका प्रयोग स्त्री स्त्री से बात करने में करती है।

वचन दो होते हैं—एकवचन और बहुवचन। एकवचन से बहुवचन बनाना बड़ा सरल है। पुँल्लिंग शब्दों में अन्त के 'स' को 'र' कर देते हैं।

जैसे—कुक्कोस (लड़का), कुक्कोर (लड़के), आलस (पुरुष), आलर (बहुत पुरुष)

इसी प्रकार तमिल में 'अर' लगाकर, कनाड़ी में 'अरु' लगाकर और तेलुगु में 'आर' लगाकर बहुवचन बनाते हैं।

स्त्रीलिंग शब्दों में अन्त का दीर्घ स्वर हटाकर 'र' जोड़ना होता है। जैसे, कुक्कोय—(लड़की); कुकोयर (लड़कियाँ)।

पुँल्लिंग और स्त्रीलिंग—दोनों में कभी-कभी 'बगर' और 'गुट्ठियर'-जैसे समूहवाचक शब्द भी जोड़ते हैं, लेकिन नपुंसकलिंग में नहीं। नपुंसकलिंग में बहुवचन बनाने के लिए 'गुट्ठी' शब्द जोड़ते हैं, किन्तु पुँल्लिंग और स्त्रीलिंग मे नहीं।

कारक हिन्दी के समान ही होते हैं और उनमें विभक्तियों का प्रयोग भी वैसा ही है।

इस भाषा के अन्यपुरुष सर्वनाम में हिन्दी 'वह' और 'यह' के समान ही दूरी और निकटतासूचक शब्द हैं—

आस—आद (वह), ईस—ईद (यह) और इन दो-दो शब्दों का अन्तर अँगरेजी के 'ही' (HE) और 'शी' (SHE) के समान लिंग-सूचक है। पुरुष के लिए 'आस' (वह) और स्त्री के लिए 'आद' (वह)। वैसे ही पुरुष के लिए 'ईस' (यह) और स्त्री के लिए 'ईद' (यह)। उत्तमपुरुष सर्वनाम का, श्रोता को छोड़कर, एक रूप होता है और श्रोता को सम्मिलित करके दूसरा।

एम—(हम) श्रोता को छोड़कर।

नाम—(हम) श्रोता को सम्मिलित करके।

प्रश्नवाचक सर्वनाम 'ने', जिसका अर्थ है 'कौन', केवल पुँल्लिग और स्त्रीलिंग के लिए ही प्रयुक्त होता है। उभयलिंग के लिए 'ने' के स्थान में 'एकदा' का प्रयोग होता है।

और जब यही 'कौन' सर्वनाम की जगह विशेषण के रूप में आता है, तब उसके लिए 'ने' की जगह 'एका' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे—

कौन पुरुष आया?—एका आलस बरचस?

कौन आया?—ने बरचस?

कुरुख-भाषा में एक ही विशेषण के कई अर्थ होते हैं। जैसे कोड़े—अच्छा, स्वस्थ, अच्छे आचरणवाला। बेड़हा—कठोर, हठी।

यों तो कुरुख-भाषा में गुण और विशेषण-सूचक बहुत-से शब्द हैं, पर संज्ञा के पहले, बिना किसी रूपान्तर के ही, संज्ञा जोड़कर भी, विशेषण बना लिये जाते हैं।

जैसे—कंक एड़पा (लकड़ी-घर)
पन्ना-तड़रि (लोहा-तलवार)
उल्लन्ता-मलख (दिन-कार्य—दैनिक-कार्य)
चंद्रो बिल्ली (चाँद-रात—चाँदनी रात)

फिर, संज्ञा के पहले, कृदन्त धातु जोड़कर भी, विशेषण बनाते हैं।

जैसे—कुड़ना अम्मा (गरमाना, पानी—गर्म पानी)
ओना आलो (पीना, पदार्थ—पेय पदार्थ)
मोखना आलो (खाना, पदार्थ—खाद्य पदार्थ)

संज्ञा के विशेषण के बाद, क्रियाविशेषण जोड़कर भी, विशेषण बना लेते हैं।

जैसे—मुंज्जा मलका—(अनन्त, अपार)
ढिया मलका— (दरिद्र)
लूर मलका— (मूर्ख)

इस भाषा में विशेषण और उससे बनी हुई भाववाचक संज्ञा के रूप में कोई अन्तर नहीं होता।

दिगहा—लम्बा, लम्बाई
मन्नि—छोटा, छोटाई
ढिप्पा—ऊँचा, ऊँचाई
पुना—नवीन, नवीनता
ओनका—प्यासा, प्यास
एम्बा—स्वादिष्ट, स्वाद
मोन्हा—प्यारा, प्यार

संज्ञा, विशेषण और क्रियाविशेषण का प्रायः क्रियाओं के समान प्रयोग किया जाता है।

जैसे—लस्सा—मजदूरी—एन लसदन (मैं मजदूरी करता हूँ)
कुड़ुख—उरॉव—आस कुड़ुखस (वह उरॉव है)
सन्नि—छोटा—नीन सन्निय्य (तू छोटा है)
कोहा—बड़ा—एम कोहम (हम बड़े हैं)

संज्ञा-विशेषण और कृदन्त शब्द भी क्रिया-विशेषण की तरह प्रयुक्त होते हैं।

जैसे—आस कोहा लेक्खअम एल्यॅर दस (वह बड़ा दिखाई देता है)
आद खनेम खनेम बरचकि रई (वह बहुधा आई है)
आर खोहरर दरा पाड़ा लगियर (वे एकत्र होकर गा रहे थे)

मुण्डा-भाषा की तरह इस भाषा में भी ध्वन्यात्मक और गुणात्मक क्रिया-विशेषणों की भरमार है।

लेट लेटा—लथपथ हो जाना।
खरॅखरआ—चमाचम।
मेरमेरआ—मिमियाना या मरियल दिखाई देना।
मिरमिरायके—मुंड-के-मुंड।

इनकी, मुण्डा के ध्वन्यात्मक शब्दों से तुलना की जा सकती है।

जिलिब-जिलिब—चमचमाना।
पिसिर-पिसिर—फिसफिसाना।
जड़म-जड़म—झमाझम बरसना।
रोलो-रोलो—टलमल-टलमल।

इन प्रकृति-पुत्रों में बिम्ब-ग्रहण का यह भाव प्रकृति के साथ उनकी निकटता और तादात्म्य-सम्बन्ध का ज्वलन्त प्रमाण है। यह विशेषता प्रकट करती है कि बाह्य प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य के साथ उनकी इन्द्रियों का कितना सहज सम्बन्ध है और उनकी ज्ञानेन्द्रियों के लेंस पर बाह्य प्रकृति का कैसा स्पष्ट चित्र उभरता है।

वैसे भावुकतापूर्ण आदिम-समाज के भीतर विस्मयादिबोधक अव्ययों की भरमार है। कुड़ुख-भाषा में क्रिया, संज्ञा, विशेषण और क्रियाविशेषण सभी विस्मयादि-बोधक रूप में प्रयुक्त होते हैं। कभी-कभी तो कोई वाक्यांश या पूरा वाक्य ही विस्मयादि-बोधक हो जाता है।

जैसे—अनय धर्मे—हाय भगवान्!
एरके—देखना!
हाड़ि—भागो!
गुच्छरआ गुच्छरआ—हटो! हटो!!
भाको—मूर्ख!

गुस्सा—नज़ा !
हुरू—घमंड !
एन्देर मञ्जा—अरे क्या हुआ !
धर्मे एन्ने अम्बन ननन—ईश्वर ऐसा न करे !

यह बात नहीं है कि ऐसा केवल कुरुख-भाषा में ही होता है, पर बात-बात में इन रूपों का इतना प्रयोग और कहीं शायद ही होता हो !

समय बतलाने के लिए उराँव की दीवार पर कोई घड़ी नहीं टँगी है। जीवन के क्रिया-कलाप ही उसकी घड़ी हैं। उन्हीं से समय की सूचना मिलती है।

जैसे—चुड़चुड़िया चीरो बीरि—चिड़ियों के चहचहाने का समय—भोर।
चोग्रो बीरि—बिछावन छोड़ने का समय।
गोहला पुंदना बेड़ा—हल नाधने का समय।
लडी लोहाड़ि बेड़ा—सवेरे के जलपान का समय।
चूतो बीड़ि—सोने का समय।
चिरिद घलि—अनाज काटने का महीना।
सेन्दरा चन्दो—वसन्त ऋतु।

वहाँ शब्द-युग्मों की भी भरमार है। कुछ विद्वान् तो मानते हैं कि आर्य-भाषाओं में सार्थक या निरर्थक शब्द-युग्मों की प्रवृत्ति द्राविड़-भाषाओं के ही प्रभाव से आई है। और, कुछ संयुक्ताक्षरवाले शब्द-युग्मों को मुण्डा भाषा के प्रभाव से आया हुआ मानते हैं।

कुरुख-शब्द—तीना—डेब्बा—दायें-बायें
किय्या-मैंइया—नीचे-ऊपर
इन्ना-नेला—आजकल
अयंग-बंग—माँ-बाप
चलि-वलि—आँगन-द्वार
मंड़ि-अमखि—भात-तियन
कीड़ा-ओनका—भूख-प्यास

उराँवों की अपनी ऐतिहासिक स्थितियों और उनके निवास-क्षेत्र की विशेषताओं ने उन्हें द्वि-भाषी बना दिया है। प्रत्येक उराँव कुरुख और नागपुरिया, दो भाषाएँ बोलता है—अपने समाज में प्रायः कुरुख और अन्य लोगों के साथ प्रायः नागपुरिया। इसका सर्वप्रमुख रहस्य उनके इतिहास से सम्बन्धित है। उराँव, आग्नेय-वंश की वह शाखा है, जिसे अपने अन्य बहुत-से सहवंशियों की अपेक्षा, अपने से अधिक उन्नत समाजवालों के सम्पर्क में रहने का अधिक सुयोग प्राप्त हो चुका है। इसी छोटानागपुर में, जहाँ मुण्डा, हो, खड़िया, संथाल आदि एक लम्बे युग से अपना स्वतंत्र अस्तित्व बचा रहे हैं, वहाँ उराँव किसी आदिम युग में द्राविड़ों के सम्पर्क में आये और

भाषा के सम्बन्ध में द्राविड़ीकरण हुआ। जैसे—भीलों और बहुत-से गोंड़ों का आर्यीकरण हो चुका है। फिर वे नर्मदा और सोना की घाटियों से होते हुए, संस्कृति का आदान-प्रदान करते हुए रोहतासगढ़ आये और वहाँ हिन्दू-राजाओं से मिले और वहाँ से दक्षिण की ओर हटाये गये। फिर भाग्य ने छोटानागपुर में उनके लिए वह भू-भाग निर्धारित किया, जो उनके अन्य पूर्व-पुरुषों की भूमि की अपेक्षा अधिक उपजाऊ था। परिणामतः आगे चलकर उस क्षेत्र में व्यापारिक और औद्योगिक हिन्दू और मुसलमान जातियाँ अधिक संख्या में बसीं और जमींदारियाँ स्थापित हुईं। यह स्वाभाविक था कि झिझक छोड़कर अपनाने की योग्यता का उराँवों में अपेक्षाकृत अधिक विकास हुआ।

भूमि तैयार थी। एक तो उराँवों में से ही विकसित और दूसरे बाहर से आये हुए दोनों तत्त्वों से गठित उस नये औद्योगिक व्यावसायिक वर्ग ने, जो हर जगह सम्पर्क बढ़ाने का अग्रगामी माध्यम हुआ करता है, यहाँ भी नये सम्पर्क की नींव डाली। उन्होंने बाजारों से भाषा, संस्कृति सारी चीजें उराँवों के उन गाँवों में पहुँचाईं, जहाँ नया-नया लेने के लिए उराँव पहले से ही तैयार थे। अस्तु, जहाँ 'मुण्डा', 'खड़िया' या 'हो'-समाज की मुश्किल से दस प्रतिशत ही जनसंख्या द्विभाषी है, वहाँ उराँव की नब्बे प्रतिशत से ऊपर।

राँची के आसपास उराँव लोग मुण्डा-भाषा बोलते हैं। उन्होंने मुण्डा को नया रूप दे दिया है। अधिकांश उराँव अपनी भाषा में हिन्दी के संयोजक अव्ययों का प्रयोग करने लगे हैं। बहुत-से क्षेत्रों में उराँव-भाषा भूली जा चुकी है—कहीं, उसका स्वरूप बदला है और सब मिलाकर उनकी जनसंख्या से भाषाभाषियों का अनुपात घटता गया है।

मुण्डाओं का प्रभाव तो केवल भाषा पर ही नहीं; साहित्य, संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था, सब पर है। आज जहाँ उराँव-समाज का निवास है, वहाँ एक दिन मुण्डा-सभ्यता की खेती लहरा रही थी, उसके झड़े और छूटे-छटके हुए बीज उस धरती में मौजूद हैं, जो पीले धान के खेत में लाल बालियों की तरह बड़ी सरलता से पहचान लिये जा सकते हैं।

इस मिश्रण और ग्रहणशीलता का, कुरुख-साहित्य पर भी प्रभाव होना स्वाभाविक है। उराँव-जाति का आधा साहित्य नागपुरिया भाषा में है। आज स्थिति यह है कि कुरुख-साहित्य और कुरुख-भाषा का साहित्य एक ही चीज नहीं। इस स्थिति ने, निस्सन्देह, उराँवों की अभिव्यक्ति को प्रभावित किया है और भावाकाश को विस्तृत बनाया है।

उराँवों के पास अपनी अल्हड़ भावुकता और सहज मनोहरता से भरा-पूरा, गीतों, कहानियों, बुझौवलों और अनेक अनुष्ठानों की अभिव्यक्तियों के रूप में, महान् साहित्य है। प्रकृति की मनोहर रंगस्थली, विकास की प्रारम्भिक अवस्था, वातावरण की स्वच्छन्दता

और जीवन की सीमित आवश्यकताओं ने उन्हें संगीत और कला का प्रेमी बना दिया है। थोड़ा-सा गा-पीकर अधिक सन्तुष्ट रहना आदिम-जातियों की विशेषता है और इस विशेषता का प्रमाद अपने गैवानों इतिहासवाले उराँवों ने सबसे अधिक पाया है। सभी आदिम-जातियों के नृत्य-गीत प्रसिद्ध हैं, पर उराँवों के समान नित्य नाचने-गानेवाली कोई जाति नहीं। इसी प्रदेश में मुण्डा, हो, खड़िया आदि जातियाँ भी संगीत और नृत्य से कम प्रेम नहीं रखतीं; किन्तु उनके नृत्य-गान पर्व के अवसरों पर ही अपनी विशेष छटा दिखाते हैं, बीच की लम्बी अवधियों में वे पतले हो जाते हैं, पर उराँवों की मधुशाला का प्रत्येक दिन होली और प्रत्येक रात दिवाली है। जीवन की प्रत्येक साँस का गीत और मस्ती के साथ इतना घना सम्बन्ध और किसी जाति में नहीं है। और जातियों में ऐसे भी क्रिया-कलाप हैं, जो बिना गीत के पूरे हो जाते हैं और ऐसे भी गीत हैं, जिनके साथ जीवन के किसी अनुष्ठान का सम्बन्ध नहीं है; पर श्रीआर्चर के शब्दों में—"उराँवों का एक भी गीत नहीं, जो नृत्य, पर्व, विवाह, कृषि-जैसे किसी आयोजन से सम्बन्धित न हो और एक भी आयोजन नहीं, जो गीत के बिना पूर्ण हो सके।"[१]

या एक दूसरा प्रमाण लीजिए। श्रीआर्चर ने मुण्डा, खड़िया, हो, उराँव सबके गीतों का संग्रह किया है। उन्होंने जहाँ 'मुण्डा' के १६४१, 'खड़िया' के १५२८ और 'हो' के ६३५ गीत जुटाये हैं, वहाँ उराँवों के २६६० गीत। न तो इसके पीछे कोई पक्षपात है और न यह केवल संयोग की बात है। हाँ, उनके द्वारा संगृहीत ३००० संथाल-गीत—संख्या में उराँव-गीतों से अधिक हैं, किन्तु हमें यह भी याद रखना चाहिए कि जहाँ उराँव की संख्या दस लाख है, वहाँ संथालों की तीस लाख।

उराँव-गीतों की चार श्रेणियाँ हैं—१. नृत्य-गीत, २. विवाह के गीत, ३. कृषि-गीत और ४. बच्चों के गीत। नृत्य-गीत प्रत्येक ऋतु के विभिन्न नृत्यों में प्रयुक्त होते हैं। उनके राग और लय ऋतुओं के अनुसार अलग-अलग हैं। सभी आदिम-जातियों की तरह एक ऋतु का गीत दूसरी ऋतु में गाया जाना वर्जित है। नृत्य-गीतों के निम्नांकित भेद हैं—

१. फागू गीत, २. सरहुल या खद्दी गीत, ३. करम गीत, ४. जतरा, ५. बिरदी, ६. मट्ठा, ७. जदुरा, ८. डोमकच, ९. धुरिया, और १०. लुझकी।

फिर करम गीत अपने लम्बे मौसम में बहुत-से उपभेदों की योजना किये हुए है।

१. धुरिया करम, २. असाढ़ी, ३. थपड़ी, ४. थरिया, ५. लहसुवा, ६. लुझकी और ७. दसई।

सभी गीत प्रायः चार-पाँच पंक्तियों के होते हैं, जो पुनरावृत्ति के साथ लम्बे और ऊँचे स्वरों में नृत्य के अखाड़ों में गाये जाते हैं। केवल खद्दी या सरहुल के वे ही गीत लम्बे १५-२६ पंक्तियों के होते हैं, जो पाहन की पूजा के समय गाये जाते हैं।

असाढ़ी गीत नृत्य-गीत होने के अतिरिक्त एकान्त संगीत भी हैं, जो बरसात की प्रथम फुहारों से पसीजे हुए विरहियों के आकुल कंठों से उद्भूत होकर, मेघदूतों के द्वारा

---

[१] श्रीडब्ल्यू० जी० आर्चर : दी ब्लू-ग्रोव—प्रीफेस, पृ० ११।

प्रियाओं के पास संदेशा भेजा करते हैं। ठीक यही हाल मुण्डाओं के 'चिटिद्-करमा' गीतों का है।

जतरा-गीतों के वर्ग में दो मौसम होते हैं। दोनों में गीत और राग बदल जाते हैं। बड़े पर्वों के अवसर पर विभिन्न गाँवों के सम्मेलन जतरा कहलाते हैं। उनमें गाँव गाँव से युवक-युवतियों के दल अपने गाँव का विशाल झंडा लेकर ऐसे उत्साह के साथ जाते हैं, मानों, वे मुक्त उमंगों के राजमहल पर धावा बोलने जा रहे हों। रास्ते में वे अपने छोटे-छोटे गीतों द्वारा व्यंग्य और विनोद के चुटीले तीर छोड़ते जाते हैं। और, जतरा में पहुँचकर, एक लम्बी कतार में पंक्तिबद्ध होकर, अपने मिले हुए कदमों की ताल पर थिरकते हुए, ऊँचे स्वर के प्रयाण-गीतों से उस आकाश को कुछ और ऊँचा उठा देते हैं, जो पूर्वागत दलों के कंठ-स्वरों से पहले से काफी उठा हुआ रहता है। जतरा-गीतों के छोटे-छोटे बोलों की कुछ बानगी देखिए—

गीत १. अरे बूढ़े, तुम बराबर गूलर खाया करते हो, हाय ! उसमें कीड़े भरे हैं।

२. सब थाना जाना, मगर सिसई थाना मत जाना, हाय ! वहाँ लड़कियों को भगा ले जाते हैं।

३. उस कंजूस को देखो ! धन को गाड़ रखा है और गमछी में गोबर उठा रहा है।

४. वह बादल गरजता तो जोर-शोर से है, मगर पानी के नाम पर महज छिड़काव।

५. ओह ! इस लँगड़ी स्त्री को लौटा आओ !
इसके साथ मेरा गुजर नहीं होगा।

विवाह-गीत सभी वैवाहिक अनुष्ठानों के लिए होते हैं, जिन्हें स्त्री-पुरुष उन अवसरों पर बैठकर गाते हैं। वे उराँवों की सहज विनोदशीलता से भरे हैं। साथ ही उनमें मनोहर प्रतीकों की भरमार है।

उराँव-लोक-साहित्य का एक मधुर अंग उसकी विवाह-वार्ता है। यों तो सभी आदिम-जातियों में विवाह के ठहराव के समय कुछ प्रतीक-वार्ता होती है। जैसे, मुण्डा-युवक का अभिभावक जब लड़की माँगने जाता है, तब लड़की के अभिभावक से कहता है—'हमने सुना है कि तुम्हारे घर में एक सुन्दर फूल है। हम उसे तोड़ना चाहते हैं।'

स्वीकार होने पर लड़की का पिता कहता है—'तुम मेरा फूल ले जा सकते हो ! शर्त्त है कि गन्ध समाप्त हो जाने पर इसे फेंक न देना।'

उत्तर भारत के गड़ेरियों में भी ऐसा ही रिवाज है। वर-पक्ष कहता है—'हमारे पास दूध है और तुम्हारे पास मटका। आओ, मिला दें।'

प्रस्ताव स्वीकार होने पर उत्तर मिलता है—'ठीक है; हमारे पास इमली है, तुम्हारे पास आम। पंचों को राजी करो !'

इसमें एक ओर बरसात के संकेत-चित्र और दूसरी ओर कामचोर या आलसी पुरुष पर व्यंग्य ! वह किसी पत्नी का कामचोर पति या बहन का आलसी भाई होगा।

गीतों की चौथी श्रेणी में छोटे बच्चों के गीत हैं, जिन्हें 'चाली बेचना' या 'आँगन के खेल' कहते हैं। बच्चे उन्हें गा-गाकर खेलते हैं। एक गीत का भाव सुनिए—

माँ, हमारे छप्पर पर खट-खट बैठा है !
माँ, खट-खट सारी रात बोलता रहता है !
माँ, सरसों के घड़े में डली के पैसे हैं !
माँ, उन्हें निकालकर फेंक दो !
माँ, तुम्हारा दामाद लँगड़ा है !
हाय माँ, उसके साथ मैं नहीं रहूँगी !

इन विभिन्न प्रकार के गीतों के बाद उराँव-साहित्य में कहानियों का स्थान है, जिनमें चाँद, सूरज, धरती, मनुष्य, देवता, नदी, पर्वत, पर्व, त्योहार आदि की उत्पत्ति सम्बन्धी धर्म-गाथाएँ और अपने किसी मूल स्थान से वर्तमान निवास-स्थान तक आगमन, लम्बी दूरी के संघर्षों और घटना-चक्रों, रोहतासगढ़ के अपने राज्य की गौरवपूर्ण स्मृतियों, मुसलमानों के साथ संघर्षों, अनेक जातियों, समाजों और श्रेणियों के साथ अपने खट्टे-मीठे नानाविध सम्पर्कों के अवदान तथा चालाकी, दुस्साहस, जादू-टोना आदि विषयों पर राक्षसों, पशु-पक्षियों और मानव-सन्तानों के विस्मयजनक सम्बन्धों की सामान्य लोक-कथाएँ भरी-पड़ी हैं।

फिर, कहानियों के प्रथम वर्ग धर्म-गाथाओं में ही टोटमे या लाछन-सम्बन्धी कहानियाँ आती हैं। जैसा हमें विदित है, आदिम जातियों के विभिन्न वर्ग, विभिन्न वन-पदार्थों, पशु-पक्षियों और लता-वृक्षों से अपना कोई आधिप्राकृतिक सम्बन्ध मानते हैं। उसी वस्तु-विशेष के नाम पर उनका गोत्र होता है। इसीलिए वे उसका समुचित सम्मान करते हैं।

अपने उस 'टोटमे' के साथ, किसी पूर्वयुग में, अपने किसी पूर्वज का अनायास सम्बन्ध स्थापित हो जाने के विषय में, सभी गोत्रों में कोई-न-कोई किंवदन्ती प्रचलित है। उस किंवदन्ती के प्रति उनका मनोरंजन-मात्र नहीं, विश्वास-मात्र है। गोत्र केवल ५०-६० हैं, पर प्रत्येक गोत्र की कोई एक ही कहानी नहीं है। दूसरी ओर बहुत-से गोत्रों की कहानियाँ एक ही तत्त्व से गढ़ी गई हैं।

प्रायः सभी तरह की कथाओं में इनके मानसिक स्तर और जीवन के [illegible] वातावरण के अनुकूल अलौकिक और विस्मयजनक भाव आये हैं। कहानियों में जो मर्मस्थल हैं, वे बहुधा गीतों के रूप में प्रकट हुए हैं।

इनके साहित्य में बुझौवलों और कहावतों की संख्या भी बहुत अधिक है। इनमें नित्य-सम्पर्क के जो पदार्थ हैं, उन्हें पहेली-रूप में उपस्थित करके बताना [illegible] और बुद्धि की

परीक्षा ली जाती है। पहेलियों के साधारणतः तीन उपयोग हैं। लड़के चरवाही में किसी पेड़ के नीचे, चट्टान या नदी-निर्झर के तट पर बैठकर उनसे अपना मनोरंजन करते हैं। दूसरे, उराँवों की सामाजिक संस्था धुमकुरिया में, रात्रि-यापन के लिए, पहेलियाँ, गीतों और कहानियों की, अनिवार्य पूरक और सहायक हैं। और फिर विवाह के अवसर पर दोनों पक्ष इनके द्वारा मनोरंजन और बुद्धि की परीक्षा करते हैं।

ये पहेलियाँ, वस्तुओं के रूप रंग और गुण-स्वभाव दोनों का बड़ा ही सटीक चित्र उपस्थित करती हैं, जो कृत्रिम नहीं, सहज और स्वाभाविक होता है। व्यंग्य-चित्र तो और भी बेधक होते हैं। कुछ पहेलियों के अनुवाद प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१. टेढे हिरन के पेट में दाँत हैं—हँसुआ।
२. पहाड़ पर गाछ और गाछ पर बुलबुल का खोंता—हुक्का।
३. सफेद खेत में काले बीज—कागज, स्याही।
४. गाय जनमावे हड्डी, हड्डी जनमावे बछड़ा—मुर्गी अंडा।
५. छोटा बगीचा बड़ा फूल—मोमबत्ती।
६. ऊपर आग नीचे पानी—हुक्का।
७. जनमा तो बड़ा, बूढ़ा हुआ तो छोटा—हल।
८. सफेद मुर्गी छींटती है, काली मुर्गी बटोरती है—दिन-रात।
९. राजा की धोती कौन नापे—सड़क।

जिस तरह नदी की निर्मल धारा में नीचे की धरती स्पष्ट दिखाई देती है, उसी तरह उराँवों के सारे साहित्य में उनका विनोदी स्वभाव प्रकट हुआ है। यदि मध्यभारत के बैगा, पूर्वी राँची के मुण्डा और इन उराँवों के लोक-गीतों की तुलना की जाय, तो इनमें उनके विशेष स्वभाव और अभिरुचि का पता चल सकता है। बैगा के यौन-भावात्मक प्रतीक, मुण्डा के संयत प्रेम और भावोद्गार तथा उराँव की, कदम-कदम पर विनोद-प्रियता, तीनों के स्वभाव के अन्तर को स्पष्ट कर देती है। मुण्डा अपने जीवन के समान ही गीतों में भी 'फार्म' शिष्टता और मर्यादा का पालन करता है और उराँव अपने जीवन के समान ही उनमें भी स्वच्छन्दतापूर्वक उछलता-कूदता है, विनोद करता है और व्यंग्य के तीर मारता है। मुण्डा के गीतों में *नियमानुसार तीन-चार कड़ियाँ हैं,* पंक्तियों में समानता है और एक कड़ी की ऊपर-नीचे की दो पंक्तियों में प्रत्येक शब्द की समानार्थक या विपरीतार्थक आवृत्ति है। पर उराँव के गीत प्रायः चार, अधिक-से-अधिक पाँच-छह पंक्तियों के हैं। सहज और सरल पंक्तियाँ! न पैतराबाजी, न घेराबन्दी। 'शिकार देखा और तीर मारा। मुण्डा-गीत, किसी अर्थ में कुछ दूर तक रचना हैं, पर उराँव-गीत सहज-अभिव्यक्ति! किन्तु इससे उनके सौन्दर्य और प्रभाव में कोई कमी नहीं आने पाई है। इससे उनकी बेधकता बढ़ी ही है। प्रतीकों ने तो उस पर और सान चढ़ा दिया है।

सरहुल के प्रभात में जब सूर्य की धरती से शादी होती है, तब पाहन ही सूर्य का प्रतिनिधि बनता है। धार्मिक अवसर पर भी बेचारा पाहन निम्नलिखित गान में विनोद के तीर से बचने नहीं पाता है—

इनमें एक ओर अरमान के संकेत-चित्र और दूसरी ओर कामचोर या आलसी
पर व्यंग्य ! यह किसी पत्नी का कामचोर पति या बहन का आलसी भाई होगा।

गीतों की चौथी श्रेणी में छोटे बच्चों के गीत हैं, जिन्हें 'चाली बेंचना' या 'अगि
खेल' कहते हैं। बच्चे उन्हें गा गाकर खेलते हैं। एक गीत का भाव सुनिए:—

माँ, हमारे छप्पर पर खटमट बैठा है!
माँ, खट-खट सारी रात बोलता रहता है!
माँ, सरसों के घड़े में डली के ढेले हैं!
माँ, उन्हें निकालकर फेंक दो!
माँ, तुम्हारा दामाद लँगड़ा है!
हाय माँ, उसके साथ मैं नहीं रहूँगी!

इन विभिन्न प्रकार के गीतों के बाद उराँव-साहित्य में कहानियों का स्थान है, जि
चाँद, सूरज, धरती, मनुष्य, देवता, नदी, पर्वत, पर्व, त्यौहार आदि की उत्पत्ति-सम्ब
धर्म-गाथाएँ और अपने किसी मूल स्थान से वर्तमान निवास-स्थान तक आगम
लम्बी दूरी के संघर्षों और घटना-चक्रों, रोहतासगढ़ के अपने राज्य की गौरवपूर्ण स्मृति
मुसलमानों के साथ संघर्षों, अनेक जातियों, समाजों और श्रेणियों के साथ अपने खट्टे-मी
नानाविध सम्पर्कों के अवदान तथा चालाकी, दुस्साहस, जादू-टोना आदि विषयों
राक्षसों, पशु-पक्षियों और मानव-सन्तानों के विस्मयजनक सम्बन्धों की सामान्य लोक-कथा
भरी-पड़ी हैं।

फिर, कहानियों के प्रथम वर्ग धर्म-गाथाओं में ही टोटमे या लाछन-सम्बन्धी कहानि
आती हैं। जैसा हमें विदित है, आदिम जातियों के विभिन्न वर्ग, विभिन
वन-पदार्थों, पशु-पक्षियों और लता-वृक्षों से अपना कोई आधिप्राकृतिक सम्बन्ध मानते हैं
उसी वस्तु-विशेष के नाम पर उनका गोत्र होता है। इसीलिए वे उसका समुचि
सम्मान करते हैं।

अपने उस 'टोटमे' के साथ, किसी पूर्वयुग में, अपने किसी पूर्वज का अनायास
सम्बन्ध स्थापित हो जाने के विषय में, सभी गोत्रों में कोई-न-कोई किंवदन्ती प्रचलित है।
उस किंवदन्ती के प्रति उनका मनोरंजन-भाव नहीं, विश्वास-भाव है। गोत्र केवल
५०-६० हैं, पर प्रत्येक गोत्र की कोई एक ही कहानी नहीं है। दूसरी ओर बहुत-से गोत्रों की
कहानियाँ एक ही तत्त्व से गढ़ी गई हैं।

प्रायः सभी तरह की कथाओं में इनके मानसिक स्तर और जंगल के भयानक
वातावरण के अनुकूल अलौकिक और विस्मयजनक भाव आये हैं। कहानियों में जो
मर्मस्थल हैं, वे करुण गीतों के रूप में प्रकट हुए हैं।

इनके साहित्य में बुझौवलों और कहावतों की संख्या भी बहुत अधिक
नित्य-सम्पर्क के जो पदार्थ हैं, उन्हें पहेली-रूप में उपस्थित करके ५.

उनका कहीं सिर पैर नहीं पाकर उसके कान चुब्ध हो उठे। डाल्टन साहब छोटानागपुर में बहुत दिनों तक कमिश्नर रहे; उन्होंने उराँवों के जीवन पर बहुत-कुछ, सम्पूर्ण—फर्स्टहैण्ड निरीक्षण के आधार पर लिखा, पर मानों सारे छोटानागपुर में एक भी बाजे की ताल और गीत की कड़ी उन्हें सुनाई नहीं पड़ी।

कुरुख-भाषा पर सबसे पहला कार्य, अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी के जरनल में छपे हुए कुछ शब्द थे। फिर रेव० ओ० फ्लैक्स की एक पुस्तक भाषा के सम्बन्ध में सन् १८७४ ई० में कलकत्ता में छपी। इनके बाद रेव० एफ्० बैच, रेव० एफ्० हॉन, रेव० ए० ग्रिनार्ड आदि के अनेक कुरुख-व्याकरण और शब्दकोश निकले। लोकवार्त्ता पर पहली छोटी-सी पुस्तक रेव० एफ्० हॉन की सन् १९०४ ई० में और दूसरी रेव० ए० ग्रिनार्ड की सन् १९२४ ई० में निकली। फिर सन् १९४१ ई० में रेव० हॉन, श्रीधर्मदास लकड़ा और श्रीआर्चर ने कुरुख और नागपुरिया—दोनों भाषाओं के २६६० गीतों का एक विशाल संग्रह नागरी-लिपि में निकाला। लेकिन वह कोरा संग्रह ही रहा; न उसमें अनुवाद था, न विश्लेषण। हाँ, इंगलैंड वापस जाकर श्रीआर्चर ने उराँव-गीतों के विश्लेषण में उच्चकोटि की तीन पुस्तकें अँगरेजी में निकाली हैं—

१. दी ब्लू-ग्रोव
२. दि डभ एण्ड दी लेपर्ड
३. एमंग दि ग्रीन-लीव्ज

श्रीबिहारी लकड़ा के पचास गीतों की पुस्तक 'कुरुख-डण्डी' और श्रीतेजू भगत, श्रीधोये उराँव, श्रीजमुआ भगत द्वारा संगृहीत गीत-पुस्तक 'चाजिका-कुरुख-डण्डी' नागरी-लिपि में छपी हैं। श्रीदवले कुजुर की, जिनकी छोटी अवस्था में ही मृत्यु हो गई, रस-सिद्ध मनोहर कविताओं का एक संग्रह 'मुंता-गूँप-झुँगा' नाम से छपा है। रेव० अहलानुस कुजुर का बाइबिल का अनुवाद सन् १९५० ई० में और ईसाइयों के धार्मिक भजनों की एक किताब हाल ही में प्रकाशित हुई है।

कुछ निजी प्रयत्नों से और विशेषकर बिहार-सरकार के कल्याण-विभाग की सहायता और प्रोत्साहन से इधर हाल में उराँव-भाषा में, नागरी-लिपि में तीन-चार बहुत उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। पहली है कुरुख-भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् और सुयोग्य अध्यापक श्रीआह्लाद तिर्की की व्याकरण की पुस्तक 'कुड़ुख-सहहा'। नई भाषा सीखने के लिए यह पुस्तक बड़ी सरल और सुन्दर है। दूसरी है, डॉ० मिखाइल तिग्गा की व्याकरण की पुस्तक 'काथ खरा कत्थ तिल्लिन ईदऊ'। उन्हीं की एक तीसरी बड़ी पुस्तक 'उराँव-हिन्दी इङ्गलिश डिक्शनरी' प्रकाशित हो रही है। सन् १९५६ ई० में रेव० सी० ब्लीम की 'ऐन इंगलिश-उराँव डिक्शनरी' छपी है। वर्णमाला, भाषा और गणित की बहुत-सी छोटी-मोटी पुस्तकें भी निकली हैं।

इधर उराँव भाषा में नई कविताओं की बड़ी सुन्दर रचना हो रही है। श्रीधावला उराँव, रेव० मङ्गल लकड़ा, श्री एम० डी० जूलियस तिग्गा तथा कुछ और होनहार नवयुवक

कवि नये जीवन और जागरण की अपनी कविताओं से इसके साहित्य को समृद्ध बना रहे हैं। बहुत दिनों का सोया हुआ समाज इन नई कविताओं में नये जीवन की अँगड़ाई ले रहा है। श्रीयुलियस तिग्गा ने अपनी शिक्षा-संस्था धुमकुरिया द्वारा, जो अपने प्राचीन सांस्कृतिक उपकरणों के माध्यम से शिक्षा के प्रयोग का अकेला उदाहरण है, उराँव-साहित्य और संस्कृति की भी अमूल्य सेवा की है। वैसे ही गुमला-क्षेत्र में भीआयता उराँव और श्रीयुकरू भगत भाषा, साहित्य और संस्कृति के उत्थान के लिए प्रयत्नशील हैं। श्रीआह्लाद तिर्की ने 'कुड़ुख-पुरखा-नीरी' नाम से १०० कहानियों का सानुवाद सुन्दर संग्रह किया है, पर ये सारी चीजें अभी अप्रकाशित हैं। श्रीतिर्की ने मुझे बताया कि स्वर्गीय श्रीदवले कुजुर की कविताओं का 'फूलों का दूसरा गुच्छा', उनकी पत्नी के पास पड़ा है।

कुछ पत्रिकाओं के लिए भी प्रयत्न हो चुके हैं, किन्तु अर्थ और साधन के अभाव से उन्हें बीच में ही बन्द कर देना पड़ा है। सन् १६४० ई० में श्री इगनेस वेक ने 'विजविनको' नामक मासिक पत्रिका निकाली, जिसके ५-६ अंक ही निकल पाये। फिर, सन् १६४६ ई० में श्रीआह्लाद तिर्की ने 'बोलता' मासिक पत्रिका निकाली। वह भी ६ अंकों के बाद बन्द हो गई। श्रीतिर्की के ही सम्पादकत्व में 'धुमकुड़िया' मासिक पत्रिका सन् १६५० ई० में निकली, जो दो वर्षों तक चली।

उपर्युक्त विवरण इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि बावजूद इन बहुत-से प्रकाशनों के, कुड़ख-लोक-साहित्य का समुचित संग्रह और राष्ट्रभाषा में अनुवाद तथा अध्ययन अभी तक बिलकुल नहीं हो पाया है। इसलिए, इनके जीवन के वे बहुत-से द्वार, जो केवल साहित्य की ही कुंजी द्वारा खोले जा सकते हैं, अभी तक बन्द हैं। आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के अन्य पहलू यदि आदिम-समाज के शरीर हैं, तो नृत्य और संगीतमय साहित्य उसका प्राण। आज इन जातियों के अभ्युत्थान के लिए काफी प्रयत्न हो रहे हैं। किन्तु बिना इस साहित्य को माध्यम बनाये यह समझना कठिन है कि उनके विकास की इमारत किस धरती पर, किस आधार-शिला पर और कौन-से उपादानों से खड़ी की जाय।

दूसरे, पूरे भारतीय समाज के अस्तित्व को समझने के लिए भी आज आदिम-जातियों का अध्ययन आवश्यक हो गया है। अब तक भारतीय संस्कृति को आदिम-जातियों की देन के जो रहस्य प्रकट हो चुके हैं, वे चुनौती दे रहे हैं कि 'आईने' में नहीं, 'एक्सरे' में अपनी छवि देखो! तुम्हारे रक्त-मांस-मज्जा, यहाँ तक कि हृदय और मस्तिष्क में भी आदिवासी मौजूद हैं।

शिक्षा, सम्पर्क और उत्तम जीवन की नई आकांक्षाओं के पावन प्रभात में जागरित हो रहे उराँव-समाज को भी यह तथ्य समझना है कि बाजार के काँच की चकाचौंध में पड़कर अपने कंचन को फेंक देना श्रेयस्कर नहीं होगा। उन्हें अपने प्राचीन साहित्य की रक्षा इसलिए नहीं करनी चाहिए कि वही युग-युगान्तर तक उनकी भूख-प्यास मिटाता रहेगा।

निश्चय ही प्रभाव और सम्पर्क से उनकी भाषा का स्वरूप, और नई पीढ़ियों के जीवन मे उसका स्थान बदलेगा, भावी सन्ततियाँ उन्हीं पुराने गीतों, कथानकों से अपनी आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर पायेंगी। किन्तु, जिन्हें आदिम-मानव ने जीवन के कठिन संघर्षों, अनुभवों और अनवरत शोधों के बाद पतवार के रूप में पाया था, आनन्द और मनोरंजन के उन स्वावलम्बी और विकेन्द्रित तत्त्वों का महत्त्व प्रत्येक युग में समान रूप से बना रहेगा। उन तत्त्वों की रक्षा इसलिए नहीं होनी चाहिए की वे आदिम-जातियों के हैं। यह कार्य किसी साम्प्रदायिक दुराग्रह के कारण नहीं, वरन् इसलिए होना चाहिए कि वे पुरुष और प्रकृति की सनातन पहिचान हैं, उन्हीं तत्त्वों के संस्पर्श से जगलों में फूल खिलते हैं, धरती पर अंकुर जमते हैं, बाँसुरी से स्वर फूटता है और मनुष्यों में प्रेम जगता है। और, जब वे तत्त्व मिट जाते हैं, तब धरती बाँझ हो जाती है और अपनी संतानों के लिए उसकी आँखों का पानी और उसके स्तनों का दूध सूख जाता है।

प्रकाशित सामग्री

(क) शब्दकोश-व्याकरण—

(१) कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति—जरनल ऑफ् अमेरिकन-ओरियण्टल-सोसाइटी।

(२) ऐन इण्ट्रोडक्शन टु द उराँव लैंग्वेज—रेव० ओ० फ्लैक्स—कलकत्ता, सन् १८७४ ई०।

(३) ब्रीफ ग्रामर एण्ड भाकुबुलरी ऑफ् उराँव लैंग्वेज—रेव० एफ्० बैच—जरनल, एसि० सो० ऑफ् बँगाल; अंक ३५, १८८६ ई०।

(४) इंडियोम ऑफ् द ग्रामर ऑफ् उराँव लैंग्वेज—रेव० एफ्० बैच।

(५) स्पेसिमेन ऑफ् लैंग्वेजेज् ऑफ् इण्डिया—सर जॉर्ज कैम्बेल।

(६) कुरुख-ग्रामर—रेव० फर्डिनेण्ड हॉन—कलकत्ता, सन् १८६८ ई०।

(७) कुरुख-इंगलिश डिक्शनरी—रेव० एफ्० हॉन—कलकत्ता, सन् १६०० ई०।

(८) उराँव-डिक्शनरी (ए से एल् तक)—रेव० फा० थियोसिलस योदस्सन।

(९) ऐन उराँव-इङ्गलिश डिक्शनरी—रेव० ए० ग्रिनार्ड; सन् १६२४ ई०।

(१०) ए ग्रामर ऑफ् दि उराँव लैंग्वेज, एण्ड स्टडी इन उराँव एडवर्सरिया। रेव० ए० ग्रिनार्ड, सन् १६२४ ई०।

(११) कुड़ुख-गहरा—श्रीआह्लाद तिर्की; सन् १६४६ ई०।

(१२) कत्थ अरा कत्थ चिल्लिन ईदऊ—डॉ० मिखाइल तिग्गा।

(१३) ऐन इंगलिश-उराँव-डिक्शनरी—रेव० सी० ब्लीस०, सन् १६५६ ई०।

(ख) लोक-साहित्य—

(१४) कुड़ुख-फोक-लोर—रेव० एफ० हॉन; सन् १६०६ ई०।

(१५) कुड़ुख फोक लोर—रेव० ए० ग्रिनार्ड।

(१६) लील-खोरा-खेखेल—(गीत-संग्रह) रेव० एफ्० हॉन, धर्मदास लकड़ा और डब्ल्यू० जी० आर्चर—सन् १६४१ ई० (लहेरियासराय)।

(१७) दि ब्लू ग्रोव—डब्ल्यू० जी० आर्चर—सन् १६४० ई०। (लोक गीतों की व्याख्या)

(१८) दि डव एण्ड दि लेपर्ड—डब्ल्यू० जी० आर्चर; सन् १६४१ ई०। (लोक-गीतों की व्याख्या)

(१९) एमङ दि ग्रीन मान्ट्स—डब्ल्यू० जी० आर्चर। (लोक गीतों की व्याख्या)

(२०) मुन्ता-पूँप झुँगा—कविताएँ—श्रीदवले कुजुर, राँची; सन् १६५० ई०।

(२१) कुड़ुख-डण्डी—कविताएँ—श्रीबिहारी लकड़ा।

(२२) नाजिका कुड़ुख डण्डी—श्रीईदु भगत, श्री[illegible] उराँव, श्री[illegible] भगत।

(ग) ईसाइयों का धार्मिक साहित्य—

(२३) ट्रान्सलेशन ऑफ् दि बाइबिल—रेव० [illegible] कुजुर।

(२४) कुड़ुख डण्डी—धार्मिक गानों का संग्रह।

(घ) पाठ्य पुस्तकें—

(२५) कुड़ुख-वर्णमाला—श्रीसामुएल रंका; सन् १६३७ ई०, राँची।

(२६) कुड़ुख-वचना गही मुन्ता पुथी—पं० मिखाइल तिग्गा; सन् १६३६ ई०।

(२७) अलखना रिरियारना ,, ,,

(२८) परिदगरगे अंगियाना पुथी ,, ,,

(२६) रिम्फ वचना ,, ,,

(३०) कुड़ुख कत्था खिखरा आगे मुन्ता पुथी—श्रीजोहन मिंज, सन् १६४८ ई०।

(३१) योलो गणित—
(३२) लील-खोरा गणित } सी० के० टोप्पो

(च) पत्र-पत्रिकाएँ—

(३३) पिंज बिनको—(मासिक पत्रिका)—सन् १६४० ई० (केवल ६ अंक)

(३४) योलता—(मासिक)—सन् १६४६ ई० (केवल ६ अंक)

(३५) धुमकुड़िया—(मासिक)—सन् १६५० ई० से सन् १६५२ ई० तक।

हो भाषा और साहित्य

पृष्ठभूमि

शब्द-कोश, व्याकरण, भाषा-रचना इत्यादि सभी तत्त्वों की दृष्टि से 'भारत की मुण्डारी, हो, संताली-भूमिज, बिरहोर, असुर, कोड़ा, कोड़वा, कुरकू, खरिया, जुवांग, सवर, गड़वा' आदि भाषाएँ एक-दूसरी के बहुत समीप हैं। इनमें भी हो-मुण्डारी में इतना अधिक सामीप्य है कि इन्हें दो नहीं मान सकते। इनकी श्रुति-एकता ही इनके सामीप्य का पूर्ण साक्षी है। सचमुच, ये दोनों ही आस्ट्रिक भाषा-परिवार के ही सदस्य हैं। इनके बोलनेवालों की संख्या भारत में करीब १२ लाख से ऊपर है।

नृतत्त्व-शास्त्रियों की दृष्टि से भारत की आदिम जातियों में तीन मूल वंश के लोग हैं—निग्रीटो, प्रोटो-आस्ट्रेलाइड तथा मंगोलाइड। इनमें प्रोटो-आस्ट्रेलाइड-वंश के लोग सबसे अधिक हैं और सारे भारत में भरे-पड़े हैं। मध्य और दक्षिण भारत की सभी जन-जातियाँ निश्चित रूप से इसी परिवार से सम्बन्ध रखती हैं।

सहोदरों की बोली भी बहुत दिनों तक विभिन्न जगहों पर भिन्न-भिन्न भाषा बोलते रहने के कारण बदल जाती है, यद्यपि तब भी उनकी नसों में वही रक्त दौड़ता रहता है। उनकी बदली हुई बोली तो कभी-कभी इतना धोखा दे जाती है कि यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि वे एक ही परिवार के हैं।

पश्चिम-भारत की सभी जातियाँ, मध्यभारत के पहाड़ों में रहनेवाली कोल, भील, बइगा, कोड़वा, खरवार, मुण्डा, भूमिज, माल, पहाड़िया, दक्षिण-भारत की चेंचू, कुरम्बा आदि जातियाँ भी इसी परिवार की प्रतिनिधि समझी जा सकती हैं।

जहाँ तक 'मंगोलाइड' की बात है, इसकी भारतीय शाखा भारत के उत्तर-पूर्वी भाग में, खासकर आसाम में, बसी है। और, सबसे प्राचीन 'निग्रीटो' आवणकोर की कादन और पालियन तथा राजमहल की बागड़ी जाति के रूप में अपने अस्तित्व की रक्षा कर रही है।

किन्तु जैसा हमने कहा, बोली द्वारा वंश का पता लगाना कठिन है। हम भ्रम में पड़ जा सकते हैं। 'उराँव', 'मालतो' आदि भाषा-भाषियों को 'मुण्डा हो'-भाषाभाषों के ही परिवार का समझना आज कठिन हो गया है। कुछ विद्वानों ने तो इन्हें 'प्रोटो-आस्ट्रेलाइड' वंश का न समझकर 'द्राविडियन' कह ही दिया था। पहले-पहल डॉ० बी० एस्० गुहा ने इस भ्रम को दूर किया। इस प्रकार, हम देखते हैं कि बोली एक चीज है और वंश दूसरी। पहली चीज सीखी जाती है, दूसरी प्राप्त होती है। पहली

संसर्ग तथा अभ्यास से प्राप्त होती है, दूसरी माता-पिता से मिलती है। पहली अर्जी जा सकती है, दूसरी विरासत में ही मिलती है। हाँ, बोली और वंश की शुद्धता को निभाना परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

मुण्डारी और हो-भाषा के बीच वही अन्तर है, जो मधुबनी और समस्तीपुर की मैथिली में, ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज की अँगरेजी में तथा आरा और छपरा की भोजपुरी में।

मुण्डा लोग 'ड़' का उच्चारण करते हैं, हो लोग नहीं। मुण्डा का 'होड़ो' ही हो का 'हो' (आदमी) है, 'कोड़ा' ही 'कोआ' (लड़का), 'कुड़ी' ही 'कुई' (लड़की) तथा 'ओड़ा' ही 'ओआ' (घर)। सचमुच 'हो' वही 'मुण्डा' है, जिसने अपनी भाषा के रुखड़े 'ड़' को घिस-घिसकर चिकना कर दिया है। हो का उच्चारण कोमलतर और विशेष लोच से भरा है। यह उनके जीवन में विशेष रूप से प्रवाहित हो रहा है। रस उनके रहन-सहन, बात-चीत, भाव-भङ्गिमा, घर-द्वार सभी में समा गया है। शायद हो-जाति के स्वभाव में भी कला और कोमलता विशेष रूप से भरी है। वे मुण्डों की अपेक्षा नृत्य-गीत के विशेष प्रेमी हैं, जीवन का रस लेने की प्रवृत्ति उनमें अधिक है। उनके घर, उनकी इस कोमलता, सुरुचि तथा कलात्मकता के जीवित साक्षी हैं।

हो-भाषा के साहित्य के सम्बन्ध में जो कुछ भी चर्चा अन्य विद्वानों ने की है, उसे 'मुण्डारी' की ही चर्चा कहनी चाहिए, 'हो' की नहीं। डॉ० ग्रियर्सन ने मुण्डा इत्यादि जातियों की भाषा के लिए 'कोलारियन' शब्द का व्यवहार किया है। आगे चलकर फ्रेडरिक कीलर ने इसे 'मुण्डा'-भाषा का नाम दिया। किन्तु हो-जाति की चर्चा करते हुए डॉ० ग्रियर्सन ने उनके लिए 'लड़ाका-कोल' शब्द का व्यवहार किया है। शायद उनका यह आशय था कि यह 'कोल' की वह शाखा है, जिसके दिन लड़ते ही बीते हों, जो लड़ाकू हैं; जिन्होंने लड़ाई की है अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए, अपनी सभ्यता और संस्कृति को बचाने के लिए। इतिहास के जीवित पन्नों को पढ़नेवाले डॉ० ग्रियर्सन ने 'हो' के सम्बन्ध में अपने इस विचार को सचमुच बहुत अध्ययन और मनन के बाद ही लिखा होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। 'हो'-जाति के लोग मुण्डाओं की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रताप्रिय तथा आत्मविश्वासी हैं। उन्हें अपनी भाषा, धर्म तथा संस्कृति में अधिक आस्था है। यही कारण है कि जहाँ एक ओर मुण्डा-जाति के लोगों का बहुत बड़ा समुदाय स्वधर्म त्याग करने को बाध्य हुआ, जहाँ उनका बोङ्गा (देवता) मुक्त वन-पर्वत-प्रान्तर-पथों को पार करने में थकावट महसूस कर गिर्जा में जाकर विश्राम लेने लगा, वहाँ 'हो' का बोङ्गा आज भी मुक्त अम्बर के नीचे, सघन शालवन के बीच, निर्झरिणी के मधुर कल्लोलों के बीच विहार कर रहा है। एक ओर जहाँ सभ्यता के नवीनतम उपकरणों के ग्रहण करने में 'हो' का मुकाबला प्रायः भारत की कोई अन्य जन-जाति नहीं कर सकती, वहीं दूसरी ओर अपनी मूल जातिगत भावनाओं, सामाजिक आस्थाओं तथा सांस्कृतिक विशेषताओं और चारित्रिक विभूतियों को जुगाकर पवित्र और अछूता रखने में उनकी बराबरी कोई जन-जाति नहीं कर सकती। नाइलन की साड़ी की ओर

उनकी स्त्रियों का उतना ही आकर्षण है, जितना पार्थिव लाभों की कीमत पर अपने धर्म को बेचने के प्रति विकर्षण। अगर ये नवीनतम पार्थिव प्रसाधनों को खरीदेंगे, तो स्वार्जित कागजी नोट की कीमत पर, और अपने बोङ्गा की पूजा करेंगे, तो स्वधर्म में अपनी अटूट आस्था के पुष्प चढ़ाकर। और, अपनी बहुरंगी संस्कृति की रक्षा करेंगे, तो प्रकृति की बहुरंगी गोद में छिपकर। यही कारण है कि मुण्डा-जाति का यह स्वाभिमानी मानव-दल (हो) किसी दिन एक साथ आकर सिंहभूमि के उस अंचल में बस गया, जहाँ उसे छेड़नेवाला कोई था ही नहीं। जब मुण्डा की अन्य शाखा जिधर-तिधर बिखरी-बहकती चली गई, तब अपने मूल जातिगत आधार से दूर, पतली और क्षीण होती हुई, उसकी यह शाखा ऊपर ही सिमिट-सिमिटकर बढ़ती गई, अपने मूलाधार के ऊपर ही, अपने सभी गौरवों के साथ।

सचमुच, मुण्डा-परिवार के लड़ाकू स्वाभिमानी सदस्य का ही नाम 'हो' है। उसके वंश-वृक्ष की सर्वोच्च चोटी ही यह शाखा है। लोगों का कहना है, और मेरा भी विश्वास है, कि जब गैर-आदिवासियों ने आदिवासियों के लिए अपमान या तिरस्कार के भावों से सनी कोल, भील-जैसी संज्ञा दी होगी, तब इसकी प्रतिक्रिया के रूप में उन्होंने अपने को सम्बोधित 'हो', अर्थात् मनुष्य और 'मुण्डा', अर्थात् सिर (प्रमुख) कहकर किया होगा। 'हो' का अर्थ है मनुष्य और 'मुण्डा' का सिर। ये संज्ञाएँ आज भी प्रतिक्रिया के रूप में हमसे कहती हैं—हम मनुष्य हैं। हममें मानवेतर कोई नहीं! उनके स्वाभिमान की अमर घोषणा उनके इस एकाक्षरी शब्द 'हो' द्वारा आज भी हो रही है। उनके जातीय स्वाभिमान का सजीव इतिहास इस एक अक्षर में छिपा है।

भाषा-प्रकरण

हो-भाषा का शब्द-भाण्डार यद्यपि उतना समृद्ध नहीं, तथापि यह व्याकरण की सभी मर्यादाओं और उसके सभी सर्जनात्मक तत्त्वों से युक्त है। भाषा में व्याकरण यद्यपि साहित्य के बाद ही आता है, फिर भी वह भाषा का अनुचर अब नहीं रह गया, पथ-प्रदर्शक होकर ही हमारे सामने है—जैसा कि जीवन के अन्य क्षेत्र में हुआ करता है। पिता पुत्र के अधीन हो जाता है, मानव-निर्मित यंत्र उसका दास नहीं, मालिक बन बैठता है। अतः हम यहाँ साहित्य की चर्चा व्याकरण के बाद ही करेंगे—पाणिनि के बाद ही वाल्मिकि का स्मरण करेंगे।

लिपि और उच्चारण—हो-भाषा का ही क्यों, प्रायः भारत की अधिकतर जनपदीय भाषाओं, शब्दों को भारतीय लिपि में विशुद्ध रूप में व्यक्त करने का प्रयास अभी तक प्रारम्भ नहीं हुआ है। उनकी अपनी लिपि नहीं, और अन्य लिपियों में उन्हें लिखकर, उच्चारण की विशेषताओं के लिए कोई चिह्न निश्चित रूप से कायम नहीं किये गये हैं। यद्यपि देवनागरी-लिपि में उन भाषाओं के साहित्य-सर्जन का स्वर्णिम काल क्षितिज पर नजर आ रहा है, तथापि सच तो यही है कि उनके अलिखित साहित्य को लिखने का प्रयास अगर किसी ने किया, तो मिशनरी पादरियों ने या अँगरेज शासकों ने। यह स्वाभाविक ही था कि वे वन-पर्वत-प्रान्तर-वासियों के हृदय में बहती हुई साहित्य-गंगा की

लहरों और निर्झरिणी से निस्सृत लोक-साहित्य के जीवित उत्सों को गूँथने के लिए 'रोमन-लिपि' को ही उपयुक्त समझें। पर 'रोमन-लिपि' इस औद्योगिक-व्यावसायिक-यान्त्रिक युग में पूर्ण अक्षर ब्रह्म का प्रतीक माने जाने पर भी शुद्ध भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बिलकुल ही असमर्थ तथा कृत्रिम वर्णमाला ही है। शुद्ध और समर्थ वर्णमाला वही कहला सकती है, जो मुँह से निकली हुई एक-एक ध्वनि को ठीक उसी तरह बाँधकर दूसरों के सामने उपस्थित कर दे, जिस तरह वह बोलनेवाले के मुँह से निकली थी। शब्द का प्रत्येक अंश उसको बाँधनेवाले अक्षर का सही प्रतीक हो। पर 'रोमन-लिपि' करती क्या है? 'फा-द-र' को बाँधती है—'एफ्-ए-टी-एच्-ई-आर्' के लम्बे कृत्रिम अक्षर-तार से! फलतः, इन वनवासियों के मुख से निकली हुई प्राकृतिक स्वर लहरी जब-जब इस अक्षम और कृत्रिम अक्षर-तार से बाँधी गई, तब-तब इस बन्धन का दाग उन कंठावगुंठित कोमल भाषाओं पर बहुत भद्दे ढंग से पड़ा। फिर भी, हम इन मिशनरियों के, उन अँगरेज शासकों के चिर-कृतज्ञ रहेंगे, जिन्होंने लोक-भाषा की सरस साहित्य सरिता को बाँधकर नवीन सर्जनात्मक शक्तियों की ओर संकेत किया! जन-साहित्य को बटोरकर साहित्य-संसार में एक नये प्रेरणा-स्रोत की ओर इशारा किया।

किन्तु, आज इसकी परम आवश्यकता है कि इनका साहित्य देवनागरी-लिपि में ही लिखा जाय। उनके व्याकरण, शब्द-कोश इत्यादि सभी देवनागरी-लिपि में ही तैयार हों। देवनागरी-लिपि शायद दुनिया की सभी लिपियों में सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है। फिर भी, इसमें कुछ सुधार की आवश्यकता तो है ही; खासकर इन जन-जातीय भाषाओं को सही-सही व्यक्त कर सकने के लिए। कुछ लोगों ने इसके लिए कई तरह के चिह्नों के प्रयोग किये हैं, पर इन्हें अभी स्थायित्व प्राप्त नहीं हुआ है। यह बात सत्य है कि थोड़े-से सुधार से ही देवनागरी-लिपि में वह व्यावहारिक शक्ति आ सकती है, जो प्रायः रोमन-लिपि में नहीं आ सकती।

अगर हम देवनागरी-लिपि में हो हो-भाषा को लिखें, तो निम्नलिखित बातें हमें जाननी चाहिए।

'अ', 'आ'—हो या मुण्डारी में 'अ' का उच्चारण हिन्दी 'अ' की अपेक्षा अधिक मुँह खोलकर करना चाहिए, किन्तु 'आ' का कम मुँह खोलकर। फलतः अ, आ के बीच जितना अन्तर हिन्दी में है, उतना मुण्डारी में नहीं।

'इ', 'ई' तथा 'उ', 'ऊ'—हो या मुण्डारी में अधिकतर ह्रस्व 'इ' और 'उ' का ही व्यवहार होता है, किन्तु जहाँ किसी जाति, वर्ग या दलवालों के व्यवसाय, व्यापार, रीति-रिवाज, आदत इत्यादि की बात की जाती है और अगर उनको व्यक्त करनेवाला शब्द 'अ', 'इ', 'उ' से आरम्भ हो, तो क्रमशः अ का आ, इ का ई और उ का ऊ हो जाता है। जैसे—'कोड़ा को कुड़ी को आइन्दिया' (लड़का-लड़की की शादी होगी)—यहाँ 'अइन्दी' का 'आइन्दी' हो गया। 'अगन रे होहो को बाबा को ईरा'—यहाँ 'इरा' का 'ईरा' हो गया।

'ए', 'ओ'—हिन्दी की तरह ही उच्चरित होते हैं।

'ऐ', 'औ'—का काम 'अइ', 'अउ' द्वारा ही अधिकतर चलाया जाता है।

अनुस्वार—का काम अधिकतर 'ङ', 'ञ' द्वारा चलता है।

विसर्ग—यद्यपि हिन्दी के विसर्ग का व्यवहार भी होता है, तथापि बहुत लोगों ने विसर्ग का व्यवहार उन जगहों पर भी किया है, जहाँ अर्धावरोधित अक्षर का व्यवहार होना चाहिए। जैसे—'दाः' (पानी) का सही रूप मेरी समझ से 'दाअ्', अर्थात् 'दा' के बाद 'अ' का अवरुद्ध उच्चारण होना चाहिए।

'क', 'ग', 'ङ'। 'च', 'ज', 'ञ'। 'ट', 'ड', 'ण'। 'त', 'द', 'न'। 'प', 'ब', 'म'। 'र', 'ल', 'व', 'स', 'ह'—ये सभी हिन्दी की तरह ही उच्चरित होते हैं।

'य' का काम अधिकतर 'अ' से ही चलता है। दोनों में बहुत कम अन्तर है।

'ण'—जब मुण्डा या हो हिन्दी या अन्य भाषा के शब्दों को अपना बनाकर उच्चारण करते हैं, तब 'न' की जगह 'ण' का उच्चारण करते हैं। जैसे—बनिया को बणिया कहेंगे।

'ह'—मुण्डा या हो जब अन्य भाषा के ऐसे शब्दों का उच्चारण करते हैं, जिसके मध्य में 'ह' प्रयुक्त हो, तब इस 'ह' को 'अ' कर देते हैं या छोड़ देते हैं। जैसे—साहेब का साएब; महाय का साय।

महाप्राण के प्रयोग—मुण्डारी या हो-भाषा में महाप्राण का प्रयोग नहीं होता। हाँ, अब अन्य लोगों के संसर्ग में आकर कुछ लोग कभी-कभी महाप्राण का प्रयोग करने लगे हैं। किन्तु जब कोई मुण्डा किसी पर अपना घोर क्रोध जताना चाहता है, तब वह अल्पप्राण के बदले उसी के महाप्राण का उच्चारण कर बैठता है। जैसे, कोई पिता अपने लड़के पर कुपित होकर थप्पड़ या लात मारने की बात कहता है, तो पहली दो बार तक वह 'तबड़ी' या 'पदा' शब्द का व्यवहार करेगा। किन्तु यदि उसे तीसरी बार भी कहना पड़े, तो 'तबड़ी' के बदले 'थबड़ी' तथा 'पदा' के बदले 'फदा' कह बैठेगा।

वे दूसरी भाषाओं के शब्दों का व्यवहार करते समय भी उनके महाप्राण को अल्पप्राण बनाकर ही बोलते हैं। अल्पप्राण, महाप्राणों की अपेक्षा मधुर और मुलायम होते हैं और ऐसा मालूम पड़ता है कि पहाड़ों और जंगलों के बीच बसनेवाले मुण्डा हो के शब्दों की कठोरता स्वयं गिरिराज ही पी गये हों और निर्झरिणी ने उनके कण्ठ में कोमलता उड़ेल दी हो। उनके उच्चारण-यंत्र (कंठ) की बनावट ही प्रायः ऐसी है कि महाप्राण का उच्चारण अस्वाभाविक हो जाता है। शायद, लम्बे अभ्यास के बाद उनके स्वर रन्ध्र का विकास अनुकूल दिशा में हो और महाप्राण का उच्चारण भी उनके लिए स्वाभाविक हो जाय।

चूँकि, हो-मुण्डारी-भाषा का साहित्य अभी लिखित रूप में विकसित नहीं हो पाया है, अतः बहुत-से शब्दों की लिखावट अभी तक निश्चित नहीं हो पाई है। एक ही शब्द को लोग भिन्न-भिन्न तरह से लिखते हैं। शायद इनका स्थिरीकरण—देवनागरी लिपि में—इनके साहित्य के विकास के साथ ही हो पायगा।

शब्द—मुण्डारी-हो-भाषा में व्यवहृत शब्दों के विश्लेषण से ऐसा पता चलता है कि इनका मूल शब्द-भण्डार विशेष समृद्ध तो नहीं है, पर अपने [illegible] जीवन की सभी

श्रभिव्यक्तियों के लिए इसमें सभी श्रावश्यक साधन मौजूद हैं। पहाड़ श्रौर जंगल में बसनेवाले उन स्वतंत्र प्रकृति-पुत्रों को, शिकारी श्रौर कृषकों को, नृत्य-गीतादि-प्रेमियों को, जिन-जिन शब्द-साधनों की श्रावश्यकता थी, श्रपने जीवन के लिए, श्रपनी मूक कविता को मानस-पट पर लिखने के लिए, कण्ठ ने ये सभी साधन प्रदान किये हैं। यों तो, मुण्डा द्वारा व्यवहृत बहुत-से शब्दों का उपयोग हो द्वारा उसी श्रर्थ में नहीं होता, फिर भी 'एनसाइक्लोपीडिया मुण्डारिका' की चौदहों जिल्दों से श्रापको 'हो-मुण्डारी' भाषा के शब्द-भाण्डार का श्रन्दाज लगेगा। जरा गहरी नजर से देखने पर एक श्रौर बात भी साफ दिखाई देगी कि इस भाषा में प्रगतिशीलता श्रौर सजीवता भी है; दूसरी भाषा के शब्दों को श्रपने रंग में रँगकर उसे ग्रहण करने की प्रवृत्ति ही नहीं, वरन् उसे पचाने की शक्ति भी है। समाज की नवीन श्रावश्यकताश्रों की पूर्ति श्रौर सभी भावों को व्यक्त करने के लिए, श्रनुकूल शब्दों को ग्रहण कर उन्हें श्रपने ही रंग में रँगने की क्षमता इस भाषा में भी, श्रन्य सभी प्रगतिशील भाषाश्रों की तरह, विद्यमान है। हो-जाति का सम्पर्क ज्यों-ज्यों दूसरों के साथ बढ़ता जाता है, श्रौर शब्दों की नई-नई श्रावश्यकताश्रों को वे महसूस करते जाते हैं, त्यों-त्यों ये बिना किसी हिचक के संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत, मैथिली, बँगला, उड़िया, मागधी, भोजपुरी, फारसी श्रादि भाषाश्रों के शब्दों को श्रपने शब्द-कोश में मिलाते-चले जाते हैं। कुछ उदाहरण—

मुण्डारी-हो	हिन्दी	मुण्डारी-हो	मैथिली
बाती (मुण्डारी)	बत्ती	बाती	दिया-बाती
		गसर	घस
मशकल (हो)	मशाल	किरिंग	किनना
विनती	विनती	चाउली	चाउर
गसर	घिसना	चनकाउ	छनकाउ
जोम	जेमना	एसकर	एसकर
श्रउरी	श्रौर	श्रँजली	श्राँजुर
हो-मुण्डारी	**संस्कृत**	**हो-मुण्डारी**	**संस्कृत**
हिगिर	हार	तुला	तुला
		श्रंजली	श्रंजलि
दारु	दारु	समड़ोम	स्वयंमु्
मुकरी	मुकरी		
			भोजपुरी
		रोग्रा	रोग्रा
कदल	कदल		
सुनुम्	स्नेहम् (तेल)	लीशा	लूगा
श्रारकी	श्रर्क		
			फारसी
दूलन्	दूलन्	जंजार	जुहार

मुण्डा और हो कभी-कभी एक ही शब्द का दो तरह से उच्चारण करते हैं। ऐसा भेद स्थानान्तर के कारण प्रायः सभी भाषाओं में पाया जाता है। इस अन्तर को निम्नलिखित शब्दों में आप देखें। कहीं-कहीं मुण्डा जिसका अल्पप्राण के रूप में व्यवहार करते हैं, हो उसका महाप्राण के रूप में उच्चारण कर बैठते हैं।

हिन्दी	मुण्डारी	हो
लाना	आउ	अगुइ
घिसना	गसर	गसार
नया	नौआ	नामा
चाँद	चन्दू	चाण्ड
धूल	दूरा	दुलि, दुल
खेत जोतना	केती	खेती
महाजन	महाजोन	मोहाजन
फाल	पहल	पाल
गाय	गइ	गौ
हुआ है	हो वाजना	हो वापाना
लड़का	कोड़ा	कोआ

कौतूहलवश हो-भाषा की एक छोटी-सी किताब में दिये गये सभी शब्दों का विश्लेषण करने पर हमने देखा कि ६१५ शब्दों में २२५ संज्ञाएँ, २० सर्वनाम, ४७ विशेषण, २०५ क्रियाएँ तथा ११८ अन्य शब्द थे। उपर्युक्त विश्लेषण से यह पता लगता है कि ये विशेषण का उपयोग बहुत कम करते हैं। एक दूसरा वर्गीकरण करने से पता लगा कि मनुष्यों के आपसी सम्बन्ध को व्यक्त करनेवाले ७०, जानवरों के नाम के लिए ५२, पक्षियों के नाम के लिए ३८, छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े के लिए ८०, साग-सब्जी, फल-फूल तथा अन्य भोज्य पदार्थों के लिए १३०, घरेलू तथा कृषि-सम्बन्धी वस्तुओं के लिए १६०, समय को व्यक्त करने के लिए २०, विभिन्न प्रकार के वृक्षों तथा उनके विभिन्न भागों के लिए ६५ तथा शरीर के अंगों के लिए ६८ शब्द हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण हमने एक 'हो'-पुस्तक के आधार पर किया है, जो प्रायः इसी अनुपात से किसी मुण्डारी-पुस्तक पर भी घटित होगा। उपर्युक्त वर्गीकरण से हमें इनके भाषा-विकास की पगडण्डी दिखाई दे सकती है और इनकी अलिखित साहित्य-वाटिका में खिले कुसुमों के रंग, रूप, रस और गन्ध का भी एक आभास-सा मिल सकता है।

लिङ्ग—लिङ्ग की दृष्टि से मुण्डारी हो भाषा की संज्ञा को आप प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। या यों कहिए कि सलिङ्गी और अलिङ्गी संज्ञा में बाँट सकते हैं। मुण्डा-हो लोग ग्रह, नक्षत्र तथा प्राकृतिक घटना, जैसे वर्षा, पत्थर गिरना इत्यादि का वर्गीकरण प्राणिवाचक के साथ करते हैं। हो या मुण्डारी में लिङ्ग के अनुसार क्रिया का रूप नहीं बदलता, जैसा हिन्दी में होता है।

इस अर्थ में ये संस्कृत के समान हैं। ये किसी प्राणी के बच्चे और मादा का बोध करने के लिए क्रमशः 'होन' और 'एंगा' शब्द का व्यवहार करते हैं। कभी-कभी 'नर' (पुँल्लिङ्ग) का बोध कराने के लिए 'साण्डी' शब्द का प्रयोग होता है।

सिम=मुर्गी या मुर्गा, सिमहोन=चेंगना, केडा=भैंसा, एंग केडा=भैंस, सेता या साण्डी सेता=कुत्ता। हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार हो-समाज में स्त्री-पुरुषों का स्थान समान है, उसी तरह व्याकरण ने भी इसे सुरक्षित-सा रखा है। हाँ, व्यावहारिकता के लिए चिह्न का प्रयोग किया जाता है।

वचन—मुण्डा तथा हो लोग, अप्राणिवाचक संज्ञाओं के लिए एकवचन-मात्र का प्रयोग करते हैं, किन्तु प्राणिवाचक के लिए संस्कृत की तरह ही एकवचन, द्विवचन और बहुवचन का प्रयोग होता है।

सादोम=घोड़ा (एक), सादोम किङ्=दो घोड़े, सादोम को=बहुत-से घोड़े। इस प्रकार, 'किङ्' और 'को' जोड़कर वे द्विवचन और बहुवचन बनाते हैं। उत्तमपुरुष सर्वनाम के द्विवचन और बहुवचन में दो-दो रूप होते हैं; एक 'श्रोता-सहित' को जताने के लिए और दूसरा 'श्रोता को छोड़कर' का बोध कराने लिए।

हिन्दी	हो-एकवचन	हो-द्विवचन	हो-बहुवचन
मैं	आइङ्	आलाङ् (श्रोता-सहित)	आपु (श्रोता-सहित)
		आलिङ् (श्रोता को छोड़)	आन्मे (श्रोता को छोड़)
तू	अम्	आबेन	आपे
यह (प्राणी-वा०)	अए,	अकिङ्	अको
	इनी	इनी किङ्	इनिको
यह (प्राणी वा०, अप्राणी-वा०)	ने	ने किङ्	ने को
यह (प्राणी वा०)	नी	निकिङ्	निको
यह (अप्राणी-वा०)	नेया	नेन किङ्	नेन को
यह (अप्राणी-वा०)	एना	एना किङ्	एना को
कौन ?	ओकोय	ओकोर तिकिङ्	ओकोय ते को
जो	ओकोना	ओकोना किङ्	ओकोना को
	ओकोन	ओकोन किङ्	ओकोन को
क्या ?	चिकना	चिकना किङ्	चिकना को
	चिकन	चिकन किङ्	चिकन को
	चेना	चेना किङ्	चेना को
कोई	जेताइ	जेना किङ्	जेना को
	जानो	जान किङ्	जान को

(२) सम्बन्ध कारक में और भी निम्नलिखित चिह्नों के प्रयोग निम्नलिखित अवस्थाओं में होते हैं—

(अ) 'त अरेन'—नौकर इत्यादि के लिए। जैसे—जिलाधीश के चपरासी के लिए 'जिला गोम के आ चपरासी' नहीं कहकर 'जिला गोम के त अरेन चपरासी' कहेंगे।

(आ) 'रेन' तथा 'त अरेन' का प्रयोग बच्चे, पुत्र, पुत्री, पिता, माता, बहन आदि के साथ सम्बन्ध व्यक्त करने में किया जाता है।

(इ) 'रेन' स्वामी तथा स्त्री के सम्बन्ध को भी व्यक्त करता है।

(ई) 'रेनी'—व्यक्तिवाचक संज्ञा (सर्वनाम नहीं) के साथ स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को व्यक्त करता है। जैसे—सुनी की स्त्री = सुनी रेनी कुई।

(उ) 'रेन को' और 'तेको' परिवार के सम्बन्ध को व्यक्त करता है। जैसे—पाकू का परिवार = पाकू रेन को, पाकू तेको।

(ऊ) 'रेन'—समुद्र, देश, नदी, शहर, जगह आदि का सम्बन्ध जब किसी प्राणि-वाचक से व्यक्त करना होता है, तब इसका प्रयोग होता है। जैसे—राँची के उराँव = राँची रेन उराँव को। इसी प्रकार देश का आदमी, समुद्र की मछली, शहर के लोग आदि में 'रेन' का प्रयोग होगा।

(ए) 'रेया'—किन्तु उपर्युक्त वस्तुओं का सम्बन्ध अगर किसी अप्राणिवाचक वस्तु के साथ व्यक्त करना हो, तो 'रेन' नहीं, 'रेया' का प्रयोग किया जाता है। जैसे—राँची के तालाब में = राँची रेया तालाब रे।

सर्वनाम के साथ सम्बन्ध-वाचक के निम्नलिखित प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं—

मेरे पिता = आपुइङ्
किन्तु तुम्हारे और मेरे पिता = आपुतालाङ्
तुम लोगों के और मेरे पिता = आपु ताबु
उसके और मेरे पिता = आपुइङ् तालाङ्
उनके और मेरे पिता = आपुइङ् ताले
तेरे पिता = आपुम
उसके पिता = आपुते
उन दोनों के पिता = आपुते ताकिङ्
उन सबके पिता = आपुते ताको
मेरे माता-पिता = एंगाइङ् आपुइङ् ताकिङ्
तुम्हारे माता-पिता = एंगाम आपुम ताकिङ्
उसके माता-पिता = एंगाते आपुते ताकिङ्
मेरे और तुम्हारे माता-पिता = आलाङ् आएंगा आपु
उसके और मेरे माता-पिता = आलिङ् आएंगा आपु

मेरी स्त्री = कुरी कों, या अइंगा कुरी
उसकी स्त्री = अएआ कुरी
तुम्हारी स्त्री = अमआ कुरी
मेरा घोड़ा = सादोम सादइङ्
इसी तरह सादोम सालाङ्, सादोम सामिङ् आदि।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए जिन सुनिश्चित नियमों के साथ मुण्डारी-हो में विभिन्न प्रत्ययों का प्रयोग होता है, प्रायः अन्य किसी भी भाषा में नहीं। यह है इनके अलिखित व्याकरण की विशेषता। जिह्वा पर ही लिखित पाणिनि के सूत्र!

शब्द-सर्जनात्मक तत्त्व—किसी भी भाषा की शक्ति उसके कृदन्त और तद्धित, विभक्ति-प्रत्यय और उपसर्ग पर बहुत कुछ निर्भर करती है, जिसके प्रयोग से भाषा के शब्द-भाण्डार को ही समृद्ध नहीं किया जाता, वरन् भाषा की प्रखरता, लोच, अभिव्यञ्जनात्मक शक्ति और मधुरता भी बढ़ जाती है। मुण्डारी-हो भाषा में भी ये सभी सर्जनात्मक तत्त्व विद्यमान हैं। इनके कुछ उपयोगों के नमूने नीचे दिये जाते हैं—

(१) क्रिया से संज्ञा

खाना = जोम
खानेवाला = जोमतनई, या जोमनिई (कर्तृवाचक)
खाया हुआ = जोम लेड तेआ (कर्मवाचक)
खाने का = जोम तेआ (करणवाचक)
खाता हुआ = जोम तान (क्रियाद्योतक)
खाते-खाते = जोम, जोमते ,,
जोमीनि = खाया जानेवाला (जीव)
जोमेय = खाया जानेवाला (पदार्थ)

(२) संज्ञा से विशेषण

मिठास = हेनेरेम
मीठा = हेरेम
सुन्दरता = सुनुगढ़

सुन्दर = सुगढ़
पितृत्व = अनापु
पिता = आपु

(३) विशेषण से संज्ञा

दया = लितुइ
दयालु = लितुइयन

कड़ा = केते
कड़ापन = केतेअन

(४) विशेषण से क्रिया-विशेषण

दयालु = लितुइयन
दया करके = लितुइते
लितुइकेते
लितुइकेद्‌ते

(५) संज्ञा से क्रियां

घोड़े पर चढ़ना = दे

घोड़े पर चढ़नेवाला = देनी

लिखना = ओल

लिखनेवाला = ओलनी

विभिन्न प्रत्ययों के व्यवहार से क्रिया के अर्थ में भी भिन्नता लाने की शक्ति इस भाषा में है—

जोम = खाना (क्रिया)

जोजोम = अक्सर खाना

जोनोम = खाने की क्रिया (संज्ञा)

जोपोम = एक-दूसरे को खाना

(बिरेम को जोपोम तान = जंगली जानवर एक-दूसरे को खाते हैं ।)

इसी तरह ओल (लिखना) से ओओल, ओनोल, ओपोल, मा (मारना) से, मामा, माना, मापाअ, एरग (गाली देना) से, ए एरग, एनेरग, एपेरग ।

'अपने तई' का भाव प्रकट करने के लिए, जैसे—वह ऐनक में अपने को देखता है; निम्नलिखित रूप देखें—

लेल (देखना) से लेलेन

दुऊ (बचाना) से दुऊन

गोए (जान से मारना) से गोएन

हका (फाँसी देना) से हकन

डुम्बुई (पीनी में डुबाना) से डुम्बुइन

प्रश्नवाचक—हो-भाषा में

'ओक' और 'चि' के प्रयोग से प्रायः सभी प्रकार के प्रश्नवाचक शब्द बनाये जाते हैं—

ओकोए = कौन आदमी ? ओकोए हिजुतना = वह कौन आता है ? इनी ओकोय तानी = वह कौन आदमी है ?

ओकोता = किस जगह ? टाका ओको तारेमदो अकना = आपने रुपया किस जगह रखा है ?

ओकोएता = किस ? ओकोएतारे टाका मेना = रुपया किसको है ? (किसके पास में) ओकोएताम दुबअ = आप किसके नजदीक बैठेंगे ? ओकोए ताम सेनकेना = आप किसके यहाँ गये थे ?

ओकोते = किधर ? किस ओर ?

ओकोरे ताम सेनकेना = आप किधर गये थे ?

ओकोनी / चिकनी = इतने में से कौन (प्राणी) ?

नेगेकोरे श्रोकोनिम मुकुश्राइतना ? = इतनी गायों में से तुम्हें कौन पसन्द है ?

श्रोकोश्रा } = इतनी में से कौन (वस्तु) ?
चिकना }

श्रोकोर = किस जगह ?

अम्श्राहातु श्रोकोरेया = तुम्हारा गाँव किस जगह है ?

इसी तरह,

श्रोकोश्राते = किस जगह से ? किसकी अपेक्षा ?
श्रोकोसा = किधर (मुहल्ले के अन्दर) ?
चिमिन = कितना (संख्या) ?
चिमिन सा = कितनी बार ?
चिकना मेस्ते = क्यों ?
चिलेकाया } = कैसे ? किस तरह ?
चिलकाते }
चिमताङ् = कब ?
चिउला = कौन दिन ?
चिउला श्रोका = कभी नहीं ?
चि = क्या ? अजी ?

जैसे—सेनाम ची ? = क्या आप जायँगे ? चि, चिनम श्रोलतान = अजी, आप क्या लिख रहे हैं ?

संख्यावाचक और गिनती

१ = मियद् (मिद्) २ = वरिया (वर)
३ = अपिया (अपि) ४ = उपुनिया (उपुन)
५ = मोढ़ेया (मोढ़े) ६ = तुरुइया (तुरुइ)
७ = अइया (ए) ८ = इरलिया (इरल)
९ = अरेया (अरे) १० = गेलेश्रा (गेल)
११ = गेल मियद् १२ = गेल वरिया
२० = हिसी ३० = होसी ४० = बर हिसी
५० = बर हिसी गेलश्रा ६० = आपे हिसी
७० = आपे हिसी गेलश्रा ८० = उपुन हिसी
९० = उपुन हिसी गेलश्रा १०० = मोंय हिसी या मद्सय
११० = मद् हिसी गेलश्रा १२० = तुरी हिसी
१३० = तुरी हिसी गेलश्रा १४० = ए हिसी

१५०=ए हिसी गेलश्रा	१६०=इरल हिसी
१७०=इरल हिसी गेलश्रा	१८०=श्ररे हिसी
१६०=श्ररे हिसी गेलश्रा	२००=वर सय

उनके गिनने की प्रणाली है, एक बीस, दो बीस, दो बीस और दस, तीन बीस, तीन बीस और दस इत्यादि। सचमुच हिन्दी-अँगरेजी में भी गिनती बीस तक ही जाकर रुक जाती है और बाद की गिनती बीस या दस के सहारे आगे बढ़ती है।

पहला, दूसरा इत्यादि के लिए निम्नलिखित प्रयोग देखें—

पहला=सिदानिईं, दूसरा=एटश्रानिईं, तीसरा=श्रनपिया, चौथा=उनु पुनिया, पाँचवाँ=मोनेड़ेया इत्यादि।

संख्यावाचक के साथ हिन्दी के 'बार' शब्द का प्रयोग 'सा' लगाकर किया जाता है। जैसे—

एक बार=मिदृसा, दो बार=वरसा, किन्तु जब 'एक दिन' या 'दो दिन' का प्रयोग करना हो, तब 'सिंग' या 'मा' लगाकर किया जाता है। जैसे—

एक दिन=मुसिंग (मियद् सिंग)

दो दिन=वरसिंग

तीन दिन=श्रपिमा

चार दिन=उपुनमा

'हुलाग'—*निश्चित दिन या २४ घंटे के अन्दर के समय के लिए आता है।* जैसे—शुक्रवार हुलाग।

'मा'—एक सप्ताह के अन्दर के समय को व्यक्त करता है।

'दिन'—अनिश्चितकालीन समय के लिए आता है।

समास और सन्धि—यद्यपि हो-मुण्डारी भाषा में समास का कोई नियम अभी तक लिखित नहीं है और न सन्धि के ही नियम हैं, पर जहाँ-तहाँ समास और सन्धि दोनों के ही प्रयोग पाये जाते हैं। जैसे—सिम-होन=मुर्गी का बच्चा—समास श्रोकोएता+श्रम्=श्रोकोएताम—सन्धि जोम+ए=जोमे।

शब्दों का क्रिया-रूप में व्यवहार—यों तो सभी भाषाओं में शब्दों का व्यवहार विभिन्न रूपों में हुआ करता है; पर मुण्डारी-हो भाषा में प्रायः सभी शब्दों का व्यवहार *क्रिया-रूप में होता है। यह इसकी अपनी विशेषता है।*

बुरु=पहाड़, बुरु=ढेर लगाना, मेला लगाना।

श्रोश्रा=घर, श्रोश्रा=घर बनाना।

उरी=बैल, उरी=बैल खरीदना।

सोजे=सीधा, सोजे=सीधा करना।

है=हाँ, है=स्वीकार करना, राजी होना।

नेगेकोरे श्रोकोनिम गुरुश्राइगना ? = इनमें गायों में से तुम्हें कौन पसन्द है

श्रोकोश्रा }
चिकना } = इनमें से कौन (वस्तु) ?

श्रोकोर = किस जगह ?

श्रनुश्राइगु श्रोकोरेगा = तुम्हारा गाँव किस जगह है ?

इसी तरह,

श्रोकोश्राने = किस जगह से ? किसकी अपेक्षा ?
श्रोकोगा = किधर (मुहल्ले के अन्दर) ?
निमिन = कितना (संख्या) ?
निमिन सा = कितनी बार ?
चिकना मेस्ते = क्यों ?
चिलेकाया }
चिलकाते } = कैसे ? किस तरह ?
चिमताङ् = कब ?
चिउला = कौन दिन ?
चिउला श्रोका = कभी नहीं ?
चि = क्या ? श्रजी ?

जैसे—सेनाम ची ? = क्या श्राप जायेंगे ? चि, चिनम श्रोलतान = श्रजी, श्राप क्या लिख रहे हैं ?

संख्यावाचक और गिनती

१ = मियद् (मिद्)	२ = वरिया (वर)
३ = श्रपिया (श्रपि)	४ = उपुनिया (उपुन)
५ = मोड़ेया (मोड़े)	६ = तुरुइया (तुरुइ)
७ = श्रइया (ए)	८ = इरलिया (इरल)
९ = श्ररेया (श्ररे)	१० = गेलेश्रा (गेल)
११ = गेल मियद्	१२ = गेल वरिया
२० = हिसी ३० = हिसी	४० = वर हिसी
५० = वर हिसी गेलश्रा	६० = श्रापे हिसी
७० = श्रापे हिसी गेलश्रा	८० = उपुन हिसी
९० = उपुन हिसी गेलश्रा	१०० = मोय हिसी या मद्सय
११० = मद् हिसी गेलश्रा	१२० = तुरी हिसी
१३० = तुरी हिसी गेलश्रा	१४० = ए हिसी

१५०=ए हिसी गेलश्रा	१६०=इरल हिसी
१७०=इरल हिसी गेलश्रा	१८०=श्ररे हिसी
१६०=श्ररे हिसी गेलश्रा	२००=वर सय

उनके गिनने की प्रणाली है, एक बीस, दो बीस, दो बीस श्रौर दस, तीन बीस, तीन बीस श्रौर दस इत्यादि। सचमुच हिन्दी-श्रँगरेजी में भी गिनती बीस तक ही जाकर रुक जाती है श्रौर बाद की गिनती बीस या दस के सहारे श्रागे बढ़ती है।

पहला, दूसरा इत्यादि के लिए निम्नलिखित प्रयोग देखें—

पहला=सिदानिई, दूसरा=एटश्रानिई, तीसरा=श्रनपिया, चौथा=उनु पुनिया, पाँचवाँ=मोनेड़ेया इत्यादि।

संख्यावाचक के साथ हिन्दी के 'बार' शब्द का प्रयोग 'सा' लगाकर किया जाता है। जैसे—

एक बार=मिद्सा, दो बार=वरसा, किन्तु जब 'एक दिन' या 'दो दिन' का प्रयोग करना हो, तब 'सिंग' या 'मा' लगाकर किया जाता है। जैसे—

एक दिन=मुसिंग (मियद् सिंग)

दो *दिन=वरसिंग*

तीन दिन=श्रपिमा

चार दिन=उपुनमा

'हुलाग'—निश्चित दिन या २४ घंटे के श्रन्दर के समय के लिए श्राता है। जैसे—शुक्रवार हुलाग।

'मा'—एक सप्ताह के श्रन्दर के समय को व्यक्त करता है।

'दिन'—श्रनिश्चितकालीन समय के लिए श्राता है।

समास श्रौर सन्धि—यद्यपि हो-मुण्डारी भाषा में समास का कोई नियम श्रभी तक लिखित नहीं है श्रौर न सन्धि के ही नियम हैं, पर जहाँ-तहाँ समास श्रौर सन्धि दोनों के ही प्रयोग पाये जाते हैं। जैसे—सिम-होन=मुर्गी का बच्चा—समास श्रोकोएता+श्रम्=श्रोकोएताम—सन्धि जोम+ए=जोमे।

शब्दों का क्रिया-रूप में व्यवहार—यों तो सभी भाषाश्रों में शब्दों का व्यवहार विभिन्न रूपों में हुश्रा करता है; पर मुण्डारी-हो भाषा में प्रायः सभी शब्दों का व्यवहार *क्रिया-रूप में होता है। यह इसकी श्रपनी विशेषता है।*

बुरु=पहाड़, बुरु=ढेर लगाना, मेला लगाना।

श्रोश्रा=घर, श्रोश्रा=घर बनाना।

उरी=बैल, उरी=बैल खरीदना।

सोजे=सीधा, सोजे=सीधा करना।

है=हाँ, है=स्वीकार करना, राजी होना।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि यद्यपि 'हो-मुण्डा' भाषा का मूल शब्द-भाण्डार तो उतना समृद्ध नहीं है, तथापि विभक्ति, प्रत्यय, उपसर्ग आदि की सहायता से हजारों शब्द बन सकते हैं।

वाक्य-विन्यास—विभिन्न कालों में क्रिया का क्या रूप हो जाता है और उसमें कौन-कौन-से चिह्न प्रयोग में आते हैं तथा वाक्य कैसे बनते हैं, इस पर विचार करने के पहले हमें एक महत्त्वपूर्ण विशेषता पर विचार कर लेना चाहिए। यह विशेषता हो-मुण्डारी भाषा में पाई जाती है। हो-मुण्डारी में एक ही वाक्य में कर्त्ता तथा कर्म कई बार विभिन्न रूपों में व्यवहृत होते हैं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित नियम ध्यान देने योग्य हैं—

(क) कर्त्ता एक ही बार—मुण्डारी में कर्त्ता प्रायः दो बार आता है, पर जहाँ वाक्य में साधारण रूप से केवल उद्देश्य और विधेय-मात्र हो और कर्त्ता सर्वनाम हो, तो वह एक ही बार और वह भी विधेय के ठीक बाद ही आता है। जैसे—मैं सोता हूँ=आइङ्गिनिङ् तनाइङ्, नहीं कहकर अच्छा होगा (यद्यपि ऊपर का वाक्य भी अशुद्ध नहीं है) 'गिनिङ तनाइङ' कहना। इस हालत में कर्त्ता का पूर्ण रूप 'अइङ्' नहीं आता, बल्कि इसका अल्प रूप 'इङ्' आता है। कर्त्ता के पहले विधेय के साथ ही प्रत्यय 'अ' क्रिया की काल सूचक विभक्ति के साथ ही लगा रहता है।

तन+अ+इङ्=तनाइङ्

किन्तु उपर्युक्त प्रकार के वाक्य का कर्त्ता सर्वनाम न होकर संज्ञा हो, तो कर्त्ता दो बार आयगा ही। जैसे—राम सोता है=(१) राम ए गिनिङ् तना,(२) राम गिनिङ् तना ए—दोनों तरह से होगा। यहाँ राम कर्त्ता के साथ-साथ इसके अनुरूप सर्वनाम (अन्य पु० एक व०) के रूप 'ए' को भी लाना होगा, चाहे इसे विधेय के ठीक पूर्व रखिए या वाक्य के अन्त में।

किन्तु वाक्य में अगर कोई शब्द कालवाचक हो, तो वैसा शब्द सर्वप्रथम आयगा। जैसे—आज ये बच्चे ढूँढ़कर पाते आयेंगे=तिमिङ् ने होनको हुडकूधाध सेको सेना।

(ख) एक कर्त्ता एक कर्म—जब कर्त्ता सर्वनाम हो और सकर्मक क्रिया का अप्राणि-वाचक कर्म व्यक्त हो, तब एक कर्त्ता और अ लगा। जैसे—मैं चिट्ठी लिखता हूँ=(१) चिटी इङ् ओल जदा या (२) चिटी ओल जदा इङ्।

अगर वाक्य आज्ञार्थक हो, तो क्रिया के तुरत बाद एक 'ए' या 'ई' जुड़ जाता है। (इकारान्त और उकारान्त क्रिया के साथ 'ई' और बाकी क्रिया के साथ 'ए')। जैसे—लेम्प जलाओ=मारसी ओमे (ओम+ए)। पानी पीओ—दाक नुई (नुइ+ई)।

(ग) दो कर्त्ता एक कर्म—अगर कर्त्ता संज्ञा है और कोई एक कर्म आता है, तो कर्त्ता दो बार और कर्म एक बार आयगा। जैसे—राम चिट्ठी लिखता है=राम चिटी ए ओल जदा (या ओल जदी ए)। राम श्याम को लिखता है=श्याम राम न का ए... जदा।

(ध) दो कर्त्ता दो कर्म—सामान्य वर्त्तमान काल में प्राणिवाचक कर्म के भी व्यक्त रहने पर दो बार कर्त्ता तथा दो बार कर्म आयगा। जैसे—मोहन राम को मारता है। मोहन राम ए दल ज अ इ आ (दल+जद्+ई+आ)। (यहाँ जद् के द का लोप हो गया है)। मोहन दोनों बच्चों को मारता है=मोहन होन किङ् ए दल जद् किङ् अ।

किन्तु जब उपर्युक्त स्थिति में क्रिया से कर्त्ता की आदत झलकती हो या तात्कालिक वर्त्तमान काल की क्रिया हो, तो कर्म एक ही बार आयगा और कर्त्ता दो बार। जैसे—मोहन राम को मारा करता है=मोहन राम ए दला। मोहन राम को मार रहा है=मोहन राम ए दल तना।

(च) एक कर्त्ता दो कर्म—अगर कर्त्ता सर्वनाम हो और सकर्मक क्रिया का प्राणिवाचक कर्म व्यक्त हो, तो कर्त्ता एक बार और कर्म दो बार आता है। जैसे—तू राम को देता है=रामे म ओमाइ तना।

(छ) तीन कर्म एक कर्त्ता—उपर्युक्त स्थिति खास-खास क्रिया के प्रयोग होने पर बहुधा तीन बार कर्म और एक बार कर्त्ता आता है। जैसे—वह राम को पुस्तक देता है=राम पुतिए ओमाइ तना—यहाँ ओमाइ का 'इ' तृतीय कर्म है। राम को खाना दे=रहाम माण्डी ओमाइ मे। मुझे राम को खाना देना चाहिए=राम माण्डी इङ् ओमाइ का—'का' चाहिए के लिए प्रयुक्त हुआ है।

(ज) तीन कर्म दो कर्त्ता—अगर कर्त्ता संज्ञा हो और सकर्मक क्रिया के दोनों कर्म व्यक्त हों, तो खास-खास क्रिया के साथ कर्म तीन बार तथा कर्त्ता दो बार आता है। जैसे—राम मोहन को चिट्ठी लिखता है=राम मोहन चिटी ए ओलाइ तना। राम मोहन को गाय देता है=राम मोहन गइए ओमाइ तना।

टिप्पणी—गौण और मुख्य दोनों कर्म के व्यक्त रहने पर सामान्य वर्त्तमान काल में भी जद् नहीं, तन का ही प्रयोग अधिकतर होता है।

व्यवहारों के आधार पर ऊपर कुछ नियम बनाने का प्रयास यहाँ किया गया है, जो पूर्ण और बिलकुल दोष-रहित नियम तो नहीं कहा जा सकता, पर उनके अलिखित व्याकरण के नियमों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करना है और साथ-ही-साथ उनकी भाषा की विशेषता को भी बतलाना है।

काल—हो-मुण्डारी भाषा में भी अकर्मक, सकर्मक और द्विकर्मक तीन प्रकार की क्रियाएँ तथा भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् तीन काल होते हैं। वाक्य-रचना पर प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक कर्म का प्रभाव पड़ता है और तदनुसार उसका रूप बदलता है। कर्म के सजीव और निर्जीव होने का प्रभाव वाक्य पर बहुत पड़ता है। कारण, जैसा ऊपर देखा गया है, कर्म दो-तीन बार आता है और कर्म का दूसरा रूप क्या होगा, यह कर्म के प्रथम रूप पर ही निर्भर करेगा। प्रथम कर्म के वचन का प्रभाव द्वितीय कर्म पर

पड़ता है। चूँकि, निर्जीव संज्ञा सदा एकवचन में ही प्रयुक्त होती है, इसलिए निर्जीव कर्म के वचन का कोई प्रभाव उसके दूसरे कर्म पर नहीं पड़ता।

सामान्य भूतकाल—में अगर क्रिया अकर्मक हो, तो धातु में 'याना', 'लेना' और 'केना' जोड़ देते हैं। किन्तु क्रिया सकर्मक हो, तो, 'लेडा', 'केडा' और कभी-कभी 'किया' जोड़ते हैं। और, सकर्मक क्रिया का कर्म प्राणिवाचक हो, तो लेडा, केडा को लेड, केड करके, क्रमशः द्विवचन और बहुवचन कर्म में धातु के बाद 'किङ_आ', 'कोआ' जोड़कर पुरुषवाची प्रत्यय लगाते हैं। एकवचन कर्म में धातु के बाद 'किया' मात्र लगाकर पुरुषवाची प्रत्यय जोड़ते हैं। जैसे—मैंने पपीता खाया (अप्राणिवाचक कर्म)=आइङ_ पविता जोम लेगइङ_। किन्तु, मैंने एक मुर्गी खाई (प्राणिवाचक कर्म)=आइङ_ मियद् सिम जोम कियाइङ_। मैंने दो मुर्गियाँ खाई =आइङ_सिम किङ_जोम केड किंगाइङ_। मैंने मुर्गियाँ खाईं=आइङ_ सिमको जोम केड कोआइङ_।

आसन्न भूतकाल—धातु के परे 'अकाडा' जोड़ते हैं और धातु के अन्त का 'अ' 'आ' हो जाता है या यों कहिए कि 'अकडा' का 'अकाडा' हो जाता है। जैसे—मैंने खाया है=आइङ_ जोमाकाडाइङ_ (जोम+आकाडा+इङ_)।

किन्तु इस काल में सकर्मक क्रिया का कर्म अगर प्राणिवाचक एकवचन, द्विवचन और बहुवचन हो, तो धातु के परे क्रमशः 'आ कैआ', 'आकड किंगा' तथा 'आकड कोआ' जोड़कर पुरुषवाची प्रत्यय लगाते हैं। जैसे—मैंने मुर्गी खाई है=आइङ_ सिम जोम कैआइङ_। मैंने दो मुर्गियाँ खाई हैं=आइङ_ सिमकिङ_ जोमाकड किंगाइङ_। मैंने मुर्गियाँ खाई हैं=आइङ_सिम को जोमाकड कोआइङ_।

पूर्णभूतकाल—में धातु के परे 'लेडटाइकेना' 'केडटाइकेना', जोड़ते हैं। जैसे—मैंने खाया था=आइङ_ जोम लेडटाइकेनाइङ_।

किन्तु अगर इस काल में सकर्मक क्रिया का कर्म प्राणिवाचक एकवचन, द्विवचन और बहुवचन हो, तो अकारान्त धातु के अकार को आकार करके उसके परे क्रमशः 'लेडटाइकेना', 'केडटाइकेना' जोड़कर पुरुषवाची प्रत्यय लगाते हैं। जैसे—मैंने मुर्गी खाई थी= आइङ_ सिम जोमाकेडटाइकेना।

मैंने दो मुर्गियाँ खाई थीं=आइङ_सिमकिङ_जोमाकेड किङ_टाइकेनाइङ_।

मैंने मुर्गियाँ खाई हैं=आइङ_ सिमको जोमाकेडको टाइकेनाइङ_।

टिप्पणी—निम्नलिखित अकर्मक क्रिया के साथ पूर्णभूत में 'केन' के बदले 'लेन' लगता है।

हिजुङ=आना	नेयाअ=पहुँचना
सेटेर=पहुँचना	जोनोम=पैदा होना
डुम्बुर=पानी में डूबना,	सजइ=सजा पाना
तोलउडुन्न=बाहर निकलना,	बुलू=पागल होना
बुल=नशे में होना	

अपूर्ण भूतकाल—में धातु के परे 'तान टाइकेना' लगता है। जैसे—मैं खाता था (या, खा रहा था)=आइङ् जोम तन टाइकेनाइङ्।

किन्तु, इस काल में जब सकर्मक क्रिया का प्राणिवाचक कर्म एकवचन, द्विवचन और बहुवचन हो, तब क्रमशः 'ई तन टाइकेना', 'किङ् तन टाइकेना' तथा 'को तन टाइकेना' जोड़कर पुरुषवाची प्रत्यय लगाते हैं। जैसे—

मैं मुर्गी खा रहा था=आइङ् सिम जोमी तन टाइकेनाइङ्।

मैं दो मुर्गियाँ खा रहा था=आइङ् सिमकिङ् जोमकिङ् तन टाइकेनाइङ्।

मैं मुर्गियाँ खा रहा था=आइङ् सिमको जोम को तन टाइकेनाइङ्।

सन्दिग्ध भूतकाल—में धातु के पहले 'इदु', 'इदु तोरां' या 'चितोरां' जोड़कर 'लेडा' जोड़ने के बाद पुरुषवाची प्रत्यय लगाते हैं। जैसे—खाया हूँगा=इदु जोम लेडाइङ्।

हेतुहेतुमद्भूतकाल—की क्रिया में जहाँ कार्य और कारण दोनों भूतकाल के हों, वहाँ कारणवाची क्रिया के आकारान्त रूप को अकारान्त करके 'रे' जोड़ते हैं और कार्य बतानेवाली क्रिया के सामान्य भूतकाल के रूप के परे 'होना' जोड़ देते हैं। हिन्दी के 'तो' के बदले 'दो' का व्यवहार करते हैं। जैसे—मैं खाता, तो वह खाता=आइङ् जोमलेडरे दो आय जोमलेडा होनां या जोमलेडरे दोइङ् जोमलेडाय होना।

सामान्य या तात्कालिक वर्त्तमानकाल—में धातु के परे साधारणतः 'तना' जोड़ा जाता है। जैसे—मैं खाता हूँ या खा रहा हूँ=आइङ् जोम तनाइङ्।

किन्तु, सकर्मक क्रिया के प्राणिवाचक कर्म, एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में हो, तो क्रमशः धातु के परे ई, किङ् को लगाकर पुरुषवाची प्रत्यय लगाते हैं। जैसे—मैं मुर्गी खाता हूँ=आइङ् सिम जोमी तनाइङ्। मैं दो मुर्गियाँ खाता हूँ=आइङ् सिम किङ् जोम किङ् तनाइङ्। मैं मुर्गियाँ खाता हूँ=आइङ् सिमको जोमको तनाइङ्।

सन्दिग्ध वर्त्तमान—में भी इदु, तोरा, चितोरां आदि का व्यवहार होता है। जैसे—मैं खाता हूँगा=इदु जोम तनाइङ्।

सामान्य भविष्यत् काल—में अकारान्त क्रिया एकारान्त हो जाती है। जैसे—मैं खाऊँगा=आइङ् जोमे आइङ्।

किन्तु, अगर प्राणिवाचक कर्म एकवचन, द्विवचन या बहुवचन में हो, तो धातु के बाद क्रमशः ई किङ् को, जोड़कर पुरुषवाची प्रत्यय लगाते हैं। जैसे—मैं मुर्गी खाऊँगा=आइङ् सिम जोमी आइङ्। मैं दो मुर्गियाँ खाऊँगा=आइङ् सिमकिङ् जोम किङ् आइङ्। मैं मुर्गियाँ खाऊँगा=आइङ् सिमको जोमको आइङ्।

सम्भाव्य भविष्यत् काल—में अकारान्त क्रिया एकारान्त हो जाती है और कर्त्ता के पहले 'का' जुड़ जाता है। जैसे—

तू खा=जोमे काम।

मैं खाऊँ=जोमे काइङ्।

किन्तु, अगर कर्म प्राणिवाचक एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में हो, तो क्रमशः 'ईक', 'किङ्क' और 'कोक' जोड़कर पुरुषवाची प्रत्यय लगाते हैं। जैसे—

मैं मुर्गी खाऊँ = आइङ् सिम जोम ईकाइङ्।

मैं दो मुर्गियाँ खाऊँ = आइङ् सिमकिङ् जोम किङ् काइङ्।

मैं मुर्गियाँ खाऊँ = आइङ् सिमको जोम को काइङ्।

विधि-क्रिया—आज्ञा या आग्रह जताने के लिए निम्नलिखित विभक्तियों का प्रयोग होता है—

पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पुरुष	काइङ्	कालाङ्	कालिङ्
म० पुरुष	मे	बेन	पे
अन्य पुरुष	काय	काकिङ्	काको

पूर्वकालिक क्रिया—हिन्दी के 'कर' या 'करके' की जगह 'केते', 'केद्ते', 'लेते' या 'लेद्ते' लगाकर बनाते हैं। जैसे—

खाकर = जोम केते

गाकर = दुरांग केते आदि।

वाच्य—हो-मुण्डारी भाषा में कर्मवाच्य का प्रयोग निम्नलिखित रूप में होता है—

बैठा जाय = दुब ओओक्

लिखा जाय = ओल ओओक्

सुना जाय = अयुम ओओक्

सुना जा रहा है = अयुम ओओतना

सुना जायगा = अयुम ओओ

सुना गया = अयुम ओअना

मेरे द्वारा चिट्ठी लिखी जायगी = आइङ् ते चिठी ओलोओ।

छन्द-प्रकरण

'हो-मुण्डारी'-गीत प्रकृति की एकान्त गोद में पलनेवाली मानवता की यह स्वर लहरी है, जो प्राची और प्रतीची के अरुण-कलित [illegible]-तारों पर नाची गई है—भौंरों के साथ गुनगुनाकर, पक्षियों के साथ गाकर, निर्झरिणी के सुर में सुर मिलाकर। उसकी इसी अन्तःप्राण-साधना के चमत्कार मांदल और बाँसुरी की, ढोल और सितार की सृष्टि हुई और सृष्टि हुई उस प्रेम की, जिसने मुण्डा हो रमणियों के गतिशील चरणों को चूमने का बार-बार प्रयत्न किया और सीखा इन्होंने चढ़ाव-उतार, [illegible] और [illegible], [illegible] और ताल! जिसने मुण्डा हो-युवकों के कण्ठ में मुरली की वह मादकता भर दी, जिसे [illegible] कितनी [illegible] नयी प्रेम-भावनाएँ उत्पन्न हो गई थीं। फलतः, छन्द और अलंकार, ताल और मात्रा,

सभी अपना अस्तित्व खोकर उसमें समा गये। उनके कंठ खुले और चरणों से उलझ गये, स्वर लिपट गया ताल से, बाँसुरी के निर्देश पर—माँदल के संकेत से। उनका जीवन ही कविता हो गया और साँस ही संगीत बन गई। सचमुच, उनके गीत 'नृत्य-वाद्यज' हैं। इन नृत्य-वाद्यज गीतों में वही तारतम्य है, वही चढ़ाव-उतार है, जो विद्यमान है ऋतु-चक्र में, वनदेवी के शृंगार-प्रसाधन में, धारा की तीव्रता और शिथिलता में, झरने के चढ़ते-उतरते कल्लोलों में, उषा और सन्ध्या की हृत्तन्त्री में।

हो-मुण्डारी-गीत के पदों की लम्बाई निर्धारित होती है नृत्य द्वारा और ध्वनि तथा लय का चढ़ाव-उतार निर्भर करता है वाद्य-प्रसाधन पर। इनका छन्द-शास्त्र आज भी लिखा है वनदेवी के सिहरते सतरंगी आँचल पर, पंछियों के कंठों में शून्य की निस्सीम पंक्ति पर। लिखता है उसे आज भी युवक-युवतियों के उन्मुक्त जीवन से प्रस्फुटित भावांकुर सतीसी और अश्रु मे डुबो-डुबोकर! और, लिखी है उसमें जीवन की अनन्त कहानी, सुख-दुःख का जीवित इतिहास, असंख्य राधाओं के विरह मिलन की कथा, हास्य और रुदन। फलतः, इसमें कोई कृत्रिम छन्द नहीं, कृत्रिम लय और राग नहीं, कृत्रिम ताल और सुर नहीं! फिर भी, ये उनके उन्मुक्त किन्तु स्वसंयत-जीवन के समान ही छन्द-शास्त्र की सभी संगतियों से मर्यादित हैं।

उनके गीतों में अधिकतर तीन से चार पद होते हैं और प्रत्येक पद की अन्तिम पक्ति ही प्रायः दुहराई जाती है। इस अलिखित छन्द-शास्त्र के अलिखित पन्ने आज भी उतने ही नये हैं, जितनी उषा और सन्ध्या के गान, हुँडरू और हिरनी के अमर संगीत। आज भी आप राँची और सिंहभूमि के वन-पर्वतीय प्रान्तर के वातावरण पर खचित इस शास्त्र को कान से पढ़ सकते हैं।

पिछली कुछ पंक्तियों के अवलोकन से यह बिलकुल ही स्पष्ट हो गया होगा कि यद्यपि 'हो-मुण्डा' के बीच न आज तक कोई पाणिनि हुआ, न कामताप्रसाद गुरु और न नेस्फील्ड ही। फिर भी, उनकी साहित्य-सरिता व्याकरण की सभी मर्यादाओं से परिवेष्टित होकर ही, उसके सभी सर्जनात्मक तत्त्वों के साथ कंठ-कंठ होकर बह रही है। इन मर्यादाओं ने ही आज तक उसकी गति और गंभीरता दोनों को कायम रखा और उसे क्षीण या अवरुद्ध, फलतः अस्वास्थ्यकर होने से भी बचाया। अमर्यादित धाराएँ अक्सर बिखर-बिखरकर क्षीण और गतिहीन हो जाती हैं और उनकी जीवन-शक्ति ही नष्ट हो जाती है। उसका अवरुद्ध-अपवित्र अवशेष अपने अनियन्त्रित जीवन की निशानी बनकर रह जाता है। किन्तु, इस भाषा में ऐसी कोई निशानी नहीं। हमने ऊपर देखा है कि व्याकरण का कोई भी ऐसा पहलू नहीं, जिसके सम्बन्ध में इस अलिखित साहित्य के अपने सुनिश्चित नियम न हों। इसका अलिखित साहित्य अति प्राचीन और समृद्ध होने पर भी लिखित साहित्य आज भी शैशव में ही कहा जा सकता है। फिर भी, यह अपने सुनिश्चित भाषा-नियमों के कारण स्वतन्त्र भाषाओं की पंक्ति में स्थान पाने का पूर्ण अधिकारी है। चूँकि, आज भी साहित्य-जगत् में इसकी जानकारी सर्वसाधारण के लिए

उपलब्ध नहीं, इसीलिए मैंने व्याकरण-प्रकरण पर कुछ विशेष रूप से विचार करना उचित और आवश्यक समझा।

साहित्य-प्रकरण

अभी तक हो-मुण्डारी-साहित्य दूध में मिले मक्खन के समान ही उनके जीवन के साथ घुला-मिला है। इस साहित्य-नवनीत को जीवन-मंथन कर निकालने का प्रयास अभी तक नहीं के बराबर ही हुआ है, और, अगर कुछ हुआ भी है, तो विशेष उद्देश्य से सात यंत्र द्वारा। इस जीवन-साहित्य-सुधा का पान वही कर सके, जो इसी समाज के हैं। बाहर के लोग इससे वंचित रहे।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, देवनागरी-लिपि में हो-भाषा की करीब डेढ़ दर्जन पुस्तकें छप चुकी हैं, और करीब आधा दर्जन शीघ्र छपनेवाली हैं।

कुछ किताबें, जिनका हो-भाषा और साहित्य से सीधा सम्बन्ध है, रोमन-लिपि में ही प्रकाशित हुई हैं। ऐसी पुस्तकों में एनसाइक्लोपीडिया-मुण्डारिका (१४ जिल्दों में) और मुण्डारी-ग्रामर (२ भाग) उल्लेखनीय हैं। फादर हॉफमैन ने उपर्युक्त पुस्तकों के द्वारा साहित्य-जगत् की बड़ी सेवा की है। श्रीडब्ल्यू० जी० आर्चर के हो तथा मुण्डारी लोक-गीतों के संग्रह महत्त्वपूर्ण हैं—पर ये गीतों के संग्रह-मात्र हैं।

श्रीजगदीश त्रिगुणायतजी ने अपनी 'बाँसुरी बज रही'[1] नामक पुस्तक के द्वारा 'हो-मुण्डारी' भाषा का एक नया अध्याय प्रारम्भ किया है।

इन पंक्तियों के लेखक का 'सरजोम-बा-दुम्बा' भी हो विवाह-गीतों के सानुवाद संग्रह के रूप में साहित्य-जगत् को एक तुच्छ भेंट है। इधर हो-युवकों ने भी अपनी मातृभाषा की सेवा करने की ओर ध्यान दिया है, यह बड़े हर्ष की बात है। श्रीसतीश कोड़ा 'सेंगल' का 'रूमुल' उल्लेखनीय है। हो-युवक द्वारा स्वरचित कविताओं की यह पहली पुस्तक हो-जीवन-क्षितिज पर दमकती साहित्य-लालिमा है। श्री वी० के० एस्० जराई द्वारा लिखित हो-कविताओं का संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। ये अत्यन्त भावुक कवि हैं। उपर्युक्त तालिका से ही यह प्रकट है कि अभी इसे हम अलिखित साहित्य ही कह सकते हैं, और इसे प्रकाश में लाने का पूर्ण उत्तरदायित्व हो-मुण्डा युवक-युवतियों पर ही है।

यह साहित्य-सरिता इस जाति के जन-समाज के अन्तःकरण से फूटी और आज तक जीवन के हर क्षेत्र से होकर प्रतिक्षण अपने कल-कल निनाद के साथ बह रही है। इस जाति का साहित्य आज भी कागज के पन्नों पर नहीं उतर पाया है, बल्कि इसके नृत्य-संगीत में, कार्य-कलाप में, पर्व-त्योहार में, आनन्द-उल्लास में, दुःख और गरीबी में ही उलझा पड़ा है। इसका साहित्य मौन नहीं, मुखर है। पुस्तकालयों में सोया नहीं, बल्कि वन-पर्वतों में जीता-जागता है। अगर लिखे गये पन्नों की संख्या पर साहित्य की

---

१. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) द्वारा प्रकाशित; मूल्य आठ रुपये।

समृद्धि कूती जाय, तो यह सबसे पीछे होगा। किन्तु, अगर मानवीय भावनाओं को व्यक्त करने की क्षमता और इन अभिव्यक्तियों के सुथरापन को देखा जाय, तो प्रायः मुण्डा-हो-साहित्य उन्नत और समृद्ध साहित्य के सामने सर उठाने का दावा कर सकता है। अगर प्रकृति और जीवन के तादात्म्य को व्यक्त करनेवाली अभिव्यक्तियाँ समृद्ध साहित्य की कसौटी मानी जायँ, तो यह साहित्य-संसार में अपना स्थान सुरक्षित पायगा, इसमें सन्देह नहीं। हाँ, इतना तो अवश्य है कि यह साहित्य अभी 'रेडीमेड-स्टेज' में नहीं पहुँचा है, जहाँ व्यक्ति की अभिव्यंजनात्मक शक्तियों के अनुसार कला नहीं होती, वरन् उपलब्ध वस्तुओं के अनुसार ही व्यक्ति की अभिव्यञ्जनाएँ मुड़ती हैं। फलतः, इस साहित्य की खोज आपको बुक-स्टालों पर नहीं, वरन् कोल्हान के पथरीले इलाकों में करनी होगी। सघन शाल-वन से ही इसकी खुशबू लेनी होगी।

इनका साहित्य आज भी 'लोक-गीतों' और 'लोक-कथाओं' तक ही सीमित है, और इन लोक-साहित्यकारों का भी पता नहीं है। यह स्वाभाविक भी है। ये प्रकृति-पुत्र हैं। सदा ही प्रकृति की गोद में खेलते हैं और उसीसे प्रेरणा लेते हैं। और, यहाँ तो कोई फूल लगाता नहीं, वाटिका किसी की होती नहीं। फूल उगते हैं चाँद और सूरज के हास-परिहास का प्रतीक बनकर, और झड़ जाते हैं अन्तर्वेदना की लहर से मुरझाकर— अन्तरिक्ष में अपना सौरभ विलीन करते हुए, अपना अस्तित्व मिटाते हुए। जहाँ कठोर पर्वत के हृदय को चीरकर कलकलाती निर्झरिणी राह के सभी व्यवधानों को मसलती आगे बढ़ती जाती है, जीवन-हरियाली को लहराने, सागर से मिलने, अपना अस्तित्व मिटाने! तो फिर, उसी गोद में पलनेवाला—अभी तक कृत्रिमता तथा अहंकार से अछूता—कलाकार, साहित्यकार अपनी कला और साहित्य के साथ अपनेको, अपने इतिहास को, जीवित रखने की प्रेरणा ले, तो कहाँ से और कैसे? उनका साहित्य तो है जीवन के लिए, उनके नाम के लिए नहीं। उनका साहित्यकार तो वन-कुसुम के समान ही खिलता है और अपना साहित्य-सौरभ जीवन में बिखेरकर झड़ जाता है। उनका पार्थिव अस्तित्व तो मिट जाता है, पर सौरभ सदा के लिए वातावरण में, जीवन में, कण्ठ-कण्ठ में, पग-पग पर विद्यमान है आज तक। आज भी हम हो-साहित्य को हो-जाति की भूमि में, उनके जीवन में ही, पा सकते हैं।

असंख्य लोक-गीतों और लोक-कथाओं के सभी अमर साहित्यिकों के नाम का तो पता नहीं, पर कुछ साहित्यकारों का अन्दाज लगाया गया है। लोग ऐसा कहते हैं कि 'बबाइ-कुदरी' ग्राम (राँची जिला, तमाड़ के निकट) के श्रीबुदू बाबू, 'बुढ़ाडीह' ग्राम (राँची जिला के खूँटी के नजदीक) के श्रीवृदन सिंह तथा 'कोल्हान' के श्रीदुग्गी हो, के रचे हुए बहुत-से गीत आज भी गाँव गाँव में गाये जाते हैं। यों इधर हो-इलाके में तो नहीं, मुण्डा-इलाके में लोक-गीत के प्याले में 'प्रचार' का शरबत खूब उड़ेला जा रहा है तथा अपने प्रचार को प्राह्यता प्रदान करने के लिए धर्मलोलुपता को लोक-गीत का आवरण दिया जा रहा है। फिर भी यह प्रयास उतना सफल नहीं कहा जा सकता, और हम के

बीच बगुलों की तरह आप इन गीतों को पहचान लेंगे। जहाँ साहित्य जीवन के स्वाभाविक तत्त्वों की अभिव्यक्ति बनकर नहीं आता और जिसका उद्देश्य जीवन को अपनी स्वाभाविक पृष्ठभूमि में ही समृद्ध बनाने का नहीं, वहाँ साहित्य का रूप विकृत हो जाता है, हंस की गरदन पर उल्लू के मुँह के समान।

मुण्डा-हो-साहित्य, या यों कहिए, कोई भी जनजातीय साहित्य लिखित रूप में अभी तक विकसित नहीं हो सका। इसका एक बड़ा कारण यह हुआ कि लोक-साहित्य की ओर सर्वव्यापी उदासीनता-सी रही है; और खासकर लोक-साहित्य की आत्मा लोक-गीत तो बिलकुल ही अछूते-से रहे हैं। जो कुछ भी प्रयास इस दिशा में हुए भी हैं, एक विशेष दृष्टिकोण से, एक विशेष लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए। यों तो, उन मनस्वी साधकों की साधना के प्रति कोई भी सहृदय व्यक्ति श्रद्धा के पुष्प चढ़ाये विना नहीं रह सकता, फिर भी इतना कहना असंगत नहीं होगा कि साहित्य का यह क्षेत्र एक विशेषवर्गीय विद्वानों तथा धर्माधिकारियों की पैतृक सम्पत्ति-सी रही है। फलतः, साहित्य-संग्रह का प्रयास तो हुआ, पर साहित्य-सर्जन का नहीं।

एक और भी दूसरा कारण यह हुआ कि हो लोगों को अपनी स्वतन्त्रता बहुत प्यारी थी। और, उसे सँजोकर रखने के दौरान में इन्हें संघर्षों का सामना करना पड़ा था। अपनी स्वतन्त्रता, सभ्यता और संस्कृति को लूट से बचाने के लिए ये जंगल और पहाड़ों की शरण लेते रहे। फलतः, इनके साहित्य को व्यक्त करनेवाली भाषा भी जनसाधारण के लिए अज्ञात-सी रही। बाद में जाकर जिन साहित्यिकों को उनकी साहित्य-सरिता को थाहने तथा प्रवाह-गति नापने की इच्छा भी हुई, तो उनके पास साधन ही न था। अतः, यह साहित्य एक संकुचित क्षेत्र में, शंकित वातावरण में ही अपने-आप खिलता और मुरझाता रहा।

तीसरा कारण यह था कि जन-साहित्य को समझने के लिए, जन-हृदय का स्तर तथा इनकी संवेदनाओं का सही ज्ञान आवश्यक है। बिना इसके भाषा समझने के बाद भी साहित्य का सही अर्थ नहीं लग सकता, रसास्वादन तो दूर रहा। यही कारण है कि कई विद्वानों ने तो जन-जातीय लोक-गीतों की चर्चा करते हुए उन्हें अर्थ-रहित शब्द-समूह कहकर तिरस्कृत तक कर दिया और उनके संकलन को व्यर्थ-सा माना। फोटो का सही-सही उतरना केवल कैमरा के लेन्स पर ही निर्भर नहीं करता, वरन् वस्तु का स्थान और पृष्ठभूमि, प्रकाश की दिशा, दूरी, मौसम, काल और सबसे बढ़कर कलाकार का अनुभव विशेष महत्त्व रखता है। हम सभी की चीजों को अपनी ही नजर से देखने, अपने ही कानों से सुनने, अपने ही स्तरों से आँकने तथा अपनी ही जिह्वा से स्वाद लेने के अभ्यासी हैं— यह स्वाभाविक भी है। अपनी जगह से, अपने मापदण्ड से दूसरे की चीजों का सही-सही मूल्यांकन नहीं हो पाता, हम उसकी सुन्दरता को नहीं परख पाते। हमें दूसरों के साहित्य को उन्हीं के दृष्टिकोण से पढ़ना होगा, उन्हीं के हृदय से अनुभव करना होगा, उन्हीं के मस्तिष्क से समझना होगा और उसी पृष्ठभूमि में साहित्य-चित्र का अवलोकन करना होगा।

सहृदयतापूर्ण दृष्टिकोण के विना उनका अध्ययन ही सम्भव नहीं, रसास्वादन कहाँ से हो सकेगा।

चौथा कारण यह हुआ कि हो लोगों की वास-भूमि, 'कोल्हान', जमाने से शासन के साधारण दायरे के बाहर रखी गई—शायद बाह्यरूप से होकी परम्परा को जुगाने के लिए। किन्तु, असल में उस मणिमय अंचल को जन-साधारण की निगाह से बचाये रखने के लिए ही। वह क्षेत्र सभी तरह से 'वर्जित क्षेत्र' था। अलग अफसर, अलग नियम, अलग कानून, सब कुछ अलग। एक लम्बी अवधि तक अलगाव की इन परम्परागत भावनाओं ने हमें उनके प्रति उदासीन रखा हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। हम उनके वन-पर्वत, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, झरने-सोते, पर्व-त्यौहार, रस्म-रिवाज आदि सभी से अलग रहे और किसी के साहित्य की सुन्दरता को समझने के लिए उस समाज की अभिव्यंजना के मूल-स्रोतों को, प्रतीक और आलम्बनों को उपमा और रूपकों के प्रसाधनों को जानना, उनसे साक्षात्कार करना और उनसे आत्मीयता प्राप्त करना बहुत जरूरी है। मेरा अन्दाज है कि अ-मैथिल—

अहिवातक पातिल मध्य बन्द
सरवा सौं झापल दीप जकाँ
भितरे चमकै छी मुनल अहाँ
अछि जेना टेम पर टीप जकाँ

—का अर्थ और इसकी आन्तरिक सुन्दरता बिना मैथिलों की विवाह-विधि का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन और व्यक्तिगत जानकारी प्राप्त किये जान ही नहीं सकता। वह 'अहिवातक पातिल' को क्या समझ सकेगा, इसके भाव-गाम्भीर्य को समझना तो दूर की बात है। बेला और पलास दोनों को बिना देखे और सूँघे 'निर्गन्धा इव किंशुकाः' का असली अर्थ क्या जाना जा सकता है? हम 'ईचादाअदो' का अर्थ तबतक पूर्णरूपेण नहीं समझ सकते, जबतक हमारा 'ईचा' फूल से परिचय न हो। जबतक हमें उनकी फूस की झोपड़ियों से पूरा अपनापन न हो, तबतक हम 'सेनेयोर-सेनेयोर ते जनायु-जनायु ते' का अर्थ नहीं समझ सकते। इसी तरह 'रूपा दिदि' (एक पक्षी-विशेष) के स्वभाव से पूर्ण परिचय प्राप्त किये बिना 'सिरमायतेम निजुलेना रूपा दिदि' का क्या अर्थ समझ सकते हैं। सभी जन-जातीय लोक गीतों की यही बात है। उनकी आन्तरिक सुन्दरता का साक्षात्कार करने के लिए हमें उनके वातावरण तथा जीवन से पूर्ण परिचय प्राप्त करना ही चाहिए। ऐसा न होने से हम उनके साहित्य का मूल्यांकन नहीं कर सकते।

'माइले गेल नापानुम', अर्थात् 'सरगत-फूल-सदृश युवती' के रूपक में जो सुन्दरता है, वह तो आप कोल्हान के जीवन को नजदीक से देखने पर ही समझ सकते हैं। सचमुच हवा में लहराता सरगत का फूल कोल्हान की प्रस्फुटितयौवना के उन्मुक्त जीवन का ही प्रतीक है। इस उन्मुक्त वातावरण में डोलनेवाली, बोलनेवाली नृत्य-संगीत-पटुता को वनदेवियाँ ही पा सकती हैं। अतः, अगर आप हो-साहित्य का रसास्वादन करना चाहते हैं,

तो कोल्हान की पुष्पलताओं, घास-फूसों, पेड़-पौधों तथा पशु-पक्षियों के साथ आपको पूर्ण आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ना होगा, उनके साथ आपको भी झूमना होगा। उनके सुर में सुर और कदम से कदम मिलाना होगा।

गीत-भेद—लोक-साहित्य को हम दो मुख्य भागों में बाँट सकते हैं—लोक-कथा और लोक-गीत। जहाँ तक हो-साहित्य का प्रश्न है, लोक-कथाओं का संग्रह प्रायः नहीं के बराबर हुआ है, यद्यपि उनमें अमूल्य साहित्य-रत्न भरे हैं। मुण्डा-इलाके की लोक-कथाओं का संग्रह कुछ हुआ भी है और बहुत शीघ्र ही श्रीजगदीश त्रिगुणायतजी के अनमोल प्रयासों का फल साहित्य-संसार को मिलनेवाला है, किन्तु हो-इलाके की लोक-कथाओं का संग्रह अभी तक नहीं हुआ है। अतः प्रस्तुत निबन्ध में हम हो-लोकगीत की ही चर्चा मुख्यतः करेंगे। हो-लोक-गीतों को निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—'बा', 'हेरो', 'मागे' तथा 'विवाह'।

बा-गीतों को भी फिर हम उनके लय के अनुसार दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। 'साहर' या 'सार' तथा 'बोले'। पुनः 'बोले' के भी निम्नलिखित भेद होते हैं—'मूली' (दावरोउया), 'गेना', 'गाएडी' (गण्डुवा) तथा 'जोला' (जापे या जदुर)।

(क) 'बा-पर्व' अर्थात् 'पुष्प-पर्व'—हो का जीवन और कार्य ही पर्व है। जब प्रकृति-देवी अपनी पुत्री पलाश, कचनार और शाल के जूड़ों को सजा देती है, और उनकी मोहक मुस्कान और मदिर साँस से वातावरण ओतप्रोत हो जाता है, उसी समय से हो की जीवन-कार्य-संगीत-सरिता कल-कल करती फूट पड़ती है, और प्रकृति के इस उन्मादक वातावरण से घुल-मिलकर एक हो जाती है।

सार-गीतों में पार्थिव प्रेम या अश्लीलता कहीं नहीं पाई जाती। यह सचमुच कर्म-संगीत है। इन गीतों का सम्बन्ध किसी-न-किसी कार्य से है। 'सार' गीत की लय कठिन है और इसका रिवाज अब कम हो रहा है। सार-गीत के प्रथम दो शब्द होते हैं—'ले-लेले' और अन्तिम दो शब्द 'सार-लेले'। प्रारम्भ का प्रथम 'ले' लम्बा तानकर गाया जाता है और द्वितीय 'लेले' कम तानकर। इस 'लेले' की समाप्ति के बाद, गीत गाते समय प्रथम शब्द के उच्चारण में आवाज धीरे-धीरे ऊपर उठती है और दूसरे शब्द पर धीरे-धीरे नीचे गिरती है। इसी प्रकार, तीसरे-चौथे तथा पाँचवें-छठे शब्दों पर भी आवाज का चढ़ाव-उतार होता है। सबसे अन्त में 'सार' शब्द जोर से लम्बा तानकर गाया जाता है और 'लेले' कम तानकर। प्रत्येक शब्द में स्वर का आरोह-अवरोह साफ-साफ बतलाता है कि यह बहुत कठिन लय है और अपनी इस कठिनता के कारण यह अपनी लोकप्रियता खो रही है।

'बोले' गीत की चार लय हैं, जो एक-दूसरे से भिन्न हैं। इसमें 'जदुर' की लय सबसे कठिन है और 'गेना' की 'सहल'। फलतः, एक-दो 'जदुर-नृत्यों' के बाद 'गेना' क सरल नृत्य-गीत होता है। 'गेना' इस प्रकार नृत्य-गीत की शृंखला को टूटने नहीं देता, .. निष्प्राण नहीं होता। 'मूली' और 'गाएडी' गीतों की संख्या कम है।

(ख) 'हेरो' अर्थात् 'वैशाख'—इस पर्व में गाये जानेवाले गीत अपेक्षाकृत कम हैं। वैशाख की धूप से विदग्ध युवक युवतियों के हृदय को सींचनेवाले इन हेरो-नृत्य-गीतों में एक जादू भरा है। इस अवसर पर उनका दिल उमंग से उमड़ उठता है और उफनाने लगती हैं इस नृत्य-गीत की तरंग पर उनके हृदय की सारी सरस भावनाएँ।

(ग) 'मागे' अर्थात् माघ—यह 'हो' लोगों का प्रमुख पर्व है। यह त्यौहार माघ महीने में मनाया जाता है। इस त्यौहार के प्रथम दिन को 'गुरी', दूसरे दिन को 'माड़ा' तथा तीसरे दिन को 'बासी' कहते हैं। 'गुरी' तथा 'माड़ा' के दिन नगारा तथा माँदल के साथ खूब जमकर नृत्य होता है। अखाड़ा भरा रहता है। दोनों दिन गीत की ही नहीं, नृत्य की भी प्रधानता रहती है। 'बासी' के दिन सन्ध्या को नृत्य प्रायः समाप्त-सा हो जाता है और उसका स्थान ले लेता है गीत। गीत के साथ सारंगी तथा बाँसुरी की मधुर ध्वनि गूँज उठती है। युवतियाँ पंक्तिबद्ध होकर धीरे-धीरे नाचती हुई गाती हैं और युवक हो जाते हैं तन्मय अपनी-अपनी सारंगी और बाँसुरी के साथ। हजारों युवतियों के सरस कंठ और मधुर पद-ध्वनि से घुली-मिली हजारों युवकों की मुरली की आवाज एक अपूर्व और उल्लासमय वातावरण की सृष्टि कर देती है।

अगहन-पूस की कटनी के बाद 'हो' कुछ दिनों के लिए कृषि-कार्य से मुक्त-से हो जाते हैं। घर में 'नवान्न' होता है। मन में निश्चिन्तता होती है और अन्तर में उमड़ पड़ती है रस की धारा। यह पर्व इनके सुखमय दिनों का परिचायक है और निश्चिन्तता का प्रतीक। निश्चिन्तता के इन दिनों में हृदय की कली खिल उठती है, प्रेम का पराग वातावरण में छा जाता है। हास और विलास के भौंरे गूँजने लगते हैं और उल्लास के आलोक में सारा जीवन ही रंगीन हो उठता है। इन गीतों में शृंगार-रस की प्रधानता रहती है।

विवाह-गीत—चाहे वह कोई जाति हो, विवाह बिना गीतों के सम्पादित नहीं होता। विवाह की विधियाँ प्रायः गीतों से ही प्रारम्भ की जाती हैं और उनकी समाप्ति भी होती है गीतों के द्वारा ही। हो लोग भी इसके अपवाद नहीं, बल्कि उनके विवाह की छोटी-सी कड़ी भी बिना गीत और 'डियाग' (हँड़िया—चावल की शराब) के जुटती ही नहीं। प्रत्येक विधि का आरम्भ, सम्पादन तथा अन्त इन्हीं दो चीजों से होता है। नृत्य वातावरण में विधि-अनुकूल रस की सृष्टि करता है। विधि की गाड़ी इन्हीं तीन चक्कों के सहारे आगे बढ़ती है—नृत्य, गीत और 'डियाग'। इन गीतों में अवसरानुकूल रसों और भावों का सुन्दर सम्मिश्रण आपको मिलेगा।

इन गीतों के अलावा और भी गीत पाये जाते हैं, जिनमें अक्सर प्रेमी-प्रेमिका के बीच कथनोपकथन आपको मिलेंगे। आधुनिक हो-कवि ने विभिन्न विषयों को चुना है। श्रीसतीशचन्द्र कोड़ा ने ईश-प्रार्थना से लेकर कॉलेज के छात्र तक को अपनी कविताओं में समेट लिया है। ये कविताएँ बहुत सुन्दर और भावुकतापूर्ण हैं। हाँ, इनमें नवीनता का अपना खास रंग अवश्य है।

साहित्य-सौरभ

वन-पुष्प की तरह प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता हुआ 'हो'-युवक प्रकृति से ही प्रेरणा लेता है। वह उसी के साथ घुला-मिला है। फलतः, उसके साहित्य में प्राकृतिक सुन्दरता भाषा के माथे पर लदे गट्ठर के समान नहीं, वरन् घूँघट में छिपी दुल्हन की मुस्कान के समान है। हो-जाति के लोग शब्दाडम्बर द्वारा प्रकृति का वर्णन नहीं करते, उन्हें इसकी जरूरत ही महसूस नहीं होती। जीवन के साथ घुली-मिली प्रकृति ही, उपमा, आलम्बन, उद्दीपन और प्रतीक बनकर उनके साहित्य में आती है। उनकी कल्पना भी जीवन के साथ घुली-मिली होती है। वह चील की तरह उड़कर आकाश में नहीं मँडराती, वरन् मुर्गी की तरह फुदक-फुदक कर उन्हीं के इर्द-गिर्द घूमा करती है। उसे न लम्बी उड़ान की आवश्यकता है, न अभ्यास की। एक सुन्दरता की अनुभूति शब्द से प्राप्त करता है, दूसरा आँख से ही; एक कल्पना के पंख पर चढ़कर और दूसरा साक्षात्। एक अपनी इस अनुभूति की अभिव्यञ्जना शब्द से ही कर पाता है और दूसरे की अभिव्यञ्जना जीवन के सभी व्यापारों से ही निकलती रहती है; अतः यदि हम उनके साहित्य में रस लेना चाहते हैं, तो उनके प्राकृतिक जीवन की इस विश्लेषणात्मक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना होगा। उनके साहित्यिक संकेतों को जरा गहराई से समझना होगा।

यहाँ कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं, जिनमें आपको उनके साहित्य-सौन्दर्य की कुछ झाँकी मिलेगी—

कन्या-पक्ष किसी कारण से अपनी कन्या को उस लड़के को नहीं देना चाहता है, जिसकी दृष्टि उस कन्या पर थी और वह कहता है—

नो राम नेले तान सालू!
को दोम दारु चेता नेते
नो राम नेलेताना

× ×

माइ ले गेले नापानुम्
काको ने मामा

अर्थात्—कन्या को तुम देख रहे हो
कदम्बतरु से सालू!

× ×

सरपत-फूल सदृश
युवती यह देंगे नहीं तुम्हे

इसी तरह एक कमसिन लड़की के प्रति विवाह का प्रस्ताव लेकर आये हुए वर-पक्ष को लौटाया जा रहा है, अधिक 'गोनोङ' (कन्या-मूल्य) की माँग करके—

नेन्देर बुरू ताटी,
ताटी सेके-येके
नाउरी वाला माता श्रोग्गेम्
साला मांगल केड्
बुरु ताटी गिनता गोलोय
नेयादो वाला नेयादोम्
गोनोङ् सातीम कुलीञ् रेदो
हिसी वोड़ोञ् मेता मेया
दोसी वोड़ोञ् मेता मेया

अर्थात्—*यह पर्वत की तटी-घास*
सकवका रही, सनसना रही
अबतक न समधी! परिपक्व हुई
तैयार हुई।
पकने से पहले ही तूने
चुना, उसका स्पर्श किया
वह पर्वत की तटी-घास
है लहराती स्वच्छन्द मुक्त!
इसको समधी! इसको तूने
चुना है श्रौ दिठियाया है
कीमत श्रौ मूल्य अगर हमको
पूछेगा तू
मैं कह दूँगा बस बीस-तीस गोरू

पर, क्या आप इस तटी-घास और सरपत के फूल के साथ झूमे विना इसकी आन्तरिक सुन्दरता का अनुभव कर सकते हैं?

समधी समधी से हँड़िया पीने का आग्रह कर रहा है—

नुई नुईयालाङ् पुताम्
घूड़ा दाअदो पुताम्
केले योलेया पुताम्

अर्थात्—*पीवें हम दोनों कपोत!*
चूँश्रा का जल तो है कपोत!
है स्वच्छ, साफ, निर्मल, कपोत!

जबतक 'डियाङ्ग' (हँड़िया) के प्रति 'हो' की आसक्ति का आपको ज्ञान न हो, जबतक उनके प्रिय पेय में छनी उनकी मस्ती का आपको पता न हो, क्या आप उपर्युक्त रूपक को समझ सकेंगे? दूसरी जगह वे कहते हैं—

गाड़ा नाड़ि तान सेका वाला को
लोर लिङ्गी तान सेका वाला को
उडेयाबू लेंगेड्याबू वाला को
कावू ने पेरां ताना वाला को
अर्थात्—*नदियों के वेग-प्रवाह-सदृश ही समधी !*
नालों के धार-बहाव-सदृश ही समधी
हम पीवें धीरे-धीरे
हम पीवें, पीवें, समधी !

जिस प्रकार नदी का बहाव पानी खींचता जाता है, उसी प्रकार वे पीना चाहते हैं 'हड़िया' !

एक सम्पन्न घराने का लड़का एक गरीब घर में लड़की खोजने आया है, सामाजिक मान्यताओं के बन्धनों को तोड़कर; नीच-ऊँच का विचार छोड़कर !

इस अवसर पर लड़कीवाले कह रहे हैं—

नेपाव-नेपाव नुड़ि गाड़ा
तेरपाव-तेरपाव मारा गाड़ा
चिम्रतेजा कोङ्ड्ड् पुड़िद्
पुड़िद् निरजोम पारोम लेना
अर्थात्—*इधर-इधर छोटी नदी*
उधर-उधर बड़ी नदी
हे बाज ! यहाँ कैसे आये
तुम कैसे पार होकर आये !

कितनी स्वाभाविक उपमा है ! इन नदियों को पार करनेवाला शिकारी पंछी बाज ही तो हो सकता है।

कन्या-पक्ष ज्यादा 'गोनोङ्' (कन्या-मूल्य) पाने की जिद पर अड़ा है, तो वर-पक्ष कह रहा है—

गोनोङ् चाहिङ् चांड़े तनने
गिरवा मिटुर मिङ् गुतारिकिङ्
× ×
सानी चाहिङ् चांड़े तनने
चांदे मेरम दाल लिकिङ्
अर्थात्—*मूल्य-मांग तू रही गगन को*
छूने ऊँचे तन-छाया
मूल्य-गिर है सस्ती धरा पर
बनी आत्म-मत काया

मूल्य-माँग का कितना सजीव चित्रण है यह ! और, मूल की दूसरी पंक्ति में अनुप्रास भी देखें।

'गोनोह्' में अच्छे-अच्छे गाय-बैल दिये गये हैं, जिनकी तारीफ की जा रही है—

नुडि गाडा तोल् केन को
मारां गाडा तोल केन को
किता विली गुइञ् गुइञ्
वोयसर कोञ्

× ×

डिम्बुआं दामकोम् को
तैरजां पेटा कोञ्

× ×

सुजा लेका दिरियन को
कैड लेका मेडान् कोय

अर्थात्—*छोटी नदी को बाँध सकनेवाले*
बड़ी नदी को रोक रखनेवाले
खजूर फल-से, चिकने खजूर फल-से काले

× ×

डिम्बू-फल-बीज-सा साँड़
ककड़ी-फल-बीज-सी बछिया
सूई-से सींगवाले बैल,
घुँघुची-सी आँखवाली बछिया

वनवासियों के लिए ये उपमाएँ कितनी स्वाभाविक और व्यंग्य-विनोदपूर्ण हैं।

एक पंक्ति में ही एक सुन्दरी का नख-शिख-वर्णन देखें—

चेतान पुकुरि ताड़ाय धाड़ा
लातार पुकुरि ताड़ाय धाड़ा

अर्थात्—*ऊपर के सर में कमल-फूल हँसता है*
नीचे पोखर में पद्म-पुष्प पसता है।

कहीं-कहीं चंचला युवती की तुलना पीपल के चंचल पत्र से की गई है। विवाह के पहले ही गर्भवती हो जानेवाली एक कुलटा लड़की के सम्बन्ध में कहा गया है कि लड़की पके महुए के समान फूली हुई है। मेम पर लत्तर तथा नव कोंपलें लग रही हैं। अर्थात्, लड़की गर्भवती हो चुकी है! उस लत्तर के अन्दर से नव कोंपल आ रही है। युवती के लिए पका महुआ तथा लत्तर की उपमा और गर्भ के लिए जड़ से फूटनेवाली नई कोंपल की उपमा कितनी स्वाभाविक है। कितना स्पष्ट भावोद्रेक-चित्रण है!

हो-लोक-गीतों में मानवी भावों की अभिव्यक्तियाँ बहुत सरस, किन्तु सीधे तरीके से आई हैं। निम्नलिखित पंक्तियों को देखें। क्या ये किसी भी उन्नत, अभिजात साहित्य की पंक्ति में विशेष स्थान पाने लायक नहीं ?

एक लड़की ससुराल जा रही है। लड़कपन में अपने भाई से जबतब भात के हिस्से के लिए लड़ाई हो जाया करती थी और भाई अक्सर कहता था, 'माँ, तू कब इसे ससुराल भेज देगी'। ससुराल जाते समय रोती हुई बहन उसी भाई से विदा लेती है—

नेयाँ राचा कदलीङ् कान्दी
मापाँ राचा कदलीङ् कान्दी
चुइला ना नुड़ारो
चुइला ना पयारो
मेना गेया वारें का जीया
नाअदोनावरें नुड़रेयान्
नाअदोनावरें पायारेयान्
नावेन सुमां ताड़ी माएडी
नावेन सुमां मटिया डियाङ्

× ×

ताड़ी माएडी जुमा काएते
मटिया डियाङ् नुआ काएते
मुसिवानो मुसि तोरां
मेड्दा दोवेने जोरोया वारें

अर्थात्—माँ आँगन का केला-घौद
बाबू आँगन का केला-घौद
कब निकलेगा कब जायगा ?
भैया ! आप कहा करते थे।
ले ! अब तो यह उठी यहाँ से
ले ! अब तो यह हटी यहाँ से
खायें थाली भात अकेले
पीयें मटिया-भर डियाङ् लेलें
फिर भी
खाकर थाली भात
पीकर मटिया हँड़िया
एक-न-एक दिन शायद
आँसू गिरें
बहेगी स्नेह की दरिया !

स्नेह और आशा से सना कितना मार्मिक उलाहना है यह ! पारिवारिक जीवन का ऐसा सजीव और स्नेहमय स्मृति चित्रण आपको बहुत कम मिलेगा ।

और, अब सखियाँ स्मृतियों के धागे में मोती की माला पिरोकर पहनाती हुई विदा कर रही हैं—

नोरा नातोम बुरुइ बाड़ा
मिसा तेलाङ् बाड़ा केना गतिञ्
नाश्रदो गतिञेम् नूड़ा रेयान्
मश्रदो गतिञेम् पाया रेयान्
नोरा नातोम तिलाय बाड़ा
नोकोय लोश्रतेञ् बाड़ाय गतिञ्
माटङ् गाड़ा सुरु गितिल्
डुमचुल-डुमचुल माएडा तुइञ् मे

अर्थात्—पथ के किनारे बुरुइ फूल
हम दोनों साथ
तोड़-तोड़ चुन-चुन
पहनती थीं सखि री !
आज तो हे सखी !
जाती तू मुँह मोड़
जाती है सखी !
इस गाँव को, जगह को छोड़
अब किसके साथ मिल
मग के किनारे फूल
किसके साथ पहनूँगी
चुन-चुन तिलाय फूल
याद रहे जिससे
साथ-साथ फूल तोड़ना
पड़ी नदी-रेत पर
निज लघु पद-छाप छोड़ना ।

कितना हृदय-स्पर्शी स्मृति-चित्रण है यह ! इस स्मृति और स्नेह की गहराई का पता आपको तबतक नहीं लगेगा, जबतक आपको यह ज्ञान न हो कि सखियों की 'बुरुइ' और 'तिलाय' फूल के साथ कितनी आत्मीयता है । जबतक दोनों के हृदय को जोड़नेवाले इन पुष्प-बन्धनों का अनुभव आपको न हो, गाँव की सीमा पर बहती नदी के बहकते बालुकामय हृदय पर अपने नन्हें-नन्हें पद-चिह्नों को छोड़ जाने की यह याचना कितनी गंभीर है !

और फिर दूसरी सखियों द्वारा भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी विदाई सुनिए—

सरजोम पाड़ा झुमझु झुम्बा
झुम्बा गतिञ्
नामदो नाम पागे नानुङञ्
तिलाय पाड़ा तुंगुर सुगुर
सुगुर गतिञ्
नामदो नाम सेनो आनुङञ्
सोदा दोरेन मेनेया गतिञ्
आयर दोरेन फाभिया गतिञ्
मिपद पुटा, बुरुद पाड़ा
मिसा तेसे पाड़ाय गतिञ्
नाम्दो गतिञ्मेम पागे नानुङञ्
नाम्दो गतिञ्मेम सेनो आतुङञ्
सरजोम पाड़ा सुपय सुरय
सुपय गतिञ्
ईच पाड़ा मेद्दा आदो ओरो नातुङञ्
मेना माहरे
मिपद् बुरा बुरुद् पाड़ा
नोकोय सोलेञ् पाड़ाय गतिञ्

अर्थात्—हे शाल-पुष्प की सघन गुच्छ-सी न्यारी !
सखि ! आज छोड़ देगी मुझको तू प्यारी !
तिलाय-पुष्प प्रस्फुटित गुच्छ सखि न्यारी !
जायगी तू तज मुझे आज तो प्यारी !
पहले तो तू कहती थी सखी हमारी !
आगे तो तू कहती थी सखी हमारी !
हम सुमन एक ही बुरुइ-वृक्ष का लाकर
पहनेंगी साथ सुमन सखि ! सदा सजाकर
पर छोड़ दे रही है आज सखि तू मुझको
सखि आज चली जा रही छोड़कर मुझको
पहनूँगी किसके साथ फूल सखि मेरी !
एकही बुरुइतरु-सुमन चुन करके री !
हे शाल-पुष्प-सी लहराती हँसती
खिलती सखि जाओ
मेरे हित 'ईचा'-सुमन-अश्रु
भैया तू दे बरसाओ !

और अब पिता अपनी पुत्री से विदा ले रहा है—अपनी नवविवाहिता पुत्री को दाम्पत्य-जीवन के सम्बन्ध में उपदेश देते हुए—

जनम हासा जनम गूड़ी
रासा के नाम एन ऊड़ी
हापा नुम रासा जीड़ी
नाम्रदो पागे मनेने म्रड़ी
नींगे चोंगा नींगे हागा
नींगे नामाञ् जीवन दोंगा
धोंगा लंका से पह मे सारा
ते गे नामाञ् जीवन धाड़ा
नोंड़ा दुअर नामे याना
जनम दिसुम तोड़ा याना
ऊकू दाना नालो मनिरा
दिसुम निमिर ता आना

× ×

अर्थात्—तब तु जन्मभूमि में
अपनी जन्म-जोड़ी साथ
आनन्द मनाया खूब
मुक्त जीवन मुक्त आप
युवती कुमारी थी तब
जीवन आनन्द का था
अब तो छोड़ो भूलो दिन
जो निर्द्वन्द्व का था
इसी समय से हैं
देवता तुम्हारे यही
यही तो है तेरा
जीवन औ सहारा सही
देवता के समान ही
पूजो इन्हें आज से
अपने जीवन-फूल से
अपने सेवा काज से
अब नया घर-द्वार
मिला है तुझे अपना,
जन्मभूमि छूटी

बेटी! हुआ वह सपना
लुक-छिप कर यहाँ से कमी
भागना न अब है!
मैयाँ! आजकल की
दिन-दुनियाँ खराब है!

कितना सुन्दर उपदेश है यह! भारतीय आदर्श का कितना सुन्दर नमूना!

तो इसके बाद भी क्या आप यह कह सकते हैं कि 'हो' कोई भाषा नहीं और उसका अपना कोई साहित्य नहीं?

हो-साहित्य का दर्शन—जबतक मनुष्य प्रकृति के साथ था, और अपने-आपको संस्कृत या परिष्कृत नहीं बनाया था, उसका जीवन-सूत्र सुलझा हुआ था। वह प्रकृति के साथ ही श्रम करता था। सूरज, चाँद और तारे ही 'क्लॉक-टॉवर' का काम करते थे। पक्षियों का कलरव ही मिल का भोंपा था। उषा नित्य रजनी की चादर को जीवन के मुख से हटाती थी और मनुष्य मधुकर के समान ही जीवन-रस संचित करने लगता था। जीवन और श्रम में कोई अन्तर न था। वह एक कलात्मक जीवन था और था वह समाज का अनासक्त योग-युग। वे अभावों के बीच भी अभाव का अनुभव किये बिना कठोर श्रम करते रहते थे, ईमानदारी के साथ, निश्छलतापूर्वक! 'हो' लोग आज भी इसी अवस्था में हैं। उनका जीवन सभ्यता के अन्तर्द्वन्द्वों में, राग-द्वेष-दम्भ-जनित समस्याओं में, अभी उलझा नहीं है। फलतः, उनके जीवन में आज भी एकान्तता और शान्ति विद्यमान है। वे आज भी पंछियों के साथ उठते हैं, मधुमक्खियों के साथ खटते हैं तथा चाँद और सूरज के साथ हँसते और गाते हैं। उनकी हँसी से वन में वसन्त छाता है और उच्छ्वास से पतझड़। वेदना से अन्तरिक्ष में लहर उठती है और विरह से काली घटा आसमान में मँड़राती है। प्रकृति और उनके बीच कोई व्यवधान नहीं, कोई रुकावट नहीं। दोनों के बीच अगर कोई खाई है, तो नृत्य-गीत उसको पाट देते हैं। यह प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव होगा कि एकान्त में श्रमिकों के साथी होते हैं गीत और नृत्य। जिस प्रकार प्रकृति में कृत्रिमता का कोई स्थान नहीं, उसी प्रकार उसके जीवन में भी कृत्रिमता के लिए कोई जगह नहीं। उनके अन्दर मानवी भावों की लहरें अपने बिलकुल अछूते रूप में आती हैं और जीवन के सभी क्षेत्र में फैल जाती हैं। उन्होंने अपने को छिपाने की कला अभी तक नहीं सीखी है। वे न आँसू पीते हैं, न हँसी चुराते हैं। वे सरल और स्वतंत्र हैं। उनके स्वभाव स्वतंत्र हैं, उनके कार्य स्वतंत्र हैं और स्वतंत्र हैं उनकी अभिव्यक्तियाँ। उनकी सामाजिक व्यवस्था, सभी पुरुषों के बीच समानता की भावना भी इसी वातावरण से पैदा हुई हैं। उनके साहित्य पर इसका प्रभाव विद्यमान है।

'हो' लोगों का साहित्य प्रेम के धागे में पिरोई गई जीवन-शतरंज की पंखुड़ियाँ है। अपने समाज, सन्तान, प्रकृति, जीवन और कार्य के प्रति अगाध प्रेम! प्रेम ही प्रेम भरा है उनमें। प्रकृति की रंगीन गोद, एकान्त वातावरण, सरलता और मस्ती का जीवन, मुक्त भावना और प्रेम की लहर। यही है 'हो' लोगों के जीवन एवं हो-भाषा के साहित्य की पृष्ठ-भूमि।

अवधी भाषा और साहित्य

अवधी-भाषियों की संख्या लगभग दो करोड़ है। स्मरणीय है कि यह संख्या अफगानिस्तान जैसे बड़े देश की जनसंख्या के बराबर और यूरोप एवं एशिया के कई छोटे-छोटे देशों की जनसंख्या से कई गुना अधिक है। तुलनात्मक रूप में निम्नलिखित अंक पठनीय हैं —

सूदान की जनसंख्या		२४ लाख
फिनलैंड	,,	३५ लाख
स्विट्जरलैंड	,,	३६ लाख
आयरलैंड	,,	४५ लाख
बलगेरिया	,,	४६ लाख
स्कॉटलैंड	,,	५० लाख
ग्रीस (यूनान)	,,	५४ लाख
पुर्तगाल	,,	६० लाख
आस्ट्रिया	,,	६१ लाख
हॉलैण्ड	,,	६८ लाख
नेपाल	,,	७५ लाख
बेलजियम	,,	७७ लाख
हंगरी	,,	७८ लाख
तुर्की	,,	८० लाख
मिस्र	,,	१ करोड़ ३० लाख

साथ ही, हिन्दी की अन्य प्रादेशिक बोलियों के बोलनेवालों की संख्या अवधी-भाषियों की तुलना में किस अनुपात में पड़ती है, यह देख लेना भी प्रासंगिक ही होगा। बाँगरू २२ लाख, संताली ३० लाख, छत्तीसगढ़ी ३३ लाख, कन्नौजी ४५ लाख, बघेली ४६ लाख, खड़ीबोली ५३ लाख, बुन्देली ६७ लाख एवं ब्रजभाषा ७६ लाख लोगों द्वारा व्यवहृत होती है और मगही तथा मैथिली बोलनेवालों की संख्या कुल मिलाकर १॥ करोड़ होती है।

भोजपुरी-भाषियों की संख्या अवश्य ही अवधी बोलनेवालों की अपेक्षा कुछ अधिक है, किन्तु यह संख्या बढ़ सकती है, यदि इसमें अवधी की शाखा-भाषाओं का व्यवहार करनेवाली जनसंख्या जोड़ दी जाय। क्योंकि, बघेली और छत्तीसगढ़ी को अवधी के ही अन्तर्गत मानना चाहिए, जिनके बोलनेवालों की संख्या ७७ लाख है।

अवधी-भाषियों की संख्या बड़ी होने का कारण यह तो है ही कि यह जनपद खूब घना बसा है, साथ ही यह भी महत्त्वपूर्ण है कि इसका विस्तार भी कम नहीं है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन के अनुसार लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुलतानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी, गंगा-पार इलाहाबाद, फतेहपुर और कानपुर के कुछ हिस्सों में यह बोली जाती है। विशेष बात यह है कि बिहार के मुसलमान भी एक प्रकार की अवधी ही बोलते हैं। यहाँ पर मैं क्षमा-भाव से नम्र निवेदन करूँगा कि डॉक्टर सर जॉर्ज ग्रियर्सन के आँकड़ों में कुछ गलतियाँ अवश्य रह गई हैं। पर ग्रियर्सन साहब का तो तब भी चल सकता है; क्योंकि आज से आधी शताब्दी से भी पहले अँगरेज होते हुए हिन्दी-सम्बन्धी अनेक भ्रमोत्पादक बातें उन्होंने कहीं-कहीं प्रस्तुत की थीं। स्वतन्त्र भारत के स्वयं अपने रेडियो द्वारा ही प्रसारित 'हिन्दी की प्रादेशिक बोलियाँ' स्तम्भ में अवधी के ऊपर बोलते हुए प्रो० हरिहरनाथ टण्डन ने तो अवधी-भाषियों की संख्या केवल १ लाख ४० हजार दी है, जो परम हास्यास्पद जान पड़ती है।

हर्ष की बात है कि डॉक्टर उदयनारायण तिवारी ने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक 'भोजपुरी भाषा और साहित्य'[१] में पाठकों को काफी सही और शोधपूर्ण जानकारी कराई है। यद्यपि उसमें भी अवधी के विस्तार की पूर्वीय सीमा के निर्धारण में असावधानी के कारण कई भ्रमपूर्ण तथ्यों का समावेश हो गया है।

डॉक्टर सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इण्डिया' ग्रन्थ में जिस भाषा का वर्णन सरवरिया नाम से किया था, जिसका उल्लेख डॉक्टर तिवारी ने अपने उपर्युक्त ग्रन्थ के मानचित्र में भी कर दिया है (और जिसे कोसली कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है), उसका यह नामकरण बहुत भ्रामक है और शायद अवधी का यह नाम पहले कभी रहा भी नहीं था।

तिवारीजी ने इस नाम की उपभाषा का इससे पृथक् निर्देश जिला बस्ती के उत्तर-पश्चिम में किया है और उनके उपर्युक्त ग्रंथ में दिये हुए मानचित्र में बाँसी नामक स्थान को भी असावधानतावश बस्ती के उत्तर-पश्चिम में दिखला दिया गया है। वास्तव में, उस स्थान पर डुमरियागंज है, जो गोंडा एवं बस्ती की सीमा पर बस्ती जिले की एक उत्तर-पश्चिमी तहसील है। बाँसी बस्ती जिले की उत्तरी-पूर्वीय दूसरी तहसील है, जो उसके उत्तरी सीमान्त में नैपाल और पूर्व में गोरखपुर से मिलती है।

उस मानचित्र में इसी प्रकार लगभग ३०० वर्गमील क्षेत्रफल के एक दूसरे महत्त्वपूर्ण तथ्य के सम्बन्ध में भी गड़बड़ी हो गई है। जिले की पूरी पश्चिमी तहसील हरैया को जल्दी में डॉक्टर तिवारी ने भोजपुरी के क्षेत्र में सम्मिलित कर दिया है, जो नितान्त भ्रम-मूलक एवं भ्रमोत्पादक है। वास्तव में भौगोलिक तथा राजनीतिक दृष्टि से हरैया भले ही बस्ती जिले का अंग मान लिया गया हो, पर भाषा तथा जलवायु के दृष्टिकोण से यह ३०० वर्गमील का पूरा क्षेत्र फैजाबाद या अवध की ही सीमा में पड़ता है।

१. प्रकाशक—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।

सच पूछा जाय, तो बस्ती नगर के पास से बहनेवाली कुश्रानों नदी ही (जो कहीं-कहीं हरथा तथा बस्ती तहसीलों को पृथक् करती हुई आगे चलकर सरयू में मिल जाती है) लगभग ५०-६० मील तक अवधी की उत्तर-पूर्वीय सीमा बनाती है। कुआनो बहराइच जिले के किसी कुएँ से निकलकर गोंडा जिले से होती हुई बस्ती नगर के किनारे से बहकर अन्त में जाकर लालगंज नामक स्थान पर सरयू से मिलती है, जहाँ मनोरमा का भी सरयू में संगम होने के कारण तिमुहानी का एक भारी वार्षिक मेला चैत्र-पूर्णिमा को लगता है। इस मनोरमा का विशद वर्णन महाभारत में भी आया है[1] और इसी के तट पर महाराज दशरथ ने पुत्रेष्टि-यज्ञ किया था। रामायण-काल में यह नदी सम्भवतः सरयूजी की एक कटान-मात्र थी या स्वयं सरयू का उत्तरी तट उस समय आधुनिक मन्वउड़ा (मलस्थली) तक फैला रहा होगा। इस सम्बन्ध में पृथक् गवेषणा करने योग्य है और रायबहादुर स्वर्गीय लाला सीताराम कृत 'अयोध्या का इतिहास'[2] पठनीय है।

विद्वानों के सम्मुख फैजाबाद अथवा अवध की उत्तरी-पूर्वी सरहद पर मैं इसलिए जोर दे रहा हूँ कि यहीं अवधी और भोजपुरी की संक्रमण-रेखा पड़ती है और थोड़े ही दिन पूर्व तक तो आधुनिक उत्तरप्रदेश का नाम ही संयुक्त प्रदेश, बल्कि अँगरेजी में तो United Provinces of Agra and Oudh था। अवध का यह पृथक् अस्तित्व अँगरेजी शासन काल तक उत्तर-प्रदेश राज्य के पुराने नाम में ही नहीं, वहाँ के चीफ कोर्ट ऑफ् अवध के नामकरण में भी जीवित रखा गया था, जिसे अब प्रयाग हाई-कोर्ट की अवध-शाखा-मात्र कहा जाता है। आगरा तथा अवध की यह राजनीतिक होड़ अँगरेजों की ही देन थी या यों कहें कि उन्हीं की राजनीतिक चाल का एक नमूना थी। यह होड़ वर्षों तक वास्तव में प्रयाग तथा लखनऊ की ही होड़ बन गई और इससे पुराने जमाने की दिल्ली और तत्कालीन लखनऊ की साहित्यिक एवं राजनीतिक होड़ की बहुत दिनों तक याद आती रही थी। उन दिनों उर्दू के प्रसिद्ध महाकवि खानबहादुर अकबर जीवित थे और लॉर्ड मेष्टन की गवर्नरी के समय जब लखनऊ रूपी ललना के प्रति यह कहा जाने लगा कि 'लखनऊ हम पर फिदा औ' हम फिदाए लखनऊ', तो अकबर अपने प्रिय नगर प्रयाग के लिए आह एवं तरस-भरे शब्दों में बोल उठे थे कि 'इलाहाबाद में और है ही क्या? अकबर हैं या अमरूद है।'

हर्ष का विषय है कि प्रयाग तथा लखनऊ दोनों ही अवधी की सीमा के अन्तर्गत पड़ते हैं और प्रयाग से स्वर्गीय महामना मालवीयजी ने जब लॉर्ड मैकडॉनेल के विचारार्थ 'हिन्दी की अपील' जारी की थी, तो लखनऊ के उर्दू-हिमायती लोगों ने अपने मुकदमे की पैरवी अपने उर्दू अखबारों तक ही सीमित रखी थी।

डॉक्टर उदयनारायण तिवारी के इस मानचित्र में बाँसी (अर्थात् डुमरियागंज) अथवा इल्लौर से जो सीधी रेखा दक्षिण की ओर फैजाबाद जिले के टाँडा या अकबरपुर को

१. देखिए 'मनोरमा-माहात्म्य', लेखक—स्व० पण्डित रामनारायण उपाध्याय (बस्ती)।
२. प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग (सचित्र)।

छूती हुई जौनपुर, सुलतानपुर एवं सरयू नदी को पार करती हुई मिर्जापुर की पश्चिमी गाहड़ के किनारे-किनारे सोन नदी तक चली जाती, यही अवधी भाषा की वास्तविक पूर्वीय सीमा है। यही सीमा उत्तर की ओर गंगा भाषा की दक्षिणी हद से चलकर उत्तर-पूर्व में उसकी मातृभाषा भोजपुरी को छूती हुई बनारसी (अथवा काशी का) एवं मिर्जापुरी के किनारे-किनारे चलती हुई बघेली की उत्तर-पश्चिमी सीमा में लुप्त हो जाती है।

भाषा-सम्बन्धी इस प्रकार का विस्तृत सीमा-निर्धारण एवं अध्ययन जितना अच्छा प्रान्त में हुआ है, उतना आज तक शायद अन्य किसी देश में नहीं हो सका है। वहाँ तो प्रत्येक ग्रामीण का निर्णय सर्वे कर डाला गया है, पर इसके विपरीत अपने यहाँ तो यही कहकर संतोष कर लिया जाता है कि 'चार कोस पर पानी बदले, बीस कोस पर बानी।'

ऐसे करोड़ प्राणियों द्वारा कई सहस्र ग्रामीणों में बोली जानेवाली अवधी-भाषा के इस व्यापक क्षेत्र में पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण का भेद-भाव स्वाभाविक ही है। पूर्वी अवधी का एक छोर जहाँ भोजपुरी एवं काशिका अथवा बनारसी से टक्कर लेता है वहाँ पश्चिमी अवधी कन्नौजी तथा खड़ी बोली में जाकर मिल जाती है। अच्छा ही है कि उत्तरी-दक्षिणी नाम से अवधी की पृथक्-पृथक् दो और बोलियाँ नहीं मानी जातीं, यद्यपि वैसे भी पूर्वी-पश्चिमी अवधी में केवल नाम-मात्र का ही भेद दिखाई देता है।

यह सूक्ष्म भेद भी एक तो कुछ शब्दावली और दूसरे क्रियाओं के थोड़े-से रूपों में दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए, पूर्वीय अवधी के गोंडा तथा बस्तीवाले क्षेत्र में 'हम जाव, जावै; तूँ जावो, तैं जावे, मैं जावों' आदि कहते हैं, तो अयोध्या के इर्द-गिर्द (फैजाबाद, सुलतानपुर, जौनपुर, प्रतापगढ़ आदि में) 'हम जाव, हम आउब, तूँ जाब्या, तूँ अउब्या' इत्यादि बोला जाता है और इसी प्रकार पश्चिमी अवधी के सीतापुर, हरदोई एवं लखीमपुर क्षेत्रों में 'जइबा, अइबा, जात हैं, जैयत है' आदि बोलते हैं। पूरब के लोग 'लैबौं, जाबौं, खाबौं' आदि भविष्यकालीन रूप बनाते हैं, तो पश्चिम में 'लेहौं, लैहौं, अइहौं, खइहौं' इत्यादि। इसी भाँति जहाँ पूरब में 'मोर, तोर, तोहार, बनके, हमार' (मुस्लिम लोगों द्वारा 'हमरा, तोहरा, तोहरी, मोरी') स्त्रीलिंग में 'हमारि, तोहारि, बनके, तोरि' आदि बोला जाता है, वहाँ सीतापुर, हरदोई तथा लखीमपुर की ओर 'म्वार, त्वार, वनहिन क्यार, वनहिन के' आदि कहते हैं।

लखीमपुर जिले में बोली जानेवाली लखीमपुरी नामक बोली को तो डॉक्टर बाबूराम सक्सेना[1] ने एक पृथक् उपभाषा ही मान लिया है।

इस लखीमपुरी को ठीक वैसा ही समझना चाहिए, जैसे बिहार राज्य की श्रीपुरी अथवा सिरीपुरिया नामक बोली, जिसके सम्बन्ध में पश्चिमी-बंगाल-काँगरेस-कमिटी ने ही नहीं, वहाँ के प्रसिद्ध नेता डॉक्टर नलिनीरंजन सरकार, बिहार-एसोसिएशन के सभापति

१. देखिए 'Lakhimpuri : A Dialect of Awadhi' by Dr. Baburam Saksena, M. A., D. Lit. (Indian Press, Ltd. Allahabad).

बाबू बलदेव सहाय तथा स्वयं बिहार-सरकार ने भी राज्य-सीमा-पुनर्निर्धारण-आयोग (States Boundary Re-organisation Commission) के सम्मुख तरह-तरह के प्रस्ताव रखे थे। श्रीपुरी यों तो केवल पूर्णिया जिले के श्रीपुर-नामक स्थान के इर्द-गिर्द ही बोली जाती है और इसके बोलनेवालों की संख्या दस लाख बतलाई गई है, पर इस प्रकार के भेद करने पर तो बोलियों की संख्या अनियन्त्रित एवं असंख्य होती जायगी। लन्दन-जैसे विशालकाय नगर के पूर्वी तथा पश्चिमी छोरों पर बोली जानेवाली अँगरेजी में भी ऑक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिजवाले भेद मानते हैं। इतना ही नहीं, इन दोनों विश्वविद्यालयों के स्नातकों में स्वयं अनेक अँगरेजी शब्दों के उच्चारण एवं व्यवहार-प्रणाली में भेद ही नहीं, मतभेद भी पाया जाता है।

इस हिसाब से तो फिर मिर्जापुरी, बनारसी, जौनपुरी, फर्रुखाबादी तथा सुलतानपुरी अथवा प्रतापगढ़ी नामक उपभाषाओं का भी अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा और तब तो कितनी ही नई बोलियों की सृष्टि हो जायगी। भाषाओं या उपभाषाओं के विकास का वैज्ञानिक अध्ययन एक बात है और उनके स्वतन्त्र रूपों के आधार पर राजनीतिक, सांस्कृतिक अथवा सामाजिक माँग पेश करके सरकार को तंग करते रहना दूसरी बात ही नहीं, *देश के सम्मुख एक बड़ा झगड़ा खड़ा कर देना है। आन्ध्र-भाषाभाषियों ने अपनी* इस हठपूर्ण माँग में सफलता प्राप्त करके भारतवर्ष की कोई सेवा नहीं की और न भारत-सरकार ने ही इस बात पर घुटने टेककर अपनी दूरदर्शिता का ही परिचय दिया है।

बिहार-राज्य में भी मगही, मैथिली, श्रीपुरी, भोजपुरी आदि की जो अलग-अलग लहरें उठ रही हैं, उन्हें उचित रूप से नियन्त्रित करके भाषा एवं साहित्य अथवा भविष्य की संस्कृति के लिए एक सर्वथा नवीन विद्युत्-शक्ति उत्पन्न की जा सकती है, पर साथ ही साथ देश-भर के राज्यों के छोटे-छोटे टुकड़े करवाकर ओछी मनोवृत्तियों एवं अनेकानेक कलहों तथा अनावश्यक संघर्षों की दीर्घव्यापिनी जड़ें भी इन्हीं के सिंचन से पनप सकती हैं। अतएव, इस सम्बन्ध में भाषा के उपासकों को अभी से सतर्क रहने की आवश्यकता है और हमें विश्वास है कि इस प्रकार की स्थानीय 'मातृ-भाषाओं' की उन्नति के नाम पर होनेवाले देश-विरोधी आन्दोलनों से हमारे नेतागण अपने अपने राज्यों को यदि बचाते ही रहेंगे, तो अन्ततोगत्वा देश का हित ही होगा। तथास्तु!

पूर्वी और पश्चिमी अवधी के बारीक भेदों में बहुत न पड़कर यहाँ संक्षेप में दोनों की मुख्य विशेषताओं का दिग्दर्शन करा देना ही पर्याप्त होगा। पूर्वी में प्रायः प्रत्येक संज्ञा, क्रिया, विशेषण अथवा क्रिया विशेषण के साथ द्वित्वात्मक अर्थ देने के लिए एक और प्रायः काल्पनिक अथवा कभी-कभी वास्तविक संज्ञा, क्रिया, विशेषण अथवा क्रिया-विशेषण जोड़ दिया जाता है। इस जोड़े हुए शब्द को उपसंज्ञा, उपक्रिया आदि कहा जा सकता है और यह प्रवृत्ति पश्चिमी अवधी में कम और संसार की दूसरी भाषाओं में तो और भी कम पाई जाती है। उदाहरण के लिए जहाँ पंजाबी में 'रोटी-रोटी' कहते हैं, वहाँ पूर्वी अवधी में 'रोटी-ओटी' या 'रोटी-सोटी' बोलते हैं। इसी प्रकार संज्ञाओं में

'लूगा-लत्ता'[1], कपड़ा-लपड़ा, पानी-धानी, चूनी-चोकर'; क्रियाओं में 'रोइब-धोइबै, रोइब-रगइब'; पूर्वकालिक रूपों में 'मागि-मूगि', 'काँखि-कूँखि', 'काँखि-पादि' आदि; विशेषणों में 'उज्जर-बिज्जर, मोट-डाँट, नीक-नोहर, नीक-चाउर, पातर-छीतर'; क्रियाविशेषणों में 'चुट-फुट, सट्ट-पट्ट, सटर-पटर, गुदुर-पुदुर' आदि हैं।

पूर्वकालिक के दुहरे प्रयोगों में 'मारि-काटि, पीटि-पाटि, मारि-मरिआइ, मरि-जरि, मारैं-पीटैं, मारैं-काटैं, मारि-मूरि, जरि-मरि' आदि की भाँति रूप चलते हैं और ध्वन्यात्मक प्रयोगों में भी इसी प्रकार के द्वित्व प्रचलित हैं; जैसे, 'लटर लटर, गुदुर-गुदुर, भकर-भकर, सुदुर-सुदुर, पुटुर-पुटुर' आदि। अवधी की शब्द-रचना-सम्बन्धी अपनी पृथक् प्रवृत्तियाँ हैं, जिनका विवेचन मैंने अपने एक लम्बे लेख 'अवधी की कुछ प्रवृत्तियाँ' में कई वर्ष पूर्व किया था।[2] इन प्रवृत्तियों में दूसरी भाषाओं के कठिन-से-कठिन शब्दों को भी तोड़-मरोड़, मधुर बनाकर अपने भाण्डार में इस प्रकार हजम कर लेना भी एक है, जिससे उनकी विदेशीयता जान भी न पड़े। उदाहरण के लिए, अँगरेजी 'लैण्टर्न' का लालटेमि, स्टेशन का टेसन आदि[3]—ऐसे शब्दों में अरबी, फारसी अँगरेजी तथा अन्यान्य विदेशीय भाषाओं के शब्द हैं, जिनके सहस्रों उदाहरण मेरे 'अवधी-कोष' में मिलेंगे। सैकड़ों ऐसे शब्द तो ज्यों-के-त्यों अवधी ने अपनी बिरादरी में सम्मिलित कर लिये हैं, जैसे अरबी के जैयद, जाबिर; फारसी के जुज, जादू, जिरह आदि। बहुतों को शायद ज्ञात न हो कि फारसी में 'जादू' उस व्यक्ति को ही कहते हैं, जो जादू करता है। 'जुज' शब्द को तो पश्चिमी अवधी में क्रिया-विशेषण बनाकर देहातवाले कुछ भिन्न अर्थ में ही प्रयुक्त करने लगे हैं और 'जैयद' जिसे अरबी में शान-शौकत, विद्वत्ता आदि के लिए प्रयुक्त किया जाता है, अवधी में बड़े पेड़ों तक के लिए बोला जाने लगा है। संक्षेप में अवधी की पाचन-शक्ति अद्भुत है और शब्दों में अनेक प्रकार के परिवर्त्तन करके संज्ञा से क्रिया, विशेषणों से भाववाचक संज्ञाएँ आदि बना लेने की प्रवृत्ति अवधी में श्लाघनीय दिखाई पड़ती है।

पूर्वी अवधी में वर्त्तमानकालिक रूप का अन्त 'त' में होता है, पर पश्चिमी अवधी के सीतापुरी तथा लखीमपुरी व्याकरण में ये रूप 'ति' में समाप्त होते हैं। फैजाबाद में यदि कहेंगे 'वै जात अहैं' तो सीतापुरवाले कहेंगे 'उइ जाति हैं', जिसे सुनकर पूरबवाले हँस पड़ेंगे; क्योंकि वहाँ 'ति' स्त्रीलिंग शब्दों के साथ लगता है। इस दृष्टि से पश्चिमी अवधी संस्कृत की 'ति' की रक्षक जान पड़ती है। और भी पश्चिम जाकर पंजाबी में तो संस्कृत की निकटता 'सत, अठ, पंज' आदि शब्दों में दिखाई पड़ती है, जिनके लिए हम

---

१. मैथिली में 'नूआ-नत्ता', देखिए, मेरा लेख 'अवधी और मैथिली में साम्य' ('माधुरी', सन् १९३९ ई०)।

२. देखिए, 'हिन्दुस्तानी' त्रैमासिक, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग (सन् १९३३ ई०)।

३. देखिए, 'अवधी-कोष' (सन् १९५५), प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, मूल्य—साढ़े सात रुपये।

पूरबवाले 'सात, आठ, पाँच' बोलते हैं, जो संस्कृत के 'सप्त, अष्ट, पंच' से दूर चले जाते हैं।

प्रायः प्रत्येक संज्ञा से नामधातु बना लेना अवधी के बाँये हाथ का खेल जान पड़ता है और इस सम्बन्ध में आज से छब्बीस वर्ष पूर्व मैंने एकेडेमी के 'हिन्दुस्तानी' नामक त्रैमासिक पत्र में एक लेख प्रकाशित कराया था।[1] नामधातु बना लेने की यह प्रवृत्ति तो संसार की सभी भाषाओं में है, पर जितनी प्रबल और व्यापक यह अवधी में पाई जाती है, उतनी संसार की शायद ही किसी दूसरी भाषा में हो। माटी से मटियाइब, गारी से गरियाइब, पानी से पनियाइब, हाथ से हथियाइब, अँगुरी से अँगुरियाइब आदि असंख्य नमूने दिये जा सकते हैं। अवधी की अन्यान्य प्रवृत्तियों का विवेचन मैंने दो वर्ष बाद एक दूसरे निबन्ध में 'अवधी की कुछ प्रवृत्तियाँ'[2] नाम से किया था। इन प्रवृत्तियों में संज्ञाओं और विशेषतः व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के शब्दों को दुकारकर, 'या' अथवा 'वा' लगाकर लम्बा कर देने की एक प्रवृत्ति है, जो भोजपुरी में भी पाई जाती है। अपने से छोटों, विशेषतः नौकरों के नामों को 'दुकारने' की यह मनोवृत्ति दासता-सूचक जान पड़ती है और उसीसे बढ़कर निर्जीवबोधक अथवा नपुंसक संज्ञाओं में भी पहुँच गई है, जो सर्वथा निरर्थक-सी है; जैसे, किताब से 'किताबिया', कलम से 'कलमिया', कोट से 'कोटवा' आदि। इसमें समय और शक्ति का नाश होता है, जो दासता के युग का दूसरा लक्षण है।

परन्तु, शब्दों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थों में परिवर्त्तन की भी शक्ति अवधी में है और इन अर्थों की भिन्नता में विवेक करने की बुद्धि भी इस भाषा में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिए दरब, दररब और दरेरब; तर, तरहँत, तरब, तरेरब आदि में कितनी सूक्ष्मता भरी है, यह अवधी भाषी ही जानते हैं। सभी क्रियाओं में प्रेरणार्थक रूप बना लेने की क्षमता, विशेषणों तथा संज्ञाओं में भी ऐसे ही रूप-परिवर्त्तन की शक्ति आदि इस भाषा के महत्त्व अस्त्र-शस्त्र हैं। अवधी के दो-चार शब्द तो विचित्र हैं, जिनका उल्लेख यहाँ विद्वानों के सम्मुख कर देना श्रेयस्कर होगा। कुछ तो ऐसे हैं, जिनका एक रूप मिलता है, दूसरा नहीं; जैसे छेगड़ी और धगरिनि, जिनके पुँल्लिंग-रूपों का पता ही नहीं। इसी प्रकार प्रेरणार्थक रूप में एक क्रिया बोली जाती है—'हँढ़ाइब' (मरवाना), पर इसके साधारण मूल का पता नहीं। सबसे कौतूहलजनक तो है 'पहिती' शब्द, जो मुझे अफगानिस्तान भर में 'पाहिती' रूप में प्रयुक्त होते मिला। अवध और अफगानी सीमा के एक हजार मील के अन्तर में इस शब्द का पता नहीं, यद्यपि संस्कृत के प्रहित+इन् प्रत्यय से इसकी व्युत्पत्ति स्पष्ट है। यह शब्द न तो इधर अवध की पड़ोसी भाषा कन्नौजी, ब्रज आदि में मिलता है और न उधर पश्तों की पड़ोसी बिलोची, सिन्धी आदि में ही पाया जाता है। पता नहीं, ५०० कोस की इतनी लम्बी कुदान कैसे और कहाँ से इस शब्द ने भरी!

१. देखिए 'अवधी के नामधातु तथा प्रत्यय', प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग (सन् १९३१ ई०)।

२. देखिए 'अवधी की कुछ प्रवृत्तियाँ', प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग (सन् १९३३ ई०)।

ऐसी भाषा को जायसी तथा तुलसी-जैसे महाकवियों ने माँजकर शुद्ध किया है, जिससे इसकी क्षमता एवं महत्ता कई गुनी बढ़ गई है। तुलसीदासजी का प्रभाव तो पूर्वी एवं पश्चिमी दोनों ही क्षेत्रों में व्यापक रहा है, जिसके दो मुख्य कारण जान पड़ते हैं—एक तो उसमें भगवान राम जैसे महान् चरित्र का वर्णन एवं विवेचन, दूसरे स्वयं लेखक की दोनों क्षेत्रों में भ्रमणशीलता, जिसका फल यह हुआ था कि चित्रकूट तथा राजापुर से लेकर काशी ही नहीं, जनकपुर तक उनके प्यारे चरित्र का स्पष्ट प्रभाव जनता पर पड़ा। जहाँ-कहीं भी जाइए, कबीर तथा तुलसीदास के भजन गाते हुए बाहर सड़कों पर, छायादार पेड़ों के नीचे अथवा देहात के दरवाजों पर तम्बूरा अथवा खँजड़ी बजाते भिखमंगे दिखाई पड़ेंगे, जिनके गीतों के अन्त में प्रायः होगा—"तुलसी दास प्रभु श्याम चरन की, तुलसीदास गावहु भगवानहिं' अथवा 'कहत कबीर सुनहु भाई साधो।"

जायसी का प्रवेश जनता के भीतर इतना व्यापक नहीं हो सका, जिसके दो मुख्य कारण थे—एक तो वे स्वयं साधक-रूप में एक ही स्थान पर डटे रहे, दूसरे उनके ग्रंथों का विषय प्रायः दुरूह एवं अगाधगम्य था। कबीर अथवा तुलसी की भाँति उन्हें अपनानेवाली सन्तों अथवा शिष्यों की परम्परा भी न मिल पाई। विषय की सुगमता तथा प्रेरणा की प्रचुरता के ही कारण तो अवधी का सर्वप्रथम महाकाव्य जगनिक का 'आल्हा-खण्ड' जनता के भीतर इतना व्यापक प्रवेश पा सका है कि कई शताब्दियों तक लिपिबद्ध न होने पर भी इसे लाखों लोग गाते और सुनते रहे हैं। अब तो इसके छपे संस्करण हिन्दुस्तानी में ही नहीं, अँगरेजी में भी प्राप्य हैं। अँगरेजी में सर्वप्रथम इसे सर चार्ल्स इलियट ने लिपिबद्ध कराया था, जो सन् १८६५ ई० की बात है, पर उसके वर्षों बाद 'The Lay of Alha' (आल्हा का गीत) नाम से इसका अँगरेजी-अनुवाद भी इङ्गलैण्ड से प्रकाशित हुआ। आज से ७०-८० वर्ष पहले तक—बल्कि यों कहिए कि ३० वर्ष पूर्व तक—आल्हा-जैसा साहित्य, निम्न स्तर का वह साहित्य समझा जाता था, जिसे पढ़ी लिखी जनता उपेक्षा ही नहीं, घृणा भरी हँसी की भावना से देखती थी। अलबत्ता यदि सर जॉर्ज ग्रियर्सन, इलियट अथवा शेरिंग जैसे किसी अँगरेज विद्वान् ने इस प्रकार के साहित्य का संग्रह प्रारम्भ कर दिया, तो भले ही मुझ जैसे अँगरेजी पढ़े अथवा आदरणीय पण्डित रामनरेश त्रिपाठी जैसे लगन के ग्रामगीत-उपासक उसको सहयोग देकर स्वयं कभी-कभी उपहासास्पद स्थिति में पड़ जाते थे। पर, सौभाग्य से वह युग अब लद गया और हम पुरानी बातों की ओर लौटे जा रहे हैं।

अवधी-क्षेत्र में तुलसी, जायसी तथा कबीर की परम्परा के परिपोषक अनेक भक्त अथवा सूफी कवि हुए हैं, जिनका विवेचन डॉक्टर त्रिलोकीनारायण दीक्षितजी ने अपनी छोटी पुस्तक 'अवधी और उसका साहित्य'[1] में किया है। उनका पिष्ट-पेषण न करके मैं यहाँ दो-तीन बातों पर प्रकाश डालना ही अधिक उपयोगी समझता हूँ। एक तो अवधी के पुराने मौलिक साहित्य के संग्रह के सम्बन्ध की बात है। अवधी तथा बैसवाड़ी

१. प्रकाशक—राजकमल-प्रकाशन (दिल्ली), पृ० १४०, मूल्य दो रुपये मात्र।

का अधिकांश साहित्य 'किहनी', 'बुझौवलि' तथा लोक-गीतों के रूप में ही प्राप्य है, जिनका थोड़ा संग्रह त्रिपाठीजी ने 'कविता-कौमुदी' के एक भाग में कर डाला है। इस क्षेत्र में अभी बहुत बड़ा काम शेष रह गया है और हर्ष है कि निरन्तर तत्सम्बन्धी साहित्य के संग्रह एवं प्रकाशन का काम होता जा रहा है, यद्यपि संगठित रूप से यह कार्य किसी संस्था द्वारा नहीं सम्पन्न किया जा रहा है, जैसा कि पाश्चात्य देशों में हुआ है। वहाँ से अँगरेजी में छपे Percy's Lyrics के मोटे मोटे पोथों को देखकर दंग रह जाना पड़ता है, यद्यपि हमारे यहाँ के प्राचीन साहित्य में दन्त-कथाओं, गीतों आदि के अतिरिक्त कितनी ही पहेलियाँ, कहावतें तथा लोरियाँ आदि हैं, जिनका संग्रह तथा सम्पादन वर्षों का काम है।

तुलसी, कबीर, जायसी एवं रहीम तो अवधी के पुराने स्तम्भ हैं ही, यद्यपि कबीर की भाषा में भोजपुरी का बहुत गहरा पुट मिलता है। इनके अतिरिक्त जो बहुतेरे अवधी के पुराने लेखक तथा कवि हैं, उनमें सबसे बड़ी बात यह है कि इनमें से पचास प्रतिशत से भी अधिक मुसलमान रहे हैं। जायसी तथा रहीम तो परम्परागत सम्भ्रान्त मुस्लिम-परिवारों के थे, कबीर को भी 'बूदोवास' की दृष्टि से मुसल्लम नहीं, तो कम-से-कम आधा मुस्लिम तो कहना ही पड़ेगा। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए मुझे केवल इन कवियों के नामों की सूची मात्र दे देना ही पर्याप्त होगा। 'यूसुफ-जुलेखा' के लेखक नसीर से लेकर निसार, कुतबन, उसमान, नूर मुहम्मद, आलम, कासिमशाह, ख्वाजा अहमद तथा शेख रहीम तक की नामावली में अनेक सूफी दार्शनिकों एवं कवियों के ऐसे नाम आ जाते हैं, जिनमें से अधिकांश के जीवन तथा साहित्य-सर्जन के सम्बन्ध में बहुत-कुछ खोज होनी है। यद्यपि नसीर जमनिया (गाजीपुर) के रहनेवाले थे, जो सर्वथा भोजपुरी-क्षेत्र में है, पर उनकी भाषा शुद्ध अवधी है। पुरानी अवधी के हिन्दू-कवियों में सर्वप्रथम ईश्वरदासजी आते हैं, जिनका प्रेमाख्यान (सत्यवती की कथा) संवत् १५५८, अर्थात् गोस्वामी तुलसीदास से भी लगभग एक शताब्दी पूर्व का लिखा बताया जाता है।

एक और महाकवि हुए हैं, जिनके सम्बन्ध में अबतक बहुत कम तो ज्ञात है ही, कुछ भ्र
भी उत्पन्न हो गया है। वह हैं कविवर सबलश्याम, जिनका एक हस्तलिखित ग्रंथ मु
दो स्थानों से उपलब्ध हुआ है।

इन दोनों हस्तलिखित प्रतियों में से एक तो आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व मुझे मित्र
स्वर्गीय ठाकुर मूर्त्तिसिंह (एडवोकेट, बस्ती) की सहायता से अयोध्या के पास से प्रा
हुई थी। दूसरी प्रति सीतापुर से साहित्यमर्मज्ञ पण्डित कृष्णविहारीमिश्र (भूतपूर्व सम्पादक
'माधुरी') के छोटे भाई डॉक्टर नवलविहारीमिश्र द्वारा अध्ययन करने को मिली। ग्रन्
का विषय है श्रीमद्भागवत की दशम स्कन्ध वाली प्रसिद्ध कथा, पर इसका महत्त्व, इसक
सुन्दर भाषा की दृष्टि से, अधिक है। समूचा ग्रन्थ तुलसी-कृत रामायण की शैली मे
दोहा-चौपाइयों में है और स्थान-स्थान पर अन्यान्य छन्द भी पाये जाते हैं। प्रारम्भ में
कवि ने रचनाकाल देते हुए लिखा है—'संवत् सत्रह सै सोरह दस', अर्थात् संवत् १७२६
विक्रमी, जो आज से लगभग ३०० वर्ष पूर्व पड़ता है। अपने स्थान का वर्णन करते हुए
सबलश्यामजी ने लिखा है—

> रचेउ बिरंची नगर एक पोढ़ा[1]। जासु नाम जगविदित अमोढ़ा।
> तहँ रह वीर सिंह धरनीधर.................।
> बीरसिंह हरिपद अनुरागी। मति सुति विमल भक्ति रस पागी।
> सहित सनेह कृपा अधिकाई। पुनि हरिभक्त जानि लघु भाई।
> कहेउ दसम हरिकथा सुनावहु ....।

यह अमोढ़ा वही है, जहाँ से राष्ट्रपति के पूर्वज बिहार की ओर गये थे और
जिसका उल्लेख स्वयं डॉक्टर राजेन्द्रप्रसादजी ने अपने उस जीवन-चरित में किया है,
जिसे पटना के हिमालय प्रेस ने कुछ दिन पूर्व प्रकाशित किया था।

*ग्रंथ के प्रारम्भ में तत्कालीन अमोढ़ा नगर का विशद वर्णन है[2], यद्यपि इस समय तो
यह केवल एक छोटा-सा गाँव-मात्र रह गया है। बात यह हुई थी आज से १०० वर्ष पूर्व
अमोढ़ा के राजा जालिमसिंह अँगरेजों के विरुद्ध बागी हो गये, तो इनकी पूरी रियासत
जब्त कर ली गई और इनके परिवार के लोगों पर भाँति-भाँति के अत्याचार किये गये।
इस समय अमोढ़ा हरैया तहसील का एक परगना-मात्र रह गया है और इसके इर्द-गिर्द
यहाँ के पुराने राज-परिवार के उत्तराधिकारी तथा उनके कायस्थ कर्मचारियों के वंशज यत्र-तत्र
गाँवों में मिलते हैं। एक बार भारत-सरकार ने भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेनेवाले
इस राज-परिवार की खोज करना प्रारम्भ किया था और गोरखपुर-कमिश्नरी के अधिकारियों
के पास कुछ पूछ-ताछ के पत्र आये थे, पर पता नहीं, उस सम्बन्ध में क्या हुआ, नहीं तो*

---

१. पोढ़ = मजबूत।
२. देखिए 'सम्मेलन-पत्रिका' में प्रकाशित लेख 'सबलसिंह के समकालीन कवि। सबलश्याम' (संवत् २०१३)।

अमोढ़ा भी स्वर्गीय किदवई साहब की जन्मभूमि मसौली (बाराबंकी) की भाँति भारतीय इतिहास में ख्याति प्राप्त कर लेता।

पर, हमें तो यहाँ सबलश्याम-कृत श्रीमद्भागवत की पद्यात्मक रचना से काम है। यह ग्रन्थ संस्कृत का न तो अनुवाद है और न इसमें पूरे भागवत की कथा ही दी गई है। इसकी सुन्दर शैली से तो यही अनुमान होता है कि सबलश्याम ने अवश्य ही अन्यान्य ग्रन्थों की रचना की होगी। अमोढ़ा से एक कोस के भीतर ही महाकवि ललिरामजी का निवास-स्थान है और इसके पश्चिम में १०-१२ मील पर अयोध्या है, जहाँ के दो-तीन पीढ़ी तक के शासक अच्छे हिन्दी कवि हुए हैं। 'शृंगार-लतिका' के रचयिता महाराज सर मानसिंह 'द्विजदेव', उनके भाई लाल त्रिलोकीनाथ सिंह 'भुवनेश' तथा उनके वर्तमान सुपुत्र कविवर लाल रुद्रनाथसिंह 'पन्नगेश' इस राजवंश के रत्न हुए हैं। पन्नगेशजी सौभाग्य से अभी हमारे बीच में विराजमान हैं और इनका 'सौमित्र-विजय' महाकाव्य अभी गत वर्ष ही उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हुआ है और अवधी का सुन्दर ग्रन्थ है।

ऐसे साहित्यिक एवं काव्यात्मक वातावरण में अमोढ़ा का इतिहास पल्लवित हुआ था, पर गत सौ वर्षों से यह पूरा क्षेत्र परम उपेक्षित रहा है। यहाँ तक कि इसे परगना नगर की तुलना में अत्यन्त उजड्ड एवं असभ्य माना जाता है।

अमोढ़ा के इर्द-गिर्द सबलसिंह कृत अनेक पहेलियाँ देहात के गाँवों में प्रचलित हैं। जान पड़ता है कि उनके भाई राजा वीरसिंह बड़े सरल एवं साहित्यिक थे और उन्हीं के मनोरञ्जनार्थ सबलश्यामजी ने इस ग्रन्थ की ही नहीं, समय-समय पर अनेक पहेलियों की भी रचना की। उदाहरण के लिए, उस जवार में प्रचलित दो पहेलियाँ दी जा रही हैं, जो सबलसिंह के नाम से उधर खूब कही जाती हैं—

'सावन टेढ़ि चैत माँ सरहरि[1], कहैं सबलसिंह, बुझौ नरहरि'; 'छ महीना क चिटिया, बरिस दिन के पेट'। यहाँ दो बातें विचारणीय हैं, एक तो 'नरहरि' शब्द जो ठेठ अवधी का है, और दूसरा 'बूझौ नरहरि' पद जिससे जान पड़ता है कि राजा के समय-यापन का एक साधन सबलश्यामजी ने इस प्रकार की पहेलियाँ रचकर निकाल लिया था। इसी प्रकार की कुछ पहेलियाँ बैसवाड़े में 'बाग् केरि खगनिया' नामक किसी स्त्री की कही हुई प्रचलित पाई जाती हैं।

सबलश्याम के इस ग्रन्थ में भी अनेक सुन्दर और अवधी के ठेठ मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं, जिससे ग्रन्थ की भाषा-सम्बन्धी महत्ता अधिक हो जाती है। उदाहरणार्थ, एक स्थान पर अवधी का शुद्ध देहाती प्रयोग 'मुही-मुहाँ' यों प्रयुक्त हुआ है—

कंस त्रास कोउ बचन न बोलहि। जहँ-तहँ मुहीं मुहाँ[2] करि डोलहि॥

सबलश्याम के इस ग्रंथ में कुल मिलाकर ४६७ दोहे और लगभग ४००० चौपाइयाँ हैं और इसकी छावनीवाली प्रतिलिपि उतनी सुन्दर नहीं लिखी है, जितनी सीतापुरवाली,

१. सीधी; २. कानाफूसी।

जो पण्डित श्यामसुन्दरजी के यहाँ प्राप्त हुई थी। दोनों में कहीं-कहीं पाठभेद भी है और दावनीवाली प्रतिलिपि, जो अध्यापक रामसिंहजी द्वारा लिखी थी, लिखी जाने की तिथि संवत् १७७१ देती है। सबलश्यामजी की सुन्दर शैली तथा भाषा का दिग्दर्शन कराने के लिए उनके ग्रन्थ का एक स्थल नीचे देता हूँ। भगवान् कृष्ण की रासलीला का वर्णन है, जिसे देखने देवता लोग पधारे हैं—

यहि अंतर नृप विबुधगन चढ़ि चढ़ि व्योम विमान।
आये प्रमुदित रासथल हृदय हरस बहुमान॥
मन मोहहि कामिनि काम वला। करि गान रिझावहि नन्द लला।
कल कंचुकि ढील भई रसना। दग दै न सम्हारि सकी वसना॥
ससेउ सुमन-स्रज कंचुकि सरकी। दुहु कर जोरि वलयकर करकी।
गहि पटपीत दूरिकर भेदा। प्रभु पोंछेउ तिय बदन प्रस्वेदा॥
कोउ तिय कछु उर अंचल टारी। सम प्रस्वेद तनु लेत बयारी।
हरि सँग सँग यक गोप वधूटी। जोरति सुभग हार लर टूटी॥

भगवान् के अपने कर-कमलों द्वारा रास में थकी गोप-वधू का पसीना पोंछने का वर्णन कितना सुन्दर एवं मनोमुग्धकारी है और अवधी भाषा में कृष्णलीला का वर्णन होने से राम-श्याम के सम्मेलन का आदर्श उदाहरण है।

जान पड़ता है, सबलश्याम के ही समकालीन मैनपुरी के सबलसिंह चौहान भी हुए थे, जिनका उल्लेख मिश्र-बन्धुओं ने 'मिश्र-बन्धु-विनोद' में भ्रमवश दो स्थानों पर कर दिया है। इन दोनों समकालीन एक नामधारी सबलसिंहों पर मैंने आज से ३० वर्ष पूर्व स्व-सम्पादित 'कादम्बरी' में एक छोटा-सा नोट लिखा था और गत वर्ष एक विस्तृत लेख उपर्युक्त नाम से प्रयाग की 'सम्मेलन-पत्रिका' में प्रकाशित कराया था।

अठारहवीं शताब्दी की यह काव्य-परम्परा जीवित रही है और पूरब-पश्चिम दोनों ही ओर के अवधी-कवि निरंतर कुछ-न-कुछ लिखते ही रहे हैं। पूरब में राजनीतिक एवं सामाजिक उत्थान का क्रम कुछ निर्बल अवश्य था, जिसके कारण देहात के संकोची कवि या तो नगर-व्यापी नवीन आन्दोलनों पर जो कुछ लिखते या मनन करते थे, उसे प्रकाश में लाने में हिचकते थे या स्वयं देहात के ही परिवर्त्तनों पर थोड़ा-बहुत लिखकर संतोष कर लेते थे। लखनऊ में शासन का केन्द्र होने के कारण उसके पड़ोस के अवधी-भाषी शिक्षित-वर्ग कहीं अधिक प्रगतिशील थे, यही कारण है कि बैसवाड़े, सीतापुर आदि स्थानों के अनेक अवधी कवि सामने आये। पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने 'अरे बुढ़ापा, तोरे मारे हम तो अब नकन्याय गयन' वाली अवधी कविता लिखकर आज से पचास वर्ष पूर्व देहाती भाषा की शक्ति का परिचय दिया, यद्यपि उस समय यह केवल हास्य रस के ही माध्यम के लिए उपयुक्त जान पड़ती थी। पूरब में भी इसी प्रकार के देहाती स्थानीय कवि लुच्चेश आदि पुरानी संस्कृति को लुप्त होने देख अपनी प्रतिक्रिया को कभी-कभी लिपिबद्ध किया करते थे। उस समय पत्र-पत्रिकाओं का साधन भी बहुत कम प्राप्त था और नव शिक्षित

अँगरेजी पढ़े लोग ऐसी कृतियों को देहाती अथवा गँवारू समझकर उनकी खिल्ली ही उड़ाया करते थे। कानपुर के 'देहाती' (पण्डित दयाशंकर दीक्षित), सीतापुर के 'पढ़ीस' (पण्डित बलभद्र दीक्षित) और उनके योग्य सुपुत्र तथा 'लिलीस' जी ने ठेठ अवधी में लिखने का बाना लिया। उधर अवधी में एक महाकाव्य पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र जैसे मध्य-प्रदेश के उच्चाधिकारी ने प्रकाशित करके तुलसी एवं जायसी की इस पुरानी भाषा का मस्तक बहुत ऊँचा किया। दुर्भाग्यवश पढ़ीसजी तथा उनके युवक पुत्र दोनों का ही असमय स्वर्गवास हो गया, नहीं तो पिता पुत्र दोनों मिलकर अवधी की बहुत सेवा करते। उनके चिरंजीवी तो लखनऊ-रेडियो में काम करते हुए स्वर्ग सिधारे, पर उनका स्थान इधर 'रमई काका' (पण्डित चन्द्रभूषण त्रिवेदी) ने सँभाल लिया, जिनके कारण लखनऊ के रेडियो स्टेशन से अवधी की सुन्दर कविताओं का नित्य रसास्वादन करने को मिल जाता है। इधर सरकार की नीति भी स्वतन्त्रता के युग के अनुकूल हो जाने के कारण अवधी को प्रोत्साहन देने लगी और कविवर अनूपजी भी रेडियो-स्टेशन के कर्मचारी बन गये। अवधी के प्रसिद्ध कवि पण्डित वंशीधरजी शुक्ल भी अब व्यवस्थापिका सभा के सदस्य होकर अपनी मातृभाषा की अधिक सेवा कर सकेंगे।

इसी समय उधर पूर्वी अवधी का एक नया नक्षत्र भी उदित हुआ। फैजाबाद से एक तो 'अवध-भारती' नामक एक पत्रिका प्रकाशित होने लगी, दूसरे हरैया तहसील के ही निवासी नवयुवक कवि श्याम तिवारी ने काशी-विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० पास करके अपनी मातृभाषा की सेवा करने का व्रत लिया। श्यामजी की अवधी कविताओं का एक सुन्दर संग्रह 'दूबि अच्छत'* नाम से गत वर्ष प्रकाशित हुआ है। इनकी भाषा अत्यन्त परिमार्जित शुद्ध सरल अवधी है, जो अयोध्या के ही क्षेत्र की ठेठ अवधी भाषा है। उदाहरण के लिए श्यामजी की निम्नांकित पंक्तियाँ सुनें, जिनमें ग्रीष्म-ऋतु का वर्णन है—

पूर धुर भारि भनकारी लुअरा[1] चलय, सूर कइ घाम अब तवइँ[2] लागे।
आँखि दय धूरि भकभोरि आन्ही[3] बहे, पेड़ औ पात सब जरइँ[4] लागे।
ताल मैं भूर, मुँह फाटि कै टूक भै, चाटि कै पानी जिउ पियै लागे।
जे धरें अन्न ना ताल कै माछरी जाल से छानि ते जियै लागे।
सून धरती भई, घून अस घाम माँ आँचि से राही दुख दून छाई।
भूभुरि[5] मुट्ठि गै[6] पाय पनही बिना, सरग औ' नरक दिखराय भाई।
गजब के लोग चै जे खटैं खेत माँ, मानुसा रूप माँ पाथरा रे।
जरि रहे मरि रहे भरि रहे खेत काँ, भरि रहै देह से बादरा रे।
नदिन पोखरान के पानि अदहन[7] भये, हाँफि पसु छाहि कै बाँहि थाम्हे।
गमकि गै दुपहरी, भिमिल नाचइ लगी जरि गवा खेत जे रहा घामें।

---

* ओंकार-परिषद्-प्रकाशन, मदैनी, काशी, पृ० १६०, मूल्य ढाई रुपये।

१. लू; २. जलने; ३. आँधी; ४. जलने, ५. जलती राख; ६. जल गया; ७. खौलता पानी।

अगिनि परलय मचा दहकि गै गाँव सब लवरि[1] बज्जर लिहें सूर नाचइ लगे।
मूँजि कै फूल चिनगी[2] भये आँक के फूल उड़ि लुक्क[3] अस टूटि लागइ लगे।

कविता लम्बी है और श्यामजी ने प्रकृति के मधुर तथा सुन्दर दृश्यों का भी सफल वर्णन किया है। नीचे हम मानव-प्रेम की उत्पत्ति पर उनका सूक्ष्म विवेचन दे रहे हैं—

प्रश्न है—
कहवाँ से आँवै पिरितिया क बिरवा हो? कहँ से सुरतिया क डारि?
कहवाँ से रस गरि हुमसी[4] जवनियाँ हो? कहँ से लजाहुरि[5] नारि?

इसका उत्तर सुनिए—
अंखिया से आँवै पिरितिया क बिरवा हो, हिय से सुरतिया क डारि।
देहियाँ से रसगरि हुमसी जवनिया हो, रसु से लजाहुरि नारि।

दूसरा प्रश्न है—
छल छल छलकै सुनरई सरिरिया कै, कहवाँ से देइ हिलोरि?
कहवाँ से कँवला फुलाइ भोरहरिया[6] हो, भँवरा चलइ झकझोरि?

कवि का उत्तर सुनिए, कितना सुन्दर है—
सगरा में छलकै सुनरई चनरमा कै, मुसुकी किरिनियाँ हिलोरि।
पुरइनि फुलवा फुलाय भोरहरियैं हो, भवरा चलइ झकझोरि॥

यह कविता भी लम्बी है और इसमें शेक्सपियर की उस छोटी कविता का स्मरण हो आता है, जिसमें कवि पूछता है—

Tell me where is Fancy bred
Or in the heart, or in the head?
How begot, how nourished?

× × ×

It is engendered in the eyes
With gazing fed; and fancy dies
In the cradle where it lies!

श्यामजी के संग्रह से एक बड़ी नई बात स्पष्ट हो जाती है। अबतक के पूर्वी एवं पश्चिमी अवधी के सभी अर्वाचीन कवियों ने अपनी मातृभाषा द्वारा या तो हास्य-रस का परिपाक किया था या देहाती एवं नागरिक जीवन के अन्तर का व्यंग्यपूर्ण विवेचन। श्याम ने सिद्ध कर दिया है कि आधुनिक अवधी द्वारा प्रकृति का सुन्दर-से-सुन्दर वर्णन, किसानों का करुणतम क्रन्दन और प्रेम का सूक्ष्मतम विवेचन भी सम्भव है।

डाक्टर त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने अपने [illegible] ग्रन्थ में अनेक आधुनिक अवधी के लेखकों, कवियों तथा कवयित्रियों का उल्लेख किया है। इस सूची में कुछ नाम छूट गये हैं,

---

१. लपट; २. चिनगारी; ३. टूटे तारे; ४. उमंग; ५. लज्जावती, ६. बड़े प्रातःकाल।

जिन्हें मैं यहाँ दे देना उचित समझता हूँ। बछरावाँ के सिरसजी के अतिरिक्त नवीनगर (सीतापुर) के पण्डित चतुर्भुज शर्मा, बुद्वल (बाराबंकी) के मृगेश, बिसवाँ के पण्डित उमादत्त सारस्वत, सीतापुर के पण्डित रामस्वरूप 'रूप' तथा अखिलेश पश्चिमी अवधी-क्षेत्र के मुख्य कवियों में से हैं। पूर्वी अवधी के श्याम तिवारी के अतिरिक्त प्रयाग के जयशंकर त्रिपाठी, लखनऊ के दिवाकर प्रकाश अग्निहोत्री (जिनकी अनेक अवधी-कविताएँ 'स्वतन्त्र भारत' में प्रकाशित हो चुकी हैं, और जो खड़ीबोली के भी कई संग्रह प्रकाशित करा चुके हैं), मेरठ की श्रीमती कमला चौधरी, जो हास्य-रस की कविताओं में सिद्धहस्त हैं, बहराइच के पण्डित पारसनाथ मिश्र 'भ्रमर', जिनके अनेक गीत रेडियो से प्रसारित हो चुके हैं और बस्ती के स्वर्गीय रामअचरज तिवारी (जो किसानों की दरिद्रता के चित्र खींचने में परम पटु थे) मुख्य हैं। रमई काका के अवधी एकांकी नाटकों का संग्रह 'रतौन्ही' नाम से प्रकाशित हो चुका है, जिससे इस भाषा की एक नई सम्भावना प्रकट होती है। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने कई भागों में जो 'बाल-कथा-कहानी'-नामक संग्रह किया है और जिनकी देखादेखी अन्यान्य लेखक तथा प्रकाशक भी ऐसे संग्रहों को अपने नाम से प्रकाशित करते चले जा रहे हैं, वे सब कहानियाँ ठेठ अवधी में कही जानेवाली परम प्रचलित देहाती 'किहनी' हैं, जिनके असंख्य संग्रह पूरे अवध में कहे जाते हैं।

इस क्षेत्र के सहस्रों बुझौवल, कहावतें तथा लोरियाँ इतनी सुन्दर हैं कि उनका संकलन करके एक स्वतंत्र साहित्यिक संग्रहालय उपस्थित किया जा सकता है। यों तो 'अवधी की कुछ कहावतें तथा लोरियाँ' शीर्षक एक लेख वर्षों पूर्व मैंने इन्दौर से प्रकाशित और कविवर पण्डित कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' द्वारा सम्पादित 'वीणा' में प्रकाशित कराया था, किन्तु यहाँ पर प्रत्येक के दो-चार नमूने श्रोताओं के मनोरंजनार्थ दिये देता हूँ। जनसंख्या अधिक होने के कारण अवध की सामाजिक समस्याएँ अनेक और बड़ी जटिल हैं, अतएव विधवाओं की संख्या भी इस क्षेत्र में पर्याप्त है। विधवाओं के सम्बन्ध में एक सुन्दर कहावत है, जिसमें इन भाग्यहीन स्त्रियों की श्रेणियाँ निर्धारित कर दी गई हैं—'आस राँड़ि, पास राँड़ि, राँड़ि और रँड़का', अर्थात् पहले प्रकार की विधवा तो वह विवाहित राँड़ है, जो पति के विदेश से आने की आशा में विधवा की भाँति दुःखी जीवन व्यतीत कर रही है। दूसरी वे विवाहित स्त्रियाँ भी राँड़ों की श्रेणी में हैं, जिनके पति तो वैसे पास ही रहते हैं, पर या तो नपुंसक हैं या फिर दूसरी पत्नी पर अपना सारा प्रेम निछावर करते हैं। तीसरी साधारण विधवा और चौथी वे राँड़ें, जिन्हें राँड़ होने का दुःख नहीं, प्रत्युत जो रँड़ापा मस्ती से काटती हैं।

एक और कहावत उस बेचारी देहाती स्त्री के मुख से सुनिए, जो विदेश गये अपने पति की प्रतीक्षा करने के बाद भी देखती है कि नालायक पति परदेश से ही लौटकर आया है—"पटही धोती गमछा पुरान। बालम कमाय आये जियरा जुड़ान।" 'जियरा जुड़ान' में कितना व्यंग्य और टीस भरी है। पुंश्चली स्त्रियों को उलाहना देने के

लिए एक तीसरी कहावत सुनिए—"पूते क ललाय त ललाय, भतारे क काहे ललाय!" अर्थात् पुत्रवती होने की इच्छा तो अपूर्ण रह सकती है, पर पतिवती होना तो सरल ही है। ऐसी ही विधवा स्त्री के पा जाने पर कोई नया पति प्रसन्न होकर कह रहा है—

'छावा छोपा[1] घर पायेन, दुआरी[2] बान्ही टाटी;[3]
आनक[4] जन्मा लरिका[5] पायन, खूब मजे म बाटी।'[6]

अर्थात् बना-बनाया घर मिल गया, जिसके दरवाजे पर टटिया बँधी है, दूसरे का पैदा किया हुआ पुत्र भी प्राप्त हो गया है, इसलिए बड़े मजे में हूँ।

ये उद्‌गार किसी नीच जाति के बेशर्म व्यक्ति के हैं, जो बहुत दिनों से रँडुआ रहा था और अधेड़ होने पर किसी पुत्रवती विधवा के घर 'घर-बइठा' बैठ गया है। ऐसे बापों को इन विधवाओं के लड़के 'कठ-बपवा' कहते हैं, जो बड़ा ही भाव-द्योतक शब्द है। लोरियाँ तो अवधी में और भी सुन्दर हैं, दो-एक सुनिए—

'काची-कूची कौआ खाय, दूध भात मोर भैया खाय।'

—यही कह-कहकर प्रातःकाल बच्चों का मुँह धुलाती हैं और फिर चन्द्रमा की ओर बच्चे का ध्यान खींचती हुई कहने लगती हैं—

'चन्दा मइया धाय आव, धपाय आव, दहिउ कमोरा[7] लिहे आव।
घिउ कै लोना[8] लिहे आव, भैया क मुँह माँ डारि दे घुट्ट-ट्ट!'

पहेलियों से तो देहातवाले जाड़े की रातें काट डालते हैं, चाहे आग तापने समय बैठे बैठे, चाहे कोल्हू चलाते-चलाते या खलिहान में चैत की चाँदनी में दँवरी की दँवाई करते हुए। पहेलियों की सुन्दरता तो पृथक् है। उनसे विचार-शक्ति का विकास भी खूब होता है। एकाध सुनिए और उत्तर देने की कोशिश कीजिए—

(१) 'तर लोटा उपर सोंटा, तर गरजै उपर चमकै'—(हुक्का)। (२) एक ताल माँ बसै तिवारी, बिन कुञ्जी के खोलैं कँवारी'—(ताल का घोंघा)। तालाब के घोंघे को तिवारी कहकर पहेली में कितनी सजीवता डाल दी गई है। महुए के ऊपर एक तीसरी पहेली है—'जोइ बाप क नाँव सोइ पूत क नाँव, नाती क नाँव कुछु अउरे।' बात यह है कि अवध में एक तो महुआ खूब होता है, इसके फूल को महुआ कहते हैं, पर फूलों के गिर जाने के बाद उसमें जो फल लगते हैं, उन्हें कच्चे रहने पर 'कोइना' और पकने पर 'कोलना' कहते हैं। महुए के चूते समय चारों ओर मस्ती छाई रहती है और उसके फूलों के प्रातःकाल घएटों गिरते रहने पर पहेली द्वारा कितनी सुन्दर उपमा दी गई है—

'एक चिरैया लेदी बेदी सँभवै से पिरवाई[9],
ओकर अएडा उमर-उमर फउपन[10] की उठवाई।'

---

१. बना-बनाया, २. दरवाजे पर, ३. टट्टी (फूस की) बँधी है, ४. दूसरे का (अन्य का) पैदा किया हुआ पुत्र, ५. लड़का, ६. मजे में हूँ। ७. दही का मटका, ८. घी का लोंदा, ९. प्रसव-पीड़ा हो रही है, १०. टोकरियाँ।

महुए के फूलों से लदे पेड़ की उपमा गर्भिणी चिड़िया से दी गई है, जिसे सायंकाल से ही प्रसव-पीड़ा हो रही है—बात यह है कि रात-भर पतनोन्मुख महुए की महँक से वायुमण्डल गूँजता रहता है, प्रातःकाल गोल-गोल अण्डों की भाँति गिरे हुए महुए को उठाने के लिए टोकरियों की आवश्यकता पड़ती है।

अवधी के लाखों लोक-गीतों, कथानकों, पहेलियों, कहावतों आदि का संकलन बड़े ही परिश्रम का कार्य है। इसके कवि तथा लेखकों के सम्बन्ध में खोज तथा अध्ययन का कार्य श्रम-साध्य तथा समय-साध्य तो है ही, यह लोक-साहित्य-संग्रह का काम जो पग-पग पर बिखरा पड़ा है, प्रतिदिन लुप्त होता जा रहा है। गाँवों की ओर से दरिद्र जनता दिन-प्रतिदिन भाग-भागकर नगरों की ओर जीविकोपार्जन के लिए चली जा रही है। स्वतंत्रता होते हुए भी दरिद्रता बढ़ती दिखाई दे रही है। गानेवालों की ही नहीं, सुननेवालों की भी संख्या कम होती जा रही है, उससे भी कहीं कम संख्या उन लोगों की है, जो इनका महत्त्व समझकर इन गीतों तथा कथानकों को लिख डालें।

जिस प्रकार बँगला के 'बाउल' कवियों की गूढ़ पंक्तियों का संग्रह आचार्य क्षितिमोहन सेन ने जितने अध्यवसाय एवं विद्वत्तापूर्वक किया है, वैसे ही अवधी का यह महत्त्वपूर्ण कार्य—इसके चनैनी, करहिला, ढोला, हरचन तथा भरथरी आदि नामक उन बड़े-बड़े महाकाव्यों, मौखिक गीतों तथा गद्य 'किहनियों' का संग्रह—कन्नौज से लेकर बैसवाड़ा, राजकुमारी (जौनपुर—सुलतानपुर प्रांत का एक प्राचीन भाग), अन्तर्वेद तथा सरुआर आदि क्षेत्रों में बिखरा पड़ा है। इन गीतों से बहू-बेटियों, बालक-बालिकाओं तथा वृद्धों का मनोरञ्जन ही नहीं, नैतिक शिक्षण भी होता रहता है। पर, मुख्य समस्या तो यह है कि किसे इतनी फुर्सत है कि इन्हें सुनकर समझे और लिपिबद्ध करे !—प्रकाशन की बात तो दूर रही !

यह महत्त्वपूर्ण कार्य वर्षों के परिश्रम का कार्य है। अवध और अवधी की महत्ता में तनिक-भर भी सन्देह नहीं। यदि आन्ध्र लोग अपने छोटे-से राज्य की माँग में सफल हो सकते हैं, तो अवधी के करोड़ों उपासक निस्सन्देह अपनी भाषा तथा संस्कृति के लिए बहुत-कुछ कर सकते हैं, पर अवध एक पिछड़ा हुआ प्रांत है, जिसका मुख्य कारण है इसकी जनसंख्या का आधिक्य, इसका दारिद्र्य और सदियों तक वहाँ के शासकों का दमन-चक्र। यद्यपि कुछ वर्षों से प्रयाग-हाईकोर्ट की एक पृथक् शाखा लखनऊ में बैठकर अवध चीफ कोर्ट के नाम से इस क्षेत्र में न्याय का वितरण करती रही है और अवध के आधुनिक केन्द्र लखनऊ में अब लगभग ४० वर्षों से एक विश्वविद्यालय भी शिक्षा का पुराना क्रम चलाता रहा है। पर, न तो अवधी भाषियों का कोई भाषा अथवा संस्कृति-सम्बन्धी संगठन है और न लखनऊ-विश्वविद्यालय अथवा उत्तर-प्रदेश के अन्य पाँच विश्वविद्यालयों में से किसी एक में भी अवधी के पृथक् अथवा विशिष्ट अध्ययन के लिए कुछ प्रयत्न ही किया गया। मैथिली के लिए जो कार्य पटना एवं बिहार-विश्वविद्यालयों ने बिहार-राज्य में किया है, उससे भी लखनऊ विश्वविद्यालय के अधिकारियों की आँखें नहीं खुलीं—वह तो अब भी अँगरेजों एवं ताल्लुकदारों का

विश्वविद्यालय बना हुआ है—उसे जनता का विद्यापीठ बनाने में अभी समय लगेगा। इन पंक्तियों के लेखक ने कई बार इसके लिए उत्तर प्रदेश के दैनिक पत्रों में आन्दोलन भी किया और विशेषकर स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव के उप-कुलपतित्व-काल में अवधी को पदस्थ कराने के लिए कुछ कार्य भी हुआ, पर आचार्यजी के असमय स्वर्गवास के कारण यह कार्य ज्यों-का-त्यों पड़ा रह गया।

उनकी स्मृति में 'अवध-भारती'[1] पत्रिका ने अत्यन्त नरेन्द्रदेव-अंक प्रकाशित किया था। यह पत्रिका गत एक वर्ष से अवधी भाषा तथा संस्कृति की सेवा कर रही है, पर इसके पास उचित साधन न होने के कारण इसका भविष्य अन्धकारमय जान पड़ता है।

अवधी-लोकगीतों के संग्रह के लिए आज से ३० वर्ष पूर्व मुझे तथा आदरणीय बन्धुवर पण्डित रामनरेश त्रिपाठी को कितना कष्ट और कभी-कभी तो परम अपमान-जनक एवं हास्यास्पद स्थितियों का सामना करना पड़ा था। पर, अब तो समय ने कुछ पलटा खाया है और इस प्रकार का कार्य अब पढ़े-लिखे नवयुवकों को और नहीं तो कम-से-कम विश्वविद्यालयों की ऊँची डिग्रियों के लालच तथा 'रिसर्च' के नाम पर तो अवश्य ही आकर्षक प्रतीत होने लगा है।

मुझे स्वयं स्मरण आता है कि जिस अवधी-कोश की पाण्डुलिपि को देखकर उत्तर-प्रदेश के भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री ठाकुर हरगोविन्द सिंह, बी० एस-सी०, एल्० एल्० बी० ने मुझसे घृणा भरे हुए व्यंग्यपूर्ण शब्दों में छींटा कसते हुए फरमाया था—'हाँ, यह तो म्यूजियम में रखने लायक अच्छा संग्रह है।' उसी ग्रन्थ[2] के हिन्दुस्तानी एकेडेमी (प्रयाग) द्वारा प्रकाशित हो जाने पर उसी उत्तर-प्रदेश की सरकार ने मुझे पुरस्कृत कर सम्मानित किया था। स्वयं अवध-क्षेत्र के निवासी उत्तर-प्रदेश के एक शिक्षा-मन्त्री की इस मनोवृत्ति की तुलना कीजिए दूर देश नार्वे-निवासी पादरी पी० बोडिंग के उस सराहनीय अध्यवसाय से, जिसने उसके उस बृहत् संताली-अँगरेजी-कोश का जन्म दिया, जो सात मोटी पोथियों में प्रकाशित हुआ है और जिसका मूल्य पौने दो सौ रुपये है। मैक्समूलर और ग्रियर्सन से बोडिंग तथा फादर एलविन तक के इन यूरोपीय तपस्वी विद्वानों ने अपना सारा जीवन देकर भारत की भाषाओं एवं संस्कृति का कितना कल्याण किया है।

यह भी दो वर्ष पूर्व की बात हो चली और तब से तो उल्टी गङ्गा बहने लगी है। हिन्दी की पुरानी हिमायती काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा को भी अब गुजरात, बङ्गाल एवं दक्षिण-भारत तथा हिन्दुस्तान से बाहर के दूर देशों में हिन्दी-सम्बन्धी प्रचार करने के लिए, अँगरेजी-भाषा में 'हिन्दी-रिव्यू' (Hindi Review) नामक मासिक पत्र प्रकाशित करना पड़ रहा है। मैं तो समझता हूँ कि इस पत्र को साप्ताहिक नहीं, तो

---

१. प्रकाशक—गिरिजाशंकर पाण्डेय, गिरिजा-निवास, रिकाबगंज, फैजाबाद, वार्षिक मूल्य छह रुपये।

२. पृ० २७३ : मूल्य साढ़े सात रुपये।

कम-से-कम पाक्षिक अवश्य ही कर देना चाहिए, जिससे इसके माध्यम द्वारा हिन्दी ही नहीं, अवधी-जैसी उप-भाषाओं की भी अधिकाधिक सेवाएँ की जा सकें। नागरी-प्रचारणी सभा को केन्द्रीय सरकार ने इधर अच्छा अनुदान भी देकर प्रोत्साहित किया है, जिसकी सहायता से ऐसा सुन्दर एवं सफल आयोजन किया जा सकता है। तभी हमारे गुजराती, बंगाली, महाराष्ट्री एवं मद्रासी बन्धु, ब्रजभाषा, मैथिली, अवधी, बैसवाड़ी तथा अन्यान्य उप-भाषाओं का महत्त्व समझ सकेंगे। देखें, भगवान् हमारी इस अभिलाषा को कब फलीभूत करेंगे।

बैसवारी भाषा और साहित्य

भौगोलिक परिचय—अवध भारतवर्ष का एक इतिहास-प्रसिद्ध प्रान्त है।
बैसवारा या बैसवाड़ा इसी अवध के एक छोटे-से भू-भाग का नाम है। अवध के
दक्षिण में श्रीगंगाजी और सई नदी के मध्य में जो विस्तृत भू-भाग पड़ता है,
वह प्राचीन काल से तीन भौगोलिक भू-खंडों में विभाजित रहा है। इन तीनों
भू-खंडों में प्रथम है ऊपर का भाग बांगर, मध्य का बनौधा तथा इसके परे का भाग
अरवर के नाम से प्रसिद्ध है। बांगर और बनौधा के मध्य में बैसवाड़ा स्थित है।
बनौधा के ही एक भाग का नाम कालान्तर में बैसवाड़ा हो गया। इस भू-खंड का बैसवाड़ा
नाम बहुत प्राचीन नहीं है। फारसी भाषा के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथ 'तवारीख खाँ
जहाँलोदी' में इसी भू-भाग का नाम 'बक्सर-राज्य' के रूप में उल्लिखित हुआ है। उन्नाव
जिले के डौंडियाखेरा के राव कनकसिंह के समय तक यह बक्सर-राज्य के नाम से ही
प्रसिद्ध था। इस प्रदेश का बैसवाड़ा नाम लखनऊ के नवाबों के समय से प्रसिद्ध हुआ।
कारण कि मुसलमानों के आगमन के पूर्व इस भू-भाग के अधिपति और शासक बैस क्षत्रिय
ही थे। बैसों के प्रसिद्ध राजा त्रिलोकचन्द्र के राज्यकाल में राज्य का विस्तार या प्रसार
बाईस परगनों में था। कालान्तर में इस राज्य से उन्नाव जिले के पाँच परगने—हड़हा,
असोहा, गोरिन्दा, परसन्दन, (लखनऊ जिले का) बिजनौर—निकल गये। इनके अतिरिक्त
कुम्भी, ऊँचगाँव, कहंजर और मरवन—ये चार परगने तोड़ दिये गये। इनके स्थान
पर भगवन्तनगर को एक नये परगने का रूप प्रदान किया गया। इस प्रकार वर्तमान
काल में बैसवाड़ा के बाईस परगनों में केवल १४ परगने ही रह गये। इनमें डौंडिया-
खेरा, भगवन्तनगर, बिहार, घाटमपुर, मगड़ायर, पाटन, पनहन, पुरवा, मौरावाँ, सरौनी,
खिरों, डलमऊ, रायबरेली और बछरावाँ परगने हैं। इन परगनों में से डौंडियाखेरा, बिहार,
मगड़ायर, पुरवा, मौरावाँ और रायबरेली आज भी विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें से कुछ
स्थान अपनी पुण्यस्थिति के कारण प्रसिद्ध हैं, कुछ व्यापारिक केन्द्र होने के कारण और
कुछ सांस्कृतिक केन्द्र होने के कारण। इन परगनों में से पूरा बछरावाँ तथा रायबरेली
के अतिरिक्त और सब परगने गंगाजी और सई नदी के मध्य में स्थित हैं। यही भू-भाग
मुख्य रूप से बैसवारा-प्रदेश है।

सीमा—बैसवाड़े के उत्तर में उन्नाव जिले का असोहा परगना और रायबरेली
जिले की महाराजगंज तहसील है। इसके पूर्व में रायबरेली जिले की सलोन तहसील,

दक्षिण में श्रीगंगाजी और पश्चिम में इडहा और परसन्दन परगने विद्यमान हैं। इस भू-भाग का क्षेत्रफल १४५६ वर्गमील है। सन् १९०१ ई० की जन-गणना के अनुसार यहाँ की जनसंख्या ८,२४,२४३ थी। इसमें से ४४,०६७ मुसलमान, १६१ ईसाई और सिक्ख थे। शेष सब हिन्दू थे। बैसवाड़े का उपर्युक्त भू-भाग प्रायः समतल ही है। परन्तु एक प्रकार से यह कुछ लहरदार बन गया है। यह भू-भाग वनस्पति से सम्पन्न और आच्छादित है। आम एवं महुए के वृक्षों की यहाँ प्रधानता है। विशेषज्ञों का अभिमत है कि गंगाजी की घाटी में ऐसा सुरम्य स्थान अन्यत्र देखने को नहीं मिलेगा। यहाँ की धरती बड़ी उपजाऊ है। इस धरती ने जहाँ एक ओर वीरों और मेधावी प्रतिभाओं को जन्म दिये हैं, वहीं पर इसने साधकों, विद्रोहियों और अन्य प्रकार की विलक्षण प्रतिभाओं से सम्पन्न व्यक्तियों को भी उत्पन्न किये हैं। बैसवाड़ा का भू-भाग अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण चार खंडों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम गंगा और लोन का मध्यवर्ती भाग, द्वितीय लोन और सई के मध्य का भाग, तृतीय लोन के गंगा में मिल जाने के बाद गंगा और सई के मध्य का खंड और चतुर्थ सई के उत्तरी किनारे का खंड। इन उपर्युक्त खंडों के मध्य में, नदियों के समानान्तर में, समान रूप से उन्नत भू-भाग स्थित है। यहाँ की भूमि कहीं-कहीं बलुई है। अधिक गहराई तक खुदाई होने पर यहाँ जल प्राप्त होता है। इसी कारण यहाँ पर कृषि-सिंचाई की समस्या निरन्तर बनी रहती है। गंगाजी की घाटी में बसे होने पर भी बैसवारे में बंजर भूमि की प्रचुरता है। अधिक प्रदेश की सिंचाई झीलों से होती है। शारदा नहर निकल जाने से यहाँ सिंचाई की समस्या अब सरल हो गई है।

उपर्युक्त भू-भाग के अतिरिक्त इस बैसवारे प्रदेश में, एक और भूखंड है, जिसे कछार कहा जाता है। इसे गंगा का कछार भी कहा जाता है। कछार में अनेक गाँव बसे हैं। बरसात में गंगाजी की बाढ़ के साथ इन गाँवों का अस्तित्व संकट में पड़ जाता है। इसीलिए यहाँ खरीफ की फसल कभी ठीक नहीं हो पाती है। कछार के उन स्थलों में, जहाँ गाँव ऊँचाई पर बसे हैं, खेती निर्विघ्न रूप से होती है। कछार प्रदेश बड़ा सुरम्य है। गंगा, सई, लोन, मुरियावाँ, बेल्दा, नौहरी, बसहा, बसोह, छोंचनदी, कटवारा नैय्या, महराजगंज-नैय्या इस प्रदेश की प्रमुख नदियाँ हैं। पशु-पक्षियों और वनस्पति की दृष्टि से यह प्रदेश बड़ा सम्पन्न और समृद्ध है। पशुओं में, यहाँ पर गाय, बैल, भैंस, घोड़ा, बकरी, भेड़, सुअर, मुर्गी विशेष पाले जाते हैं। सर्प यहाँ बहुतायत से पाये जाते हैं। हिरन, मोर भी यहाँ की प्राकृतिक शोभा बढ़ाने में सहायता करते हैं।

जलवायु—बैसवारे का जलवायु समशीतोष्ण है। यहाँ लगभग २५" वर्षा होती है। नमक और शोरा यहाँ के प्रमुख खनिज पदार्थ हैं। यह प्रदेश घना बसा है। प्रति वर्गमील यहाँ ४६० व्यक्तियों की आबादी का अनुमान लगाया जाता है।

यहाँ की जनसंख्या में हिन्दुओं का बाहुल्य है। मुसलमान, ईसाई, [illegible] जैन, और बौद्धों का निवास भी इस प्रदेश में रहा है और आज भी है। [illegible]

का सर्वप्रथम बन्दोबस्त हुआ था। इस बन्दोबस्त की प्रथम सेटेलमेंट-रिपोर्ट में इस प्रदेश की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में उल्लेख हुआ है कि अवध के नवाबों के समय में ब्रिटिश सेना के द्वारा सुरक्षित शक्ति के अत्याचारों से जनता की रक्षा करने की क्षमता केवल यहाँ के ताल्लुकदारों में विद्यमान थी। छोटे-बड़े सभी ताल्लुकदारों के पास गढ़ी, किला या कोट तथा सशस्त्र सैनिक रहा करते थे। आवश्यकतानुसार यह सैन्य-शक्ति संवर्धित कर लेता था। ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित किये जाने के अनन्तर कुछ समय तक अवध में बड़ी अराजकता रही। सन् १८५७ ई० में यह अशान्ति और बढ़ गई। विद्रोह के शान्त होने पर इस प्रान्त के लोग कानून द्वारा निःशस्त्र कर दिये गये। यहाँ के ताल्लुकदार अवसरों और उत्सवों पर अपनी हैसियत से अधिक व्यय करने के कारण सदैव ऋणी बने रहते थे। जमींदारों और कृषकों की दशा भी शोचनीय थी। सिपाही-विद्रोह-काल में इस प्रांत के लोगों की बड़ी क्षति हुई। सामान्य स्तर के लोगों की आर्थिक स्थिति बड़ी शोचनीय थी। यह वर्ग लगान देने में समर्थ नहीं था। इस वर्ग का जीवन-निर्वाह खरीफ की काश्त से होता था। रबी की फसल से ये बड़ी कठिनाई के साथ काश्तकारों का लगान दे पाते थे। लगभग इसी समय ब्रिटिश सरकार द्वारा यहाँ नमक बनाना बन्द कर दिया गया। इस कारण निम्न तथा निम्न-मध्य श्रेणी की आर्थिक स्थिति बहुत विकृत हो गई।

कृषि—कृषि बैसवाड़े की जीविका का प्रमुख साधन है। परन्तु कृषि धनोत्पादक नहीं है। इस प्रदेश में कृषि का मुख्याधार है खाद या गोबर। निर्धनता के कारण खाद का उपयोग ईन्धन के रूप में किया जाता है। कृषि पुरानी पद्धतियों के आधार पर ही होती है। कृषक कृषि के नवीन साधनों को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं होते हैं। कृषि सींचने का काम पूरों से होता है। कृषि के अनन्तर नौकरी दूसरा साधन है, जिसे जनता जीविका का आधार मानती है।

धर्म, भाषा और साहित्य—इस प्रदेश का प्रधान धर्म है सनातन धर्म। हिन्दू वर्णाश्रम-धर्म के अनुयायी हैं। सनातन धर्म के अतिरिक्त आर्य समाज का भी कुछ प्रचार है। इस्लाम-धर्म के अनुयायी भी इस प्रदेश में बहुतायत के साथ निवास करते हैं। बैसों ने आर्य-धर्म का गौरव और ब्राह्मणों का महत्त्व बढ़ाया।

इस प्रदेश की बोली बैसवारी अवधी है। मुसलमानों के शासन-काल में यहाँ की राजभाषा थी फारसी और उर्दू। अँगरेजी शासन-काल में उर्दू को ही प्रश्रय मिला। अँगरेजी राज्य में अँगरेजी का अधिक प्रचार हुआ। कायस्थों ने यहाँ शासन-व्यवस्था में सहायता की।

संस्कृत एवं हिन्दी का पठन-पाठन यहाँ ब्राह्मणों के संरक्षण में हुआ। ब्राह्मणों को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने इस प्रदेश की सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्पराओं को शक्ति प्रदान की। बैसवाड़े में संस्कृत का बड़ा प्रचार हुआ। इसी कारण मौरावाँ छोटी काशी के रूप में प्रख्यात था। गंगा-तट पर स्थित ग्रामों में संस्कृत का खूब प्रचार था।

आज बैसवारे में दर्जनों हाई स्कूल, अनेक संस्कृत-पाठशालाएँ और सैकड़ों मिडिल तथा प्राइमरी स्कूल हैं। आधुनिक हिन्दी के शीर्षस्थ अनेक विद्वान् यहीं के हैं।

ऐतिहासिक परिचय—बैसवाड़ा आर्य-संस्कृति के केन्द्र-स्थान में स्थित है। गंगा के बायें तट पर स्थित होने के कारण यह प्रदेश धर्मनिष्ठ नरपतियों और ऋषियों के कार्यकलाप का केन्द्र रहा है। बैसवाड़े का बक्सर-स्थान पुरानों में वर्णित श्रीकृष्ण द्वारा मर्दित बकासुर दैत्य का वध-स्थल था। कहा जाता है कि बकासुर इसी बक्सर का निवासी था। यह भी प्रसिद्ध है कि प्रसिद्ध बागेश्वर महादेव की मूर्त्ति की स्थापना बकासुर ने ही की थी और उस मूर्त्ति का नाम बकेश्वर रखा, जो आगे चलकर बागेश्वर के रूप में परिवर्त्तित हो गया है। बैसवाड़े के सरवन-स्थान का भी ऐतिहासिक महत्त्व है। कहा जाता है कि राजा दशरथ के बाण से आहत होकर श्रवणकुमार ने इसी स्थल पर प्राणों का परित्याग किया था। मौरावाँ राजा मयूरध्वज की राजधानी थी। मयूरध्वज की सत्य-निष्ठा और कर्त्तव्य-परायणता से कौन परिचित नहीं है। इसी प्रकार गंगा-तट पर बसे हुए गेगासों और डलमऊ क्रमशः गर्ग मुनि तथा दालभ्य मुनि के निवास-स्थान थे। बैसवाड़े में बौद्धकाल के अनेक स्पष्ट चिह्न मिलते हैं। जगतपुर में बौद्धों का एक स्तूप आज भी विद्यमान है। इस कस्बे के पास बौद्ध-कालीन सिक्के और मुहरें किसानों को अब भी हल चलाते हुए प्रायः मिल जाती हैं। सम्राट् स्कन्दगुप्त के सिक्के 'सेमरी' ग्राम में बहुत संख्या में पाये गये। प्रतिहारों के राज्य-काल में गजनवी महमूद ने कन्नौज पर जब चढ़ाई की, तब उस समय उसके एक दल ने बैसवाड़े के डुहडा ग्राम पर आक्रमण किया और उसे अपना केन्द्र बनाया। महमूद के बाद सैयद सलार ने डलमऊ पर आक्रमण किया था। मुसलमान शासकों से बैसवाड़े के तत्कालीन बैस-शासकों के अनेक बार संघर्ष हुए—घनघोर युद्ध हुए। बैस-क्षत्रियों के वंश-वृक्ष का विकास-क्रम नागवंश से माना जाता है।

बैसवाड़ा, बैस-क्षत्रियों की केन्द्रीभूत सत्ता का केन्द्रबिन्दु रहा। इस प्रदेश पर सर्व-प्रथम जौनपुर के सुलतान इब्राहीम शाह शर्की ने अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया। परन्तु बैस-क्षत्रियों की शक्ति और एकता की प्रबल लहर ने उस पर ऐसा आघात किया कि उसे अपनी इस महत्त्वाकांक्षा को पुनः जाग्रत् करने का अवसर न प्राप्त हुआ। जब मुगल बादशाह हुमायूँ को ईरान-देश में खदेड़कर दिल्ली का बादशाह पठान शेरशाह हुआ, तब उसने अपने राज्य की सर्वप्रथम भूमिकर-नीति के अनुसार, बैसवारे के कृषकों से वार्षिक आय अनुमान कर, चतुर्थांश भाग लेना प्रारम्भ किया था। 'आइन-ए-अकबरी' के अनुसार मुगलों के राज्य-काल में बैसवाड़े के कुछ परगने लखनऊ-सरकार (अवध सूबे) में और कुछ परगने मानिकपुर-सरकार (इलाहाबाद सूबे में) सम्मिलित कर दिये गये थे। लखनऊ-सरकार में बैसवाड़े के परगने इस प्रकार दिये हुए हैं—ऊँचगाँव, शेदपुर, रणवीरपुर, डलमऊ, मौरावाँ, सरवन, कुम्भी, मगडायल, पनहन, पाटन, घाटमपुर, मोहान, असीवन, लशगर, तारा, सिथौरा, देवरख, कहंजर, सातनपुर, हेहार (ऐहार)। मानिकपुर-सरकार में

सम्मिलित परगने में—पुर्वेन्दी और रायबरेली । पुर्वेन्दी अब चकुलाओं के नाम से प्रसिद्ध है । सन् १७३२ ई० में नवाब सम्रादत अली खाँ बुर्हानुल्मुल्क अवध के सूबेदार बनाये गये । इस समय दिल्ली पर मुगल-बादशाह बहादुरशाह का शासन था। नवाब सम्रादत अली खाँ ने अपनी नवीन योजना के अनुसार बैसवाड़े पर अन्य प्रदेशों के साथ ही नये-नये भूमिकरों को लागू किया । इसी समय उक्त नवाब ने अपने राज्य को अनेक चकलों में विभाजित किया और इस प्रकार बैसवाड़े को भी एक स्वतन्त्र चकला बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । बाद में ये अवध के स्वतन्त्र शासक बन बैठे और इनके वंशधर सन् १८५६ ई० तक अवध के सिंहासन पर राज्य करते रहे । इसके अनन्तर कम्पनी-सरकार के गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने तत्कालीन नवाब वाजिद अली शाह को सिंहासन से च्युत करके, अवध के साथ ही साथ बैसवाड़े को भी अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया और सन् १८५८ ई० में नवीन कर-व्यवस्था के द्वारा मालगुजारी वसूल होने लगी । सन् १८६४-६५ ई० में मैकएण्ड और जी० लौग ने रायबरेली में प्रथम बन्दोबस्त किया । कुछ समय तक बैसवाड़ा-प्रांत ब्रिटिश भारतीय साम्राज्यान्तर्गत आगरा और अवध की संयुक्त कमिश्नरी में सम्मिलित रहा । इसका कुछ भाग उन्नाव जिले की पुरवा तहसील में और अधिक भाग रायबरेली जिले की डलमऊ और बरेली तहसील में सम्मिलित है । बैसवाड़े का प्रथम स्थायी बन्दोबस्त सन् १८६५ ई० में हुआ था । बैसवाड़े के बैसों की वंशावली शाका शालिवाहन से प्रारम्भ होती है। अवध के बैस, उनकी राजधानी मुंगीराटन को अपना आदि स्थान मानते हैं। शाका शालिवाहन के ऐतिहासिक अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है । बैसवाड़े के बैसों की वंशावली शाका शालिवाहन से इस प्रकार प्रारम्भ होती है —

१. शाका शालिवाहन शाका संवत् प्रवर्तक ७८ ई० । मुंगीपाटन, २. वृजकुमार, ३. घोपकुमार, ४. पूरणमल, ५. जगनपति, ६. परिमलदेव, ७. माणिकचन्द, ८. कमालदेव, ६. जसधरदेव, १०. होरिलदेव, ११. कृपालशाह, १२. रत्नशाह, १३. हिन्दूपति, १४. राजशाह, १५. प्रतापशाह, १६. रुद्रशाह, १७. विक्रमादित्य, १८. सन्तोषराय, १६. छत्रपति, २०. जगतपति, २१. केशवराय, २२. निर्भयचन्द्र और २३. अभयचन्द्र ।

(बक्सर—सन् १२५० ई० संस्थापक बैसवाड़ा-राज्य, अवध)

विगत सिपाही-विद्रोह में बैसवाड़े के बैसों की बड़ी क्षति हुई । इस वीर जाति ने अँगरेजों के विरुद्ध अस्त्र ग्रहण करके उन्हें समूल उखाड़कर फेंक देने का प्रयत्न किया। फलतः, डौंडियाखेरे के राव-परिवार का समस्त राज्य, शंकरपुर के राव का राज्य तथा कुर्री-सुदौली के नयरवा घराने का आधा राज्य जब्त कर लिया गया । बैसों के हाथों से उनके राज्य का अधिकांश निकल गया । यह प्रदेश वीरता और स्वाधीनता के संघर्ष में सदैव आगे रहा है । खजूरगाँव, खजूरी, नरेन्द्रपुर, कसरुआ, देवगाँव गिरधरपुर, सेमरपुरा, चन्द्रनिहा, कोरिहर सतॉव, पाहो, पिलखा, वाल्हीमऊ, राजामऊ, रहवाँ हसनपुर, सेमरी, विहार, गौरा, मलौना, अकबरपुर आदि बैसों के संगठन के प्रधान केन्द्र-स्थल रहे हैं।

साहित्यिक परिचय—बैसवाड़ा अपनी भौगोलिक एवं शान्तिमय राजनीतिक परिस्थितियों के कारण चिरकाल से साहित्य और संस्कृति का केन्द्र रहा है। बैसवाड़े के प्रत्येक जनपद और करबे में संस्कृत, व्याकरण, साहित्य एवं दर्शन के मनन-चिन्तन तथा अध्यापन का प्रबन्ध किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहा है। राव कनकसिंह के आश्रय में रहकर एक कायस्थ विद्वान् रामकृष्णजी ने 'कनक-प्रकाश' नामक वैद्यक का एक ग्रन्थ संस्कृत में लिखा था। संस्कृत-व्याकरण और दर्शन पर लिखित और उपलब्ध ग्रन्थों की सूची बड़ी बृहत् है। यहाँ के विद्वानों का दृष्टिकोण पारमार्थिक रहा है। बैसवाड़े की केन्द्रीभूत सत्ता छिन्न-भिन्न होने के पूर्व ही यहाँ के बैसक्षत्रिय-नरेशों के आश्रय में रहनेवाले कवियों ने साहित्य, वैद्यक और ललित-कला से सम्बन्ध रखनेवाले सहस्रों ग्रन्थों की रचना की। कहना न होगा कि बैस-क्षत्रियों के आश्रय में हिन्दी-साहित्य की पर्याप्त अभिवृद्धि हुई। राव मर्दनसिंह के आश्रय में कविराज पं० सुखदेवमिश्र ने अनेक महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थों की रचना की। राव मर्दनसिंह के पुत्र कुँवर उद्योतसिंह के आश्रय में देवकवि रहे और इसी बैसवाड़े की भूमि मे 'प्रेमलतिका' ग्रन्थ की रचना की। राव मर्दनसिंह के द्वितीय पुत्र राजा अचलसिंह के राज-दरबार में तीर्थराजमिश्र, शम्भुनाथमिश्र आदि चिरकाल तक रहे और काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन करते रहे। बैसवाड़े के जगन्नाथ शास्त्री महोदय महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री के समय में काशी की लघुत्रयी में गिने जाते थे। मौरावाँ वेदों और संस्कृत-साहित्य के अध्ययन का केन्द्र होने के कारण 'छोटी काशी' के नाम से विख्यात रहा है।

अवधी—हिन्दी की प्रादेशिक बोलियों में अवधी का प्रमुख स्थान चिरकाल से रहा है। इसके दो प्रमुख कारण हैं। प्रथम यह कि अवधी उस प्रदेश की बोली है, जो आदिकाल से सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक चेतना का केन्द्र रहा है। द्वितीय यह कि हिन्दी के गौरव कवि महात्मा तुलसीदास एवं मलिक मुहम्मद जायसी की प्रतिभाओं का विकास, इसी प्रदेश की भाषा के माध्यम से हुआ है। इस बोली में ऐसे दो ग्रन्थ-रत्नों का सर्जन हुआ, जो हिन्दू एवं हिन्दी-जनता के गले के हार बने हुए हैं। ये ग्रन्थ हैं 'रामचरितमानस' और 'पद्मावत'। यह (अवधी) पूरबी हिन्दी की प्रमुख भाषा है। इस बोली का क्षेत्र यद्यपि प्रमुख रूप से अवध ही रहा है, परन्तु इसका प्रसार आज देश के कोने-कोने में पाया जाता है। हरदोई के अतिरिक्त लगभग समस्त जनपदों और विशेष रूप से लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, बाराबंकी, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, फैजाबाद, लखीमपुर खीरी आदि में अवधी बोली जाती है। बिहार-प्रांत के मुसलमान भी इस बोली का प्रयोग करते हैं। इन जिलों की कतिपय तहसीलों में अवधी बोली और समझी जाती है। दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता जैसे बड़े-बड़े शहरों में, इस प्रदेश से जाकर बस जानेवाले लोग भी, इसका इन स्थानों में प्रयोग और प्रचार करते हुए देखे जाते हैं।

सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'पूरबी हिन्दी' बोलनेवालों की संख्या का विवरण अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इण्डिया' में इस प्रकार किया है—

१. अवधी बोलनेवालों की संख्या १६,१,४३,५४८
२. बघेलखंडी ,, ,, ,, ४,६,१२,७५६
३. छत्तीसगढ़ी ,, ,, ,, ३,७,५५,६४३

देश की जन-संख्या-वृद्धि के साथ-ही-साथ यह संख्या आज कई गुनी अधिक हो गई है। ग्रियर्सन महोदय ने पूरबी हिन्दी के अन्तर्गत तीन बोलियों का अस्तित्व माना है। ये बोलियाँ हैं—१. अवधी, २. बघेली और ३. छत्तीसगढ़ी।

केलॉग महोदय ने बघेली को रीवाँ-प्रदेश में बोली जानेवाली रीवाँई का दूसरा रूप माना है और उसे अवधी के अत्यधिक निकट माना है।[1] डॉ० बाबूराम सक्सेना के मत से अवधी बोली की परिधि या सीमा निम्नलिखित है —

१. उत्तर में—नैपाल की भाषाएँ
२. पूर्व में—भोजपुरी
३. दक्षिण में—मराठी
४. पश्चिम में—पछाही हिन्दी। कन्नौजी एवं बुन्देलखंडी।[2]

अवधी के तीन रूप—डॉ० श्यामसुन्दरदास ने अवधी के अन्तर्गत तीन प्रमुख बोलियों—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी—को मान्यता प्रदान की है। उनका कथन है कि "अवधी के अन्तर्गत तीन मुख्य बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी और बघेली में कोई अन्तर नहीं है। बघेलखंड में बोले जाने के ही कारण यहाँ अवधी का नाम बघेली पड़ गया। छत्तीसगढ़ी या मराठी और उड़िया का प्रभाव पड़ा और इस कारण यह अवधी से कुछ बातों में भिन्न हो गई है। हिन्दी-साहित्य में अवधी ने एक प्रधान स्थान ग्रहण कर लिया।" यह तो हुआ अवधी के अन्तर्गत उपलब्ध तीन बोलियों के विषय में डॉ० श्यामसुन्दरजी का कथन। परन्तु इन तीन बोलियों के अतिरिक्त अवधी के तीन रूप हैं। इनमें सर्वप्रथम है पूरबी अवधी, द्वितीय है पश्चिमी अवधी और तृतीय है बैसवाड़ी अवधी। अवधी के इन तीन रूपों का क्षेत्र और व्याकरण-भेद भी विचारणीय है। सर्वप्रथम पूरबी अवधी को लीजिए। पूरबी अवधी गोंडा, अयोध्या, फैजाबाद एवं उसके समीपस्थ प्रदेश में बोली जाती है। भाषा विज्ञान के आचार्यों ने इसे 'शुद्ध अवधी' माना है। पश्चिमी अवधी के भी व्यवहार का क्षेत्र लखनऊ से कन्नौज तक माना जाता है। इसके अनन्तर अवधी का तीसरा रूप है—'बैसवाड़ी अवधी'। इसका व्यवहार-क्षेत्र बैसवाड़ा माना जाता है।

पूरबी हिन्दी (अवधी) के दो रूप प्रचलित हैं—प्रथम है पश्चिमी अवधी और द्वितीय है पूरबी अवधी। इन दोनों की मध्यवर्ती भाषा है बैसवारी या बैसवाड़ी। अब इनका सीमा-निर्धारण और प्रदेश विचारणीय है। पूरबी अवधी का क्षेत्र अयोध्या और गोंडा है। इसे शुद्ध अवधी भी कहा गया है। पश्चिमी अवधी का क्षेत्र लखनऊ से कन्नौज तक है। इसी

---

१. एवोल्यूशन ऑफ् अवधी : डॉ० बाबूराम सक्सेना, पृ० ३।
२. वही, पृ० २।

क्षेत्र में रायबरेली, उन्नाव, और लखनऊ का कुछ भाग आ जाता है, जहाँ बैसवारी बोली जाती है। *बैसवारी की सीमा बैसवाड़ा-प्रदेश की सीमा तक ही निर्धारित है।* बैसवारी इसी पश्चिमी अवधी का एक रूप है। यह अवधी से उत्पन्न होकर भी अपना पृथक् अस्तित्व और विशेषताएँ रखती है। इटावा और कन्नौज में बोली जानेवाली पश्चिमी हिन्दी रूप एवं आकार में बहुत-कुछ व्रजभाषा से साम्य रखती है। इस अवधी में शब्दों के ओकारान्त रूप भी उपलब्ध हो जाते हैं, जो व्रजभाषा से साम्य रखने का स्पष्ट प्रमाण है।

कुछ विद्वानों ने बैसवारी का प्राचीन बैसवारी के रूप में भी उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध वैयाकरण केलॉग महोदय ने लिखा है —

"अपने साहित्यिक महत्त्व एवं धार्मिक प्रभाव के कारण तुलसीदास के 'रामायण' की प्राचीन बैसवाड़ी पूरबी बोलियों के अन्तर्गत विशेष रूप से विचारणीय है। कहना न होगा कि तुलसीदास ने छन्द-विधान की आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से अथवा अपनी कल्पना की प्रेरणा से, हिन्दी की विविध बोलियों से ही नहीं, वरन् प्राकृत और संस्कृत तक से व्याकरणिक रूपों को ग्रहण करने में अत्यधिक स्वातंत्र्य से काम लिया है।"[१]

केलॉग महोदय से साम्य रखनेवाला मत है—एफ़० ई० केई का मत। उनके शब्दों में "तुलसीदास ने पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत प्राचीन बैसवाड़ी अथवा अवधी बोली का प्रयोग किया है और उनके प्रभाव से उनके समय से आज तक राम-काव्य की रचना साधारणतः इसी बोली में होती आई है।"[२] डॉ० बाबूराम सक्सेना ने बैसवारी को प्राचीन अवधी का नाम दिया है। प्रस्तुत प्रसंग में डॉ० सक्सेना का कथन है कि साहित्यिक क्षेत्र में अवधी तुलसीदास के रामचरित-मानस में प्रयुक्त होकर अमर हो गई है। प्राचीन अवधी में महत्त्वपूर्ण रचना हुई, यद्यपि इसका इतना विस्तार नहीं है, जितना व्रज का।[3]

केलॉग एवं केई महोदय ने बैसवारी का प्राचीन बैसवारी के नाम से उल्लेख किया है और डॉ० सक्सेना ने बैसवारी का प्राचीन अवधी के रूप में उल्लेख किया है। डॉ० ग्रियर्सन ने बैसवारी को अवधी का पर्याय माना है।[४] डॉ० सक्सेना ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'एवोल्यूशन ऑफ़् अवधी' में अवधी को बैसवारी का पर्याय माना है।

१. Among the eastern dialects, the old Baiswari of the Ramayan of Tulsidas deserves special attention on account of the literary importance and religious influence of this poem.
—A Grammar of Hindi Language, Second Ed., p. 78-79

२. The dialect, which Tulsidas uses is the old Baiswari or Awadhi dialect of Eastern Hindi and through his influence Ramaite poetry since his day has generally been in this dialect.
—A History of Hindi Literature, F. E. Keay, p. 54

3. In the literary field, Awadhi stands immortalised in Ramcharitmanas of Tulsidas......Quite an important literature, though not as extensive as that of Braj, however exists in early Awadhi
—Evolution of Awadhi, Dr. B. R. Saxena, p. 9 & 12 (Introduction)

४. Linguistic Survey of India, vol. VI.

'इस बोली (अवधी) का बोध कराने के लिए एक दूसरा नाम भी व्यवहृत हुआ है और वह है—बैसवारी।'[1]

वस्तुतः अवधी और बैसवारी क्षेत्रों से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्ति यह भली भाँति जानते हैं कि बैसवारी न तो प्राचीन अवधी है, न अवधी का पर्याय ही। बैसवारी अवधी के अन्तर्गत जीवित और बोली जानेवाली एक बोली है, जिसकी अपनी पृथक् सत्ता, पृथक् उच्चारण और किंचित् पृथक् व्याकरण भी है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि बैसवारी अवधी से सर्वथा भिन्न या पृथक् बोली है। इस सम्बन्ध में लखनऊ-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यापक डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव का कथन पठनीय है—"बैसवारी अवधी का पर्याय नहीं है, वरन् उसी के विस्तृत क्षेत्र के अन्तर्गत एक सीमित प्रदेश में प्रचलित बोली है। श्रीकेलॉग महोदय का, जिन्होंने 'रामचरित-मानस' की भाषा को 'प्राचीन बैसवाड़ी' का नाम दिया है, विचार यद्यपि इस विषय में अधिक स्पष्ट नहीं है, परन्तु उनके कथनों से इतना अवश्य स्पष्ट है कि वे बैसवारी को अवधी से सर्वथा भिन्न स्वतंत्र बोली मानते हैं।"

अवधी एवं बैसवारी के सम्बन्ध में चार विभिन्न विचार हमारे विचारार्थ प्रस्तुत हैं —

(१) केलॉग महोदय के मतानुसार बैसवारी अवधी से सर्वथा भिन्न है। परन्तु बैसवारी का अवध एवं रीवाँ की वर्त्तमान बोलियों से निकट सम्बन्ध है। इसका मूल रूप रामचरितमानस में द्रष्टव्य है।

(२) ग्रियर्सन महोदय के मत से बैसवारी एक विस्तृत क्षेत्र की भाषा है। इसके अन्तर्गत बुन्देलखंडी, रीवाँई तथा अवधी बोलियाँ हैं। इसीलिए कभी-कभी 'बैसवारी' अवधी के पर्याय के रूप में ग्रहण की गई है।

(३) डॉ० बाबूराम सक्सेना के मत से बैसवारी अवधी के अन्तर्गत एक बोली है, जो सीमित प्रदेश उन्नाव, लखनऊ, रायबरेली और फतेहपुर में बोली जाती है।

(४) डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव का सक्सेनाजी से मतसाम्य है। वे उनके मत को 'अधिक स्पष्ट, यथार्थ एवं युक्तिसंगत मानते हैं।'[2]

हमारे मत से केलॉग एवं ग्रियर्सन का मत भ्रमपूर्ण है। नवीन अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि बुन्देलखंडी पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत है। डॉ० सक्सेना एवं डॉ० श्रीवास्तव के मत अधिक तर्क-सम्मत हैं।

अवधी और बैसवारी में भेद—अवधी और बैसवारी का पारस्परिक सम्बन्ध पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। अवधी के अन्तर्गत एक उपबोली होने पर भी व्याकरण और उच्चारण की दृष्टि से बैसवारी की अपनी विशेषताएँ हैं। अब यहाँ पर हम व्याकरण की

---

१. Another name employed to devote this language is Baiswari, but it is generally and more appropriately used for a restricted area of Awadhi, that of Baiswari.

—Evolution of Awadhi—Introduction.

२. रामचरितमानस की भाषा, पृ० ४०।

दृष्टि से उपलब्ध अवधी एवं बैसवारी के भेद पर विचार करेंगे। व्याकरण और उच्चारण की दृष्टि से दोनों में प्रचुर भेद है। यहाँ पहले हम व्याकरणगत भेद पर विचार करेंगे।

१. वर्त्तमानकाल की सहायक क्रिया—

(क) बैसवारी में	(मैं) आहेउं	(हम) आहिन
	(तू) आहिस	(तुम) आहेउ
	(ऊ) आँहि, आय	(वे) आहीं

अवधी का (इन तीनों रूपों की तुलना में) झुकाव 'हीं, इवीं' की ओर अधिक है।

(ख) बैसवारी में 'है' के लिए 'इन' का प्रयोग होता है, परन्तु अवधी में इसके लिए 'अहैं' प्रयुक्त होता है।

२. बाँदा में बोली जानेवाली बैसवारी में 'विशेष प्रयोगों मे संज्ञा कारक चिह्न है' 'खर', 'खे', जबकि अवधी मे इसके अल्पप्राण रूप 'कर', 'कै' मिलते हैं। यथा—

बैसवारी में — ओखर दासा।
अवधी में — रामकर दासा।

३. बैसवारी-क्षेत्र में कर्त्ता कारक चिह्न 'नैं' प्रवेश कर गया है, जबकि अवधी में इसका प्रयोग नहीं हो रहा है।

४. भूतकालिक सकर्मक क्रिया अपने वचन और लिंग के प्रयोग में कर्म के अनुसार परिवर्तित होती चलती है। यह परिनिष्ठित हिन्दी की विशेषता है, जो कि पुरानी अवधी तथा पूरबी अवधी में देखने को नहीं मिलती है। यथा—

दीन्हा नैन पंथ पहिचानी।
कीन्हा रात मिलै सुख जानी। (यहाँ कर्त्ता सिरजनहार है)

हिन्दी के अनुसार 'दीन्हा' और 'कीन्हा' के स्थान पर क्रमसे 'दीन्हे' एवं 'कीन्हे' रूप होने चाहिए। *बैसवारी में अवधी के प्रभावस्वरूप उक्त प्रवृत्ति विकसित हो गई है।* 'मानस' में भी इस विकसित प्रवृत्ति के दर्शन किये जा सकते हैं।

'मानस' में 'ते देखे दोउ भ्राता।' यहाँ 'भ्राता' कर्म बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। *उन्हीं के प्रभावस्वरूप क्रिया बहुवचनान्त हो गई है।*

५. भविष्यत्कालिक रचना में अवधी की प्रवृत्ति 'ब' प्रत्यय के योग की है। साथ ही उसके भिन्न ध्वन्यात्मक रूप भी हैं, यथा 'बा', 'बै', 'ब्या' आदि। परन्तु बैसवारी अवधी का झुकाव 'ह' रूपान्तरों की ओर ही अधिक है। केवल उत्तम पुरुष के रूप के साथ ही 'ब' मिलता है। यथा—

हम जाब, हम जइबे।
तू जइहैं, तुम जइहो।
ऊ जाई, उई जइहै।

'मानस' की भाषा का अध्ययन करने से प्रकट होता है कि उसमें बैसवारी के समस्त भविष्यकालबोधक रूप प्रचुरता के साथ प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ —

(१) *हम सब भाँति करब सेवकाई (अयो० कां०)*
(२) *तब भली विधि सोधब लाहू (बा० कां०)*
(३) *यहि विधि भलेहि देवहित होई (बा० कां०)*
(४) *सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं।*
मारग जनित सकल श्रम हरिहौं (अयो० कां०)
(५) *गए सरन प्रभु राखिहैं, तव अपराध बिसार (सु० कां०)*
(६) *कपि सेन संग संघारि निसिचर रामु सीतहि आनिहैं (कि० कां०)*
(७) *राम काज सब करिहहु, तुम्ह बल बुद्धि निधान (सु० कां०)*

६. क्रियार्थक संज्ञा (Gerund) में विकृत रूप एकवचन में अवधी रूप निरनुनासिक रहते हैं, जब कि बैसवारी की प्रवृत्ति अनुनासिकता की ओर है।

यथा, घूमे तैं (अवधी)
घूमैं तैं (बैसवारी)
अथवा, रहे तैं (अवधी)
रहैं तैं (बैसवारी)
अथवा, उठे तैं (अवधी)
उठैं तैं (बैसवारी)

७. कारक-चिह्नों के रूप —

संख्या	कारक	खड़ीबोली	अवधी	बैसवारी
१.	कर्त्ता			
२.	कर्म	को, लिए, खातिर	क, हि, हिं, कहं के, कां	का, कै, कौ
३.	करण	ने, द्वारा, से	सत, से, सौं	ते, तें, तैं
४.	सम्प्रदान	को, लिए, खातिर तई	क, कहं, के	का, कैं, कै, कौ के बरे, की
५.	अपादान	से	सन, सेन, ते, तँह, ते	सौं, सी, तैं, तें, ते
६.	सम्बन्ध	का, की, के	कर, करे, केरा, केरी के, कै, केरि, केर	कैं, क्यार, क्येरि, क्वार, के कन
७.	अधिकरण	में, पर, तक	म, मा, मह, माहि माझु, मुद, मुदु, मँझारी, पै, परि, अपरि, पर, लागि, लग	मँहया, माहीं, मंहं लाग, लगा

८. संबंधवाचक सर्वनामविषयक भेद —

१.	खड़ी बोली में	मेरा, तेरा, उसका, सबका
२.	अवधी में	मोर, तोर, उहिका, सबकेर
३.	बैसवारी में	म्वार, त्वार, वाहिका, सबक्यार

९. सर्वनामों के रूप में भेद —

	बोली	तीनों सर्वनामों के रूप	एक वाक्य
१.	खड़ीबोली	कौन, जो, वह	वहाँ कौन जायगा
२.	पूरबी अवधी	के, जे, से	हुवा के जाई
३.	पच्छिमी	को, जो, सो	हुआ को जैहै
४.	बैसवारी	कों, जों, सों	हुवा कों जइहैं या जैहैं

१०. क्रियागत भेद —

	खड़ी बोली	*पश्चिमी अवधी*	*पूरबी अवधी*	*बैसवारी अवधी*
१.	आना	आवन	आउब	अइबे
२.	जाना	जान	जाय	जइबे
३.	करना	करन	करब	करिबे
४.	रहना	रहन	रहब	रहिबे

११. बैसवारी अवधी में जहाँ तक सर्वनाम रूपों का सम्बन्ध है, वचन-भेद के अनुसार उत्तम पुरुष के अन्तर्गत दो रूप मिलते हैं। ये रूप हैं—(१) मैं तथा (२) हम। परन्तु पूरबी अवधी में केवल 'हम' का प्रयोग होता है। रामचरितमानस में दोनों रूप मिलते हैं —

(१) हम तो आजु जनम फलु पावा।

(२) मैं सिसु सेवक जद्यपि बाया।

बैसवारी में मध्यम पुरुष में 'तुइ' और 'तुम' और पूरबी अवधी में 'तू' और 'तूं' का प्रयोग होता है। अन्यपुरुष के लिए बैसवारी में 'वहु' तथा 'उइ' और पूर्वी अवधी में 'ऊ' और 'वो' का प्रयोग किया जाता है। सम्बन्धवाचक रूपों में 'जो' का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। परन्तु प्रश्नवाचक रूपों में भिन्नता है। बैसवारी में इस अर्थ में 'को' तथा 'का' का व्यवहार होता है। पूर्वी अवधी में इसके लिए 'के' तथा 'काऊ' का प्रयोग होता है।

बैसवारी में सर्वनामों में सम्बन्धकारक रूप होते हैं—'हेमारे', 'उनकै' 'वहिकै', 'इनकै' 'जेहिकै' आदि, परन्तु पूरबी अवधी में यही रूप—'मोरे', 'तोरे', 'जाका' आदि—हैं।

१२. क्रिया-रूप—

पूरबी अवधी में जो अर्थ 'हम देत हई' से व्यक्त होता है, उसे प्रकट करने के लिए बैसवारी में 'हम देइत है' का प्रयोग होता है।

१३. सामान्य भूतकाल के रूपों में पूरबी अवधी एवं बैसवारी—दोनों में ही मूल धातु के साथ प्रायः 'इसि', 'इन', 'यो' तथा 'आ' प्रत्ययों का योग मिलता है। जैसे, वहु कहिसि, उइ कहिन, तुम कह्यो। मानस में भी इनका प्रयोग इसी रूप में मिलता है:

'मारेसि मेघनाद की छाती', 'कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई', 'अनुपम बालक देखेन्हि जाई', 'देखेउँ नयन राम कर दूता', 'हेतु न दूसर मैं कछु जाना'।

१४. अपूर्ण-भूतकाल-बोधक वाक्यों का संगठन अवधी में निम्नलिखित प्रकार से होता है—

'तू आवत रहया', 'हम आवत रहे', 'वे आवत रहें', 'उइ आवत रहा'।

वैसवारी मे इनका प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से होता है—

'तुम आवत रहौं', 'हम आइत रहे', 'मैं आवत रहयौं', 'उइ आवत रहैं'।

पूर्ण-भूतकाल के रूप पूरबी अवधी में इस प्रकार होंगे—

हम आए रहे
वे आए रहे
सब आ रहे

परन्तु वैसवारी में इनके रूप होंगे—

हम आए रहन
उइ आए रहैं, वहु आई रहै
सब आए रहैं

१५. वैसवारी में सामान्य संकेतार्थ काल के रूप इस प्रकार होंगे—

मैं होतेउँ, हम होइत, तुम होत्यो, उइ होतीं।

परन्तु पूरबी अवधी में इसके रूप निम्नलिखित होते हैं—

हम होते, वे होते, तू होतेस।

'मानस' में वैसवारी के प्रयोग बहुत मिलते हैं। उदाहरणार्थ, 'पितहि खाइ खातेउ पुनि तोही', 'तौ पन करि होतेउ न हसाई', 'करते हु रामत तुम्हहि न दोसू', 'जो तुम्हहि अवतेहु मुनि की नाईं।'

अवधी और वैसवारी का भेद प्रदर्शित करने के लिए इतने उदाहरण पर्याप्त हैं। इनके अतिरिक्त दोनों बोलियों में व्याकरण-गत एवं उच्चारण-विषयक अन्य भेद-विभेद हैं, जिनका उल्लेख विस्तार-भय के कारण नहीं किया जा रहा है।

वैसवारी की उच्चारणविषयक अपनी विशेषताएँ हैं। वैसवारी में 'व', 'य' और 'र' का प्रयोग प्रचुरता के साथ होता है। उदाहरणार्थ, यहाँ पर कतिपय शब्द उद्धृत किये जाते हैं—

'व' का प्रयोग :

तोर त्वार
मोर म्वार
भोर भ्वार
होर ह्वार
चोर च्वार

'य' का प्रयोग :

सियार	स्यार
का	क्यार
उजाला	उजियार

'र' का प्रयोग :

जलना	जरना
फलना	फरना
टलना	टरना
उलझना	उरझना
थाली	थारी

बैसवारी की व्याकरणगत कतिपय विशेषताएँ—

अवधी एवं बैसवारी के भेद का अध्ययन कर लेने के अनन्तर अब बैसवारी की व्याकरण-सम्बन्धी विशेषताएँ स्वतः प्रकाश में आ जाती हैं। यहाँ पर उन्हीं कतिपय विशेषताओं पर हम ध्यान देंगे। विद्वानों का अभिमत है कि बैसवारी का मूल उद्गम स्रोत अपभ्रंश है। डॉ० श्यामसुन्दरदास का अभिमत है कि "ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखें तो हिंदी शौरसेनी की वंशज है और पूरबी हिन्दी अवधी, बैसवारी, छत्तीसगढ़ी तथा बघेली अर्धमागधी की।"[१] कतिपय विद्वानों का मत है कि पालि अर्धमागधी प्राकृत का साहित्यिक रूप है। बैसवारी व्याकरण पर इन सभी भाषाओं के व्याकरण की प्रतिच्छाया दृष्टिगत होती है। स्थान-स्थान पर बैसवारी व्याकरण प्राकृत एवं अपभ्रंश-व्याकरण से बहुत-कुछ साम्य रखती है। संक्षेप में बैसवारी भाषा एवं व्याकरण, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अर्धमागधी के स्वाभाविक क्रमिक विकास का सरलतम रूप है।

बैसवारी की स्वरगत विशेषताएँ—

(१) अपभ्रंश की प्रमुख प्रवृत्ति है 'अन्त्य स्वर का ह्रस्वीकरण'। ध्वनि के क्षेत्र में अपभ्रंश ध्वनियाँ, प्राकृत ध्वनियों का अनुगमन करती हैं। अन्त्य स्वर के ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति पालि एवं प्राकृत में भी उपलब्ध होती है परन्तु अपभ्रंश में इसकी अधिकता है।[२] बैसवारी में इस ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति का बाहुल्य है। बैसवारी संज्ञारूप विशेषण, सम्बन्ध कारक के सर्वनाम, खड़ीबोली एवं ब्रज के आकारान्त एवं ओकारान्त संज्ञा, विशेषण तथा सर्वनामों के अनुकूल नहीं होते हैं, वरन् अकारान्त होते हैं। यथा—

खड़ीबोली—कैसा, तैसा, भैंसा, छोटा, खोटा, हमारा, भला, घोड़ा।
ब्रजभाषा —कैसो, तैसो, भैसो, छोटो, खोटो, हमारो, भलो, घोड़ो।
बैसवारी — कैस, तैस, भैस, छोट, खोट, हमार, भल, घोड़।

(२) बैसवारी में लघ्वन्त की यह प्रवृत्ति वर्तमान कृदन्त रूपों में भी पाई जाती है। यथा—

१. भाषाविज्ञान—डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० १०५।
२. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—श्री नामवर सिंह, पृ० ७५।

मेघ—मेह, मुख—मुह, बधिर-बहिर, वधू—वहू, क्रोध—कोह।

(४) संस्कृत की ऊष्म ध्वनियाँ 'श', 'ष', 'स' प्राकृत में 'स' के रूप में परिवर्ति
जाती हैं। बैसवारी में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है —
बैसवारी में 'श' गम्डी और 'ष' छुठी का परिवर्तन 'स' में हो जाता है। यथ
(क) निशा—निसा।
(ख) शरीर—सरीर।
कभी-कभी बैसवारी में 'श' और 'स' का रूप 'ह' में परिवर्तित हो जाता है। यथ
मास—माह। पचसत्तर—पछहत्तर।
'ष' प्रायः 'ख' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यथा—
हर्ष—हरख। भाषा—भाखा। आकर्षण—आकरखन।

(५) बैसवारी में अन्त्य व्यंजन 'ल', 'र' में परिवर्तित हो जाता है। यथा—
थाला—थारा। केला—केरा। थाली—थारी।
काली—कारी। नाली—नारी।

संयुक्त व्यंजन—

(१) संयुक्त व्यंजन की दृष्टि से भी बैसवारी विशेष रूप से अध्ययनीय है, यह भली भ
विदित है कि संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग संस्कृत में बाहुल्य के साथ होता है। प्रा
और अपभ्रंश में संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग बहुत कम मिलता है। बैसवारी
संयुक्त व्यंजन कुछ विकृत रूप में उपलब्ध होते हैं। बैसवारी ने संयुक्त व्यंजनों
सरल बनाने में जननी भाषाओं द्वारा ग्रहण किये गये नियमों को स्वीकार किय
बैसवारी में स्वर-भक्ति द्वारा परिवर्तन उपस्थित हुआ है।

उदाहरणार्थ—

कार्य—कारज।
मर्यादा—मरजाद।
शर्बत—सरबत।
पत्नी—पतनी।
पर्वत—परबत।
भ्रम—भरम।

(२) बैसवारी में व्यंजन-विपर्यय-विधि के द्वारा शब्दों के रूप परिवर्तित हो जाते हैं
उदाहरणार्थ—
लखनऊ—नखलऊ। बताशा—बसाता। नुकसान—नुस्कान।

(३) समीकरण के द्वारा भी बैसवारी के शब्दों के रूप परिवर्तित हो जाते हैं। यथा—
मित्र—मीत। श्वेत—सेत।

बैसवारी में आदि व्यंजन, मध्य व्यंजन तथा उपरि व्यंजनों का भी लोप हो जाता है।

आदि व्यंजन-लोप के उदाहरण—

स्तन—थन। स्थूल—थूल। स्तम्भ—थम्भ।

मध्य व्यंजन-लोप के उदाहरण—

श्याला—साला। पुष्कर—पोखर।

उपरिलोप का उदाहरण—

खड्ग—खग।

(५) अर्धमागधी के समान बैसवारी में भी 'स्फ' का 'फ'; 'श्च', 'त्स' 'प्स' आदि का 'च्छ' या 'छ' हो जाता है। उदाहरणार्थ—

(क) बृहस्पति—बेफई।

(ख) मत्सर—मच्छर।

(ग) मत्स्य—मच्छ।

(घ) पश्चिम—पच्छिम।

(६) बैसवारी में अपभ्रंश के समान ही यादृश, तादृश, कीदृश, और ईदृश के लिए जेहु, तेहु, केहु, एहु मिलते हैं।

(७) बैसवारी में व्यंजनों का लोप ही नहीं, वरन् आगम भी होता है। इसके तीन रूप हैं—

(क) आदि व्यंजनागम—ओष्ठ—होठ।

(ख) मध्य ,, ,,—वानर—बांदर।

(ग) अन्त्य ,, ,,—कल्य—काल्हि।

वैसवारी के पद-रूप

संज्ञा

पुल्लिंग अकारान्त

	संस्कृत	पालि	प्राकृत	अपभ्रंश	वैसवारी
कर्ता	ो, अः	ो, आः	ओ, आ,	×, े,	हि, हिं, न्ह, न्हि, उ
कर्म	अम्, ओ, अः	ये	अं, ये,	न्हि, न्ह, उ, हि, हिं, कहु, कहँ	हि, हिं, उइ, ए, न्ह, न्हि, कहुँ, कहँ, कौ, को, न
करण	एन, भ्याम्, भिः	न, हि	हिं, हिं,	न्हि, न्ह, हि, हिं, तण, सहुँ	हि, हिं, ते, तैं, तें, हुंत, सो, सउं, सन, न, न्ह
सम्प्रदान	ए, भ्याम्, भ्यः	स, नं	स, ण, णं	न्हि, न्ह, हि, हिं, केहिं, कहँ, तण, लाग्ग।	हि, हिं, इ, ए, न, न्ह, कहुं, कहं, का, हुत, लगिं।
अपादान	आत्, भ्याम्, भ्यः	स्मा, हि,	ओ, दो, दुहि, हन्तो, सुन्तो	हि, हो, तउ, हुन्ते	हि, हिं, हुन्त, ते, तै, सउँ, सन, सो
सम्बन्ध	स्य, ोः, आम्	स	स, ण, णं, केरको, के, ो, करि ो,	न्हि, न्ह, हि, हिं, हं, ह, केरअ, केर, कर, कै, कइ, करि, क	हि, हिं, क्यार, केर, कर, कै, कइ, करि, क, न, न्हि, न्ह
अधिकरण	इ, ोः, सु	स्मि, सु,	ए, मिम, सु, मज्के, मज्झि, मज्झिहिं	न्हि, न्ह, हि, हिं, मांझ, माह, माह, परि, पर	हि, हि, मांझ, माह, माह, परि, न, न्हि, न्ह, पर

बैसवारी साहित्य—बैसवारे की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रदेश मुख्यतया बैस-ठाकुरों द्वारा बसाया गया था तथा इस प्रदेश की वीरता और साहसपूर्ण परम्पराओं से बड़ा निकट सम्बन्ध रहा है। अवधी का सर्व प्रथम काव्य-ग्रंथ (जो इस समय तक उपलब्ध है) सन् १२३० ई० में वीर-काव्य के सुप्रसिद्ध एवं यशस्वी कवि जगनिक द्वारा लिखा गया। इस ग्रंथ का नाम है 'आल्ह-खण्ड'। इसकी कथा का सम्बन्ध महोवे के वीरों के चरित्र से है। 'आल्ह-खंड' उत्तर-भारत और विशेष रूप से बैसवारे की एक बड़ी ही लोकप्रिय रचना है। 'आल्ह-खंड' की भाषा अवधी है, जिसमें बैसवारी की प्रधानता है। इस ग्रन्थ की भाषा में बैसवारी की कहावतों, क्रियापदों और उच्चारणों की विशेषताओं की प्रचुरता है। अधिक समय तक मौखिक रहने के कारण इसकी भाषा में अन्य भाषाओं और बोलियों के शब्दों ने घर कर लिया है। 'आल्ह-खंड' की भाषा इस बात का प्रमाण है कि सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा भी ओजपूर्ण विषयों की रचना का माध्यम बन सकती है। 'आल्ह-खंड' की भाषा में ओज और प्रवाह सर्वत्र विद्यमान है। बैसवारी में वीररस से सम्बन्धित भावों को व्यक्त करने की सुन्दर शक्ति है। जगनिक का 'आल्ह-खड' 'रामचरितमानस' के अनन्तर अवध-प्रदेश का सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ है।

भक्तिकाल में साहित्य चार धाराओं में प्रवाहित हुआ। इनमें प्रथम है संत-काव्य, द्वितीय प्रेमकाव्य, तृतीय रामकाव्य तथा चतुर्थ कृष्णकाव्य है। इनमें से कृष्णकाव्य की रचना तो पूर्णतया ब्रजभाषा में हुई। प्रेमकाव्य और राम-साहित्य का अधिकांश अवधी में लिखा गया, जिसमें बैसवारी की घनीभूत छाया अंकित है। कारण कि इस साहित्य के अधिक कवि अवध-प्रदेश के ही निवासी थे या किसी न-किसी रूप में इनका सम्बन्ध इस प्रदेश से अवश्य था। संत-साहित्य की भाषा यों तो 'सधुक्कड़ी' कही जाती है, परन्तु इस साहित्य के भी कुछ कवि हैं, जिन्होंने अवधी के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति की थी।

संत-कवियों में अवधी के माध्यम से काव्य-रचना करनेवाले कवियों की एक सूची मैंने आज से प्रायः चार वर्ष पूर्व प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'अवधी और उसका साहित्य' में प्रस्तुत की थी। मैंने इस सूची में संत मलूकदास संत मथुरादास, संत धरनीदास, संत चरनदास तथा संत कवि रामरूपजी का उल्लेख किया था। प्रस्तुत सूची में संत पलटू साहब और भीखा साहब का उल्लेख कर देना आवश्यक होगा। पलटू साहब अयोध्या के निवासी थे। इन कवियों की भाषा में बैसवारी के शब्दों और कहावतों का प्रयोग खूब हुआ है। मलूकदास तथा पलटू साहब की कविता में बैसवारी के शब्द प्रचुरता के साथ प्रयुक्त हुए हैं। 'प्रेम-काव्य' के लेखकों में अवधी के माध्यम से कविता लिखनेवाले मुसलमान कवियों में मैंने अपने ग्रन्थ 'अवधी और उसका साहित्य' में कुतबन, मंझन, जायसी, कासिम शाह, निसार कवि, ख्वाजा अहमद, शेख रहीम, नसीर, उसमान, नूर मुहम्मद, आलम तथा हिन्दू-कवियों में ईश्वरदास, पुहकर, नरपति व्यास, गोवर्धनदास के पुत्र सूरदास, दुखहरनदास, कोटा-नरेश मुकुन्दसिंह, जनकुंज, कवि सेवाराम, जीवनलाल नागर का विशेष समादर के साथ उल्लेख किया है। इनमें से निसार कवि, कासिम शाह तथा ख्वाजा अहमद

बैसवारे के निकटवर्ती प्रदेश के निवासी थे। जायसी भी रायबरेली के जायसनगर के गौरव कवि थे। इन चारों की कविता में बैसवारी के शब्दों और क्रियाओं के सुन्दर प्रयोग मिलते हैं। जितना सुन्दर इनका काव्य-चित्रण है, उतनी ही सम्मोहक इनकी भाषा भी है। ऊपर कहा जा चुका है कि वीर-रस से सम्बन्धित भावों की अभिव्यक्ति के लिए बैसवारी बहुत उपयुक्त बोली है। परन्तु इन कवियों की रचनाएँ देखकर कहना पड़ता है, कि बैसवारी या अवधी में प्रेम एवं सजातीय भावनाओं को मधुर एवं हृदयग्राही ढंग से व्यक्त करने की भी अपार शक्ति है। बैसवारी की दृष्टि से जायसी की भाषागत विशेषताओं का सविस्तार वर्णन 'अवधी और उसका साहित्य' के ३६ से ४० पृष्ठों में किया है। अतः पुनरुक्ति अपेक्षित नहीं है। उसमान, आलम, नूर मुहम्मद आदि के काव्य में भी बैसवारी का पुष्ट रूप उपलब्ध होता है। आश्चर्य है कि हिन्दू-प्रेमाख्यानकारों की तुलना में मुसलमान-प्रेमाख्यानकारों की भाषा बैसवारी के अधिक निकट है। 'रामकाव्य' के अन्तर्गत हिन्दी के श्रेष्ठ ग्रन्थ की रचना बैसवारी में ही हुई। ग्रियर्सन, केई, केलॉग एवं डॉ० बाबूराम सक्सेना ने एक स्वर से इस तथ्य को स्वीकार किया है। 'मानस' में बैसवारी का प्राञ्जल और सुन्दर रूप देखने को मिलता है। मानस की भाषा मूलतः बैसवारी है, परन्तु साथ ही अवधी के अन्य विविध रूपों का प्रयोग भी खूब हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य बोलियों और उपबोलियों के शब्दों का प्रयोग हमारे कवि ने, स्थान-स्थान पर, किया है। इस ग्रन्थ की भाषा के सम्बन्ध में मेरा आलोचनात्मक मत प्रायः सात-आठ पृष्ठों में 'अवधी भाषा और उसका साहित्य' में मिल जायगा। संक्षेप में यही कहना है कि तुलसीदास जैसा विश्वविश्रुत, अमर कवि और अनन्य भक्त पाकर बैसवारी धन्य हो गई। जबतक 'मानस' जीवित है, तबतक बैसवारी की ध्वजा सदैव फहराती रहेगी। राम-काव्य के उन लेखकों की सूची बहुत बृहत् है, जिन्होंने अवधी एवं बैसवारी में कविता की रचना की।

रीतिकाल में अवधी या बैसवारी काव्य-धारा की कोई विशेष प्रगति नहीं दीख पड़ती है। रीतिकाल के भाषादर्श का वर्णन कविवर दास ने निम्नलिखित छन्द में कर दिया है—

ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहै सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रकट जु होइ॥
ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग यवन भाखानि।
सहज पारसीहू मिलै, षट् विधि कहत बखानि॥

दासजी मिली-जुली भाषा के समर्थक थे। वे कहते हैं कि—

तुलसी गंग दुवौ भये, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली, भाषा विविध प्रकार॥

इस दोहे को पढ़ जाने के अनन्तर रीतिकालीन काव्यभाषा के आदर्श के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहने के लिए नहीं रह जाता है।

आधुनिक काल—भारतेन्दु-युग में प्रतापनारायणमिश्र बैसवारी के श्रेष्ठ कवि थे। उनकी 'आठ मास बीते जजमान', 'बुढ़ापा', 'आल्हा', 'गैय्या माता' आदि रचनाएँ आप भूले नहीं होंगे। इनमें बैसवारी का बहुत ही अच्छा, स्वाभाविक और सरल रूप दृष्टिगत होता है। मिश्रजी की बैसवारी में तीव्र व्यंग्य और हास्य की छटा बड़ी मनोहर है। इस युग में शुकदेवमिश्र (डौंडिया खेरा), शिवसिंह सेंगर (कांथा), सुवंश शुक्ल (विहगपुर) जगन्नाथ अवस्थी (सुमेरुपुर), भवनकवि (बेंती), बादेराय (डलमऊ), भवानीप्रसाद पाठक, भावन (मौरावाँ) आदि अनेक कवि हुए। इनका विस्तृत विवरण 'अवधी और उसका साहित्य' में पृष्ठ ७० एवं ७१ पर दिया हुआ है। इन कवियों की रचनाएँ अधिकतर अब भी अप्रकाशित हैं।

द्विवेदी-युग—इस समय की हिन्दी की चेतना के केन्द्र-बिन्दु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। द्विवेदीजी स्वयं बैसवारी में काव्य-रचना करते थे। बैसवारी में लिखित उनकी रचना 'आल्हा' बड़ी ही हृदयग्राही है। यह बैसवारी की विशुद्ध रचना है। इनके अतिरिक्त ज्वालाप्रसाद, शिवरत्नमिश्र, महारानी, गंगाप्रसाद, हरतालिकाप्रसाद, अजदत्त, अम्बिकाप्रसाद, बैजनाथ, राममनोहर, ललितकरण, माधवप्रसाद, जयगोविन्द, गुरुप्रसाद, इन्द्रदत्त, गयाचरण, रघुवंश तथा प्रयागदत्त आदि ने भी बैसवारी में काव्य की रचना की।

वर्त्तमान काल—वर्त्तमान काल में अवधी और बैसवारी में काव्य लिखनेवालों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—पढ़ीसजी, वंशीधर शुक्ल, रमई काका तथा देहाती जी। इनमें से पढ़ीसजी तथा वंशीधर शुक्ल ने सीतापुरी अवधी में काव्य-रचना की। इन कवियों का ध्यान मुक्तक की ओर अधिक गया। इनकी रचनाओं में अवधी प्रदेश के अन्तर्गत प्रयुक्त और प्रचलित मुहावरों का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ हुआ। इनकी रचनाओं में विद्रोह और असन्तोष की भावना व्यक्त हुई है।[१] यद्यपि इनकी रचनाएँ सीतापुरी अवधी में लिखी गई हैं। पर उनमें बैसवारी के शब्दों की भी स्पष्ट छाप है।

वर्त्तमान काल में शुद्ध बैसवारी में काव्य रचना करनेवालों में पं० चन्द्रभूषण त्रिवेदी 'रमई काका' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रमई काका सन् १९४२ से लखनऊ के रेडियो स्टेशन में पंचायतघर का संचालन कर रहे हैं। इनकी कविता में शत-प्रतिशत बैसवारी के शब्दों का प्रयोग होता है। वे काव्य के क्षेत्र में किसानों की नई विद्रोही भावनाओं के चित्रकार हैं। हास्य-व्यंग्य की रचना के साथ-साथ मुहावरों का प्रयोग करने में रमई काका सिद्धहस्त हैं। बौछार, भिनसार, रतौंधी, नेताजी एवं फुहार उनकी प्रकाशित रचनाएँ हैं। उनकी एक नवीनतम रचना 'बोटन कै माँग से' यहाँ कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं।

कहौ हम कउनी कइती जाई?
सबकी डफली अलग अलग, और राग रहा अलगाई।
कहौ हम कउनी कइती जाई?

१. विशेष विवरण के लिए देखिए 'अवधी और उसका साहित्य' पृ० ८०—८९ तक।

लरिकउना संघी होइगा, बप्पा हिन्दु सभाई।
कम्युनिस्ट हैं भइया हमरे, कंगरेसिनि भउजाई॥
कहो हम कउनी कइती जाई?
बप्पाराम जो हार करत है, नमस्कार लरिकउना।
भउजाई जयहिन्द कहैं, तब घूसा तानै भाई॥
कहो हम कउनी कइती जाई?

रमई काका की वर्णन-शक्ति अद्भुत है। उनकी वर्णन-शक्ति काव्य में सजीवता उत्पन्न कर देती है। वे नवयुग के किसानों की विद्रोही आत्मा को पहचानने में बहुत सफल और समर्थ हैं। निःसंदेह रमई काका वर्तमान बैसवारी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

रमई काका के अनन्तर देहातीजी उल्लेखनीय हैं। आप बड़े मौलिक और प्रतिभावान् कवि हैं। इनके व्यंग्य बड़े प्रभावशाली और कलात्मक होते हैं। उदाहरणार्थ—

ई चारिउ नित ही पछितास।
इनके रहे न पैसा पास॥
अनपढ़ मनई बड़ पढ़ जोय।
सूरज उये पर उठै जो सोय॥
कामु पर तो देवै रोय।
कहै दिहाती कह रिरवास॥
इनके रहे न पैसा पास।
ई चारिउ नितही पछितास॥

देहातीजी के अतिरिक्त ब्रजनन्दनजी (निवासी लालगंज, रायबरेली), गुनगजी (मौरावाँ) निर्भीकजी, मोतीलाल द्विवेदी (मौरावाँ), सुमित्राकुमारी सिन्हा (उन्नाव), सुरेन्द्रकुमार दीक्षित (लखनऊ), रमाकान्त श्रीवास्तव (उन्नाव) आदि बैसवारी के प्रतिष्ठित कवि हैं। इनके अतिरिक्त 'चमरौधा' काव्य-संग्रह के लेखक कृपाशंकरमिश्र 'निर्द्वन्द्व', लोकगीत के रचयिता देवीरत्न अवस्थी 'करील', 'ठोकर' के प्रणेता वागीश शास्त्री, 'दूध बतासा' के कवि श्याम तिवारी तथा रामकुमारसिंह जैसे अन्य नवयुवक बड़े उत्साह के साथ बैसवारी को भावानुभूति का माध्यम बनाकर काव्य-रचना कर रहे हैं। इनकी रचनाओं में व्यंग्य का स्वर प्रमुख है। ये कवि नित्य ही विरवास करते हैं। सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं को इन्होंने बड़ी कुशलता के साथ व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है। अपनी रचनाओं द्वारा ये बैसवारा-प्रदेश में जन-जागरण उत्पन्न करने का प्रयास कर रहे हैं।

ब्रजभाषा और साहित्य

एक रूपरेखा

व्रज (ब्रज) शब्द के संस्कृत-साहित्य में—'व्रज्+गतौ' आदि कितने ही अर्थ क्यों न कहे और माने जाते हों, पर उसका एक अर्थ 'भौगोलिक' रूप में भी माना गया है, जो 'पूर्व' में जिला 'एटा', 'फर्रुखाबाद', 'जालौन' आदि, पश्चिम में जिला 'जयपुर', 'भरतपुर', 'अलवर' (राजस्थान), उत्तर में जिला 'गुड़गावाँ' दिल्ली और दक्षिण में 'आगरा', 'धौलपुर', 'भरतपुर', 'करौली' (राजस्थान) तथा चम्बल नदी को पार करता हुआ 'ग्वालियर' के भी कुछ भाग तक फैला हुआ है। पहले यह वाराहपुराण के अनुसार :

विंशतिर्योजनानां च माथुरं मम मण्डले।

कहा जाता था तथा बाद में ब्रजभाषा-साहित्य-सूर्य श्रीसूरदास के अनुसार —'ब्रज चौरासी कोस परे गोपन के डेरा' रूप में लंबा-चौड़ा माना जाने लगा। ब्रजोद्धारक 'श्रीनारायणभट्ट' (सं० १५६० वि०) ऊँचागाँव (बरसाना-ब्रज) ने भी इसकी परिधि (लंबाई-चौड़ाई) अपने 'ब्रज-महोदधि' ग्रंथ में इस प्रकार मानी है—

पूर्वं हास्यवनं नीय पश्चिमस्योपहारिकः।
दक्षिणे जह्नुसंज्ञाकं भुवनाख्यं तथोत्तरे॥

भट्टजी की यह मान्य परिधि इस प्रकार बनती है कि पूर्व में 'हास्यवन', जो अलीगढ़ जिला का 'बरहद' गाँव कहा जाता है, पश्चिम में 'उपहारवन', जो गुड़गावाँ जिले की छोटी-सी नदी 'सोन' के किनारे पर बसा हुआ है, उत्तर में 'भुवनवन', जो मथुरा जिले के 'शेरगढ़' परगने में 'भूषणवन' के नाम से विख्यात है तथा दक्षिण में 'जाह्नुवन', जो आगरा जिले का प्रसिद्ध 'बटेश्वर' गाँव हैं और जहाँ पहले कभी महाराज 'शूरसेन' की राजधानी थी, तक फैला हुआ है। मथुरा के कविवर श्रीहरलाल माथुर (चतुर्वेदी) ने भी 'भट्टजी' की ऊपर दी गई 'ब्रज-परिधि का अपने ब्रजभाषा-काव्य-ग्रंथ 'ब्रजयात्रा' में इस भाँति वर्णन किया है—

इत बरहद उत सोनहद, सूरसेन उत गाँम।
ब्रज चौरासी कोस में, मथुरा मंडल धाँम॥

—इत्यादि....।

श्रीहरलालजी का समय अनुमानतः विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का मध्यकाल है। अतएव इस समूचे प्रांत (परिधि) की भाषा—यह ब्रजभाषा बनी या कहलाई, जिसकी

स्तुति व्रज-कोकिल स्वर्गीय सत्यनारायण कविरत्न अपनी इस मधुर सूक्ति में कर गये हैं—

बरनन को करि सकै, अहोतिहि भाषा कोटी।
मचलि-मचलि माँगी जाँमे, हरि माँखन-रोटी॥

अतएव, भारतवर्ष के प्रत्येक भाग के घर-घर में समादृत व्रजभाषा, बोलचाल के विशाल-सुखद क्रोड़ से हँस-हँसकर उतरती हुई साहित्यिक रूप में कब और कैसे ढली,—डिंगल के ऊबड़-खाबड़ बटखरे से तुलकर 'पिंगल' कब कहलाई तथा अपनी बड़ी बहिन 'ग्राम्या' के साथ 'नागरी' रूप में बन-सँवरकर कब अपने पास-पड़ोस की 'अवधी' 'बुंदेली' 'राजस्थानी' और 'हरियाणी' आदि सखी-सहेलियों के साथ मिलकर खेली-कूदी, ये सभी बातें आज हिंदी के वर्तमान 'इतिहास-ग्रंथों से नहीं जानी जा सकतीं। व्रजभाषा का आविर्भाव-काल एक प्रकार से इन इतिहास-ग्रंथों में ईसा की चौदहवीं शती का आरंभ माना गया है, जो विचारणीय है; क्योंकि प्रमाण में वहाँ जो सामग्री प्रस्तुत की गई है अथवा इधर नई खोजों (रिसर्च) से प्राप्त हुई है, उसे देखते हुए यह निसंकोच कहा जा सकता है कि वह (व्रजभाषा) ऊपर कहे साहित्येतिहास-ग्रंथों के समय से कहीं अधिक पुरानी है। दो उदाहरण—

अंबरीस को दियौ अभै पद, राज बिभीषण अधिक करौ।
नव-निधि ठाकुर दई सुदामा, ध्रुवहू अटल जो अजहूँ टरौ॥
भक्त हेत हिरनाकुस मारौ, नरसिंघ-रूप जु देह धरौ।
'नामा' कहै भक्त-बस केसव, अजहूँ बल के द्वार खरौ॥

जाकौ मन, बिन्दा-बिपिन हर्यौ।
निरख निकुंज पुंज-छवि राधा,-कृष्ण नाम उर धर्यौ।
स्यामा स्याम सरूप सरोवर, परि स्वारथ बिसर्यौ।
'श्रीभट' राधा रसिकराई कों सरबस दै निबर्यौ॥

ये ऊपर दी गई दोनों रचनाएँ—'संत श्री नामदेव' तथा भक्त कवि 'श्रीभट्ट' जी की हैं, जो विक्रम-संवत् १३५२ पूर्व के माने जाते हैं। व्रजभाषा प्राण संगीत की आदि गायिकी—'ध्रुपद' के प्रथम विधायक कहे और माने जानेवाले 'गोपाल नायक' और राजा 'मानदर' या 'मानसिंह (ग्वालियर) का भी यही समय है। इनकी भी ध्रुपद-रचना-रूप भाषा-सौष्ठव की अमर कीर्ति से वही ऊपर कहा गया तथ्य ही सिद्ध होता है। उदाहरण-रूप 'गोपाल' नायक-रचित पद, यथा—

कहावे गुनीजन जो गावे नाँद, सबद आल कर ठंग गावे।
सारगी, देसी करि मूर्छना गुन उपजावे, सुर सातों पंचन मधि आदर पावे।
उग्र, तुक, मुक, मुक्त है पै, इनमें ध्यान लगावे।
तब 'गुपाल नायक' कहै, अष्टसिद्ध नवो निधि जगत-मधि पावे॥

श्री चन्द्रधर ने भी अपने ग्रंथ—'संस्कृत एण्ड प्राकृत पोएट्री' में पृ० ११८ पर रचना-समय न देते हुए एक उदाहरण 'शौरसेनी-प्राकृत' का उल्लिखित किया है—

कंदर्प-रूप जब तें तुम्ह कृष्ण लीन्ह, लोकोपताम हम ही यहु पीर छोड़ी।
तौ भेंटिके बिरह-पीर न साहु मेरी, यौं भाँति दूति पठई कहि बात गोपी॥

और इस सरस सूक्ति से भी यह बात प्रकट होती है कि व्रजभाषोत्पत्ति कहीं अधिक पुरानी है, उससे कहीं अति अधिक पहले अवतरित हुई है, एवं—

सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसौदास।

के समय आते-आते इतनी पुष्ट हो गई कि अपने 'व्रज-परिधि' रूप निश्चित दायरे में न समाकर भारतवर्ष के कोने-कोने में येन केन रूपेण रमती हुई 'गो० तुलसीदास' जी की निम्नलिखित वदनीय उक्ति—

स्वांत सुखाय तुलसी, रघुनाथ-गाथा।

को ठेलकर और 'ब्रजनाथ-गाथा' बनकर वह अपार साहित्य उत्पन्न किया जिसका आदि है, *पर अंत नहीं। सारांश यह कि व्रजभाषा 'भक्ति-काल' (सं० १३००-१६०० ई०)* से कहीं पहले उत्पन्न और पूर्ण होकर रीति-काल (सं० १६०० से सं० १६०० ई०) के प्रारम्भ और पारपूर्ण तक इतनी भरी-पूरी बन गई कि उसकी समसरि भारतीय भाषाओं में देव-भाषा संस्कृत के अतिरिक्त और अन्य भाषाएँ नहीं कर सकीं। सच बात तो यह है कि व्रजभाषोत्पत्ति के लिए ईसा की सोलहवीं शती का समय स्वर्णकाल था, जिसमें उसके विविध अंग—"साहित्य, कोश, व्याकरणादि के साथ-साथ विशद रूप में संस्कृत-ग्रन्थों—पुराणादि के अनुवाद, ललितकला-ग्रंथ, तथा अन्य मौलिक विषयों के रूप में बलिष्ठ किये गये। सख्यातीत भक्त कवियों ने, जिनमें—"श्रीभट्ट, श्रीनिवासाचार्य, हरिव्यास, परसुराम देव, सूरदास, कृष्णदास, हितहरिवंश, स्वामी हरिदास, कुंभनदास, गोविन्दस्वामी, रूपरसिक, वृन्दावन; परमानंददास, नंददास, ब्रह्म, विट्ठलविपुल, बिहारिन देव, वृन्दावनदास—चाचा, नागरीदास, सरसदेव छीतस्वामी, पीताम्बरदेव, ललिताकिशोरी, चतुर्भुजदास, श्रीहरिराय, पुरुषोत्तम प्रभु, भगवतरसिक, रसखान, सीतलदास, आसकरण, सहचरिशरण, आनंदघन, जगन्नाथ-कविराय, पद्मनाभदास, भगवान हितरामराय, लच्छीराम, श्यामदास, हरिनारायण, सुघरराय, सूरदास मदनमोहन प्रभृति अनेक महानुभाव कवि प्रमुख हैं, व्रज की साहित्यिक वीथी को पलकों से झाड़ा-बुहारा, और अपने 'असुँवन-जल सींच-सींच' कर व्रज-साहित्य की वह 'अमर बेलि बोई' कि जिसकी सदा-सर्वदा एक-सी रहनेवाली शीतल छाया में आज का परितप्त प्राणी भी जब-तब लोट पलोटकर अपने नित्य दुःखदायी गार्हस्थ्य-जीवन के ताप को भूलकर सुख-शांति को प्राप्त करता रहता है। यही नहीं, इन संख्यातीत भक्त कवियों ने स्व-स्वसिद्धांतानुसार पुराणोक्त दशधा भक्ति-रूप रमणीय रस में अपने-अपने को घुला-मिलाकर काव्य-कमनीय पट पर कोमल शब्दों की तूलिका से अपने-अपने आराध्य देवों के वह चारु चित्र खींचे कि बाद में काव्यगत रस के, अलंकार के, ध्वनि के तथा रीति के लोक-रंजक भूषण बन गये। उदाहरणार्थ दो चित्र—

चलि क्यों न देखै, खरे दोऊ कुंजन की परछांही।
एक भुजा गहि डार कँदम की दूजी भुजा गरबाँही॥

छवि सों छबीली लपटि लटकि रही तरु तमाल ज्यों कँनक बेलि लपटाँही।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा-कुंजबिहारी, रँगे प्रेम-रँग माँहीं॥
गोकुल की पनिहारी, पनियाँ-भरन चली, बड़े-बड़े नैंनन में सुभि रह्यौ कजरा।
पैहरें कसूंभी सारी, अंग अंग छवि भारी, गोरी-गोरी बहियँन में मोतिन के गजरा॥
संग सखी लिएँ जात, हँसि-हँसि बूझत बात, ननँ हूँ की सुधि बिसरी सीस धरें गगरा।
'नँददास' बलिहारी, बीचि मिले गिरधारी, नैंनन की सैंनन में . भूलि गईं डगरा॥

तत्मय, इस प्रकार के शब्द-चित्रों में भावों की और भी गहरी चमक लाने के लिए, उनमें रंग (शब्द)-परिवर्त्तन भी हुआ करते थे तथा वे इतने सुन्दर हुआ करते थे कि जिन्हें देखकर आज भी हृदय उनकी एक-एक अदा पर अपना सब कुछ न्योछावर करने को प्रस्तुत हो जाता है। एक उदाहरण—"एक दिन महाप्रभु 'श्रीवल्लभाचार्य' (ज० सं० १५३५ वि०) व्रज के गोवर्धन पर्वत पर बने अपने आराध्यदेव 'श्रीनाथजी' के मन्दिर में संध्या समय भोग धरा रहे थे कि उसी समय कहीं के राजा सकुटुंब दर्शनों के लिए आये, तो उनकी कुल-मर्यादा के अनुसार अंतःपुरवासिनियों के लिए दर्शनार्थ परदा का प्रबन्ध किया गया। व्रज के ठाकुर के सम्मुख भी परदा........! वह श्रीनाथजी को पसंद न आया। फलतः, इच्छाशक्ति ने तुरन्त मंदिर के मुख्य द्वार को खोल दिया, जिससे बाहर खड़ी दर्शनार्थियों की भारी भीड़ मंदिर के भीतर भर आई और इस प्रकार उनके लिए परदा करने तथा रखने का सारा आयोजन निष्फल हो गया। उस समय वहाँ 'परमानंददास' (अष्टछाप, सं० १५५० वि०) खड़े-खड़े कीर्त्तन कर रहे थे, उन्हें आप (श्रीनाथजी) द्वारा की गई प्रबन्ध मदाखलत-बेजा पसंद न आई। अतः जो कीर्त्तन (पद) गा रहे थे, उससे सर्वथा भिन्न एक नये पद की रचना करते हुए निम्न-लिखित कीर्त्तन गाने लगे—

कौन ये, खेलिबे की बाँन।
मदनगुपाल लाल काहू की, राखत नाहिँनँ काँन॥

परमानंददासजी का यह उलाहने से अलंकृत कीर्त्तन सेवा में संलग्न श्रीवल्लभाचार्यजी को अच्छा न लगा; क्योंकि वह सांप्रदायिक भावना के अनुसार दिव्य न था, इसलिए आप (श्रीवल्लभाचार्य) उन्हें (परमानंददास को) टोकते हुए आज्ञापूर्वक बोले—"परमानंद, ये कीर्त्तन ठीक नाहीं, याहि या प्रकार गाओ—

भली, ये खेलिबे की बाँन।

अस्तु; श्रीवल्लभाचार्यजी द्वारा 'कौन' के स्थान पर यह 'भली' रूप का परिवर्त्तन—इत्यादि, जहाँ आचार्यश्री के व्रजभाषा-ज्ञान और उनके शुद्ध शब्द-प्रयोगों के करने-कराने का अच्छा खासा परिचय देता है, वहाँ यह यह भी बतलाता है कि काव्यान्तर्गत भावों को अधिकाधिक सबल बनाने तथा उसके अनुरूप शब्दों के चयन में भी आप (श्रीवल्लभाचार्य) के समय कितनी सावधानी बरती जाती थी। वास्तव में 'कौन' शब्द से [illegible] [illegible] लिये एक प्रकार के शासन की भावना व्यक्त होती है तथा 'भली'

शब्द में व्यंग-विभूषित अपनत्व की विमल विभूति बिखरी मिलती है और काव्य की अमर आत्मा देखते ही बनती है। साम्प्रदायिक भावना की दृष्टि से भी 'कौन' पाठ सशक्त नहीं है, वह भाव-हीन है, जैसा कि श्रीहरिराय (सं० १७६५ वि०) ने श्रीगोकुलनाथ (सं० १६४० वि०) कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' टीका 'भाव-प्रकाश' में लिखा है कि "परमानंद 'दास' हैं, उन्हें प्रभु के प्रति 'कौन' जैसो कठोर शब्द, जो संप्रदाय-विरुद्ध है, कहना उचित नहीं.... (क्योंकि) दास-भावो सों रहिबे तथा बोलबे पै ही श्री प्रभु करेंहैं और जब यै भाव परम दृढ़ है जाय, तब कहूँ बराबरी के नाते सों बात करिबे की हिमाकत होइ है इत्यादि....।" संपूर्ण-पद इस प्रकार है—

भली, यै खेलिबे की घाँन।
मदनगुपाल लाल काहू की, राखत नाहिनैं कॉन ॥
अपने हाथ देत बनचरनन, दूध, भात, घ्यौ साँन।
जौ बरजौ तौ आँख दिखावत, पर-घर कूद निदाँन ॥
सुनरी जसुमती करतब सुत के, ऐ ले माँट-मथाँन।
फोरि, ढोरि, दधि डार अजिर में, कौंन सहै नित हाँन ॥
ठाढ़ी हँसत नंद जू की राँनी, मूँद कमल-मुख पाँन।
'परमानंद' दास जानत है, बोलि बूझ घों आँन ॥

ब्रजभाषा के इस भक्ति-भाव-भरित अपार मधुर साहित्य के साथ उसका एक द्वितीय अभिन्न रूप भी अपनी पूर्णता के लिए नित्य नये ढंगों से सजता-सँवरता निरंतर आगे बढ़ रहा था, जिसे 'ब्रजभाषा-संगीत' साहित्य की संज्ञा दी जाती है। यह *ब्रजभाषा के साथ कब घुलमिल कर उसे हृदय-स्थान बना बैठा, वह भी अज्ञात है,* फिर भी उसका एक भरा-पूरा भव्य भंडार है और उसमें भी नाना प्रकार के—ध्रुपद, ख्याल, टप्पा, दादरा, ठुमरी और ललित लावनी आदि रमणीय रत्न भरे पड़े हैं। यह संस्कृत-जन्य है, साहित्य शास्त्र के आद्याचार्य 'श्रीभरतमुनि' (ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी) के महामान्य ग्रंथ नाट्य-शास्त्र से प्रस्फुटित होकर 'नारद' तथा 'दंतिल' की गोद में खेलकर 'मतंग' (ईसा की सातवीं शताब्दी) एवं 'सोमेश्वर (ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी) की उँगलियाँ पकड़कर तथा पीयूषवर्षी जयदेव (ईसा की तेरहवीं शताब्दी) के आश्रय में युवावस्था प्राप्त कर 'ब्रजभाषा' के बृहत् प्रांगण में कब अठखेलियाँ करने लगा, उसका इतिहास भी आज अति धूमिल है।

ब्रजभाषा के संगीत रूप में आविर्भाव का एक अपूर्व कारण इस प्रकार कहा-सुना जाता है। वह यह कि जब संगीत 'रसो वै सः यं लब्ध्वानंदीभवति' (तैत्तिरीयोपनिषद्—११,७,१) रूप शब्द-ब्रह्म 'ओंकार' प्रणव के एकनिष्ठ देह से ऊबकर बाहुल्य के विचार से उद्भूत हुआ, तो माहेश्वर-जन्य 'अइउण्, ॠलृक्, ए ओं आदि सूत्रों में उतर-कर व्याकरण के 'उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः' और 'समाहारः स्वरितः' की लोल लोरियों से जागता हुआ अपने नये परिधान 'नाद-ब्रह्म' में परिष्कृत होकर उस

'गुरु गावें न नाचत न' का त्रिगुणात्मक संगीत में समा गया, जिसके प्रति 'बैजू' बावरा (ईसा की तेरहवीं शताब्दी) ने कहा है—

संगीतसुगैन के भेद गुनीजन की संगत करे तब कछु पावे।
गीतन सुनत रहे सदा ही, दरैन, मूरैन, मुद्रा प्रमान तब आवे॥
आप ही गावे, आप ही बजावे, तान, गीत के भाँरे समझावे।
'बैजू' के प्रभु रस-रंग करे, तब ही रसिकैन रीझि रिझावे॥

अस्तु; ब्रजभाषा में संगीत का यह संक्षिप्त स्वरूप (उद्भव और विकास) उसके रूप-निर्णय में 'चार चाँद' लगाकर उसे सुंदरता भले ही प्रदान कर दे, पर संगीत का ब्रजभाषा के साथ कब गठबंधन हुआ और किसने 'भीतरदेव' समान रागानुसार गान परंपरा को ब्रजभाषा की भाव-भरी भूमि पर उतारा, यह सब अबतक उसके इतिहास के स्वर्ण-पृष्ठों पर ज्ञात नहीं होता। लोग कहते हैं—"वज्रगीतियों और चर्यापदों-द्वारा संगीत के भाषा में अवतीर्ण होने की चर्चा है; क्योंकि संस्कृत-शास्त्रविदों ने गेयपद-साहित्य को प्रबंध-काव्य के तुल्य ही माना है। अस्तु; संभवतः इसी आधार पर 'नाथमुनि' (समय अज्ञात) ने अपनी विविध कृतियों में संगीत का आकलन 'नालादिर प्रबंध' नाम से किया था और पीयूषवर्षी जयदेवजी ने उसी स्रोत के सहारे अपने 'गीतगोविन्द' नामक ग्रंथ को राग-रंजित किया था, किन्तु यह सब अनुमान ही अनुमान है, तथ्य की तलाश अभी बहुत-कुछ बाकी है।

कोई-कोई संगीतेतिहास-रचयिता संस्कृतज्ञ संगीत को ब्रजभाषा की भूमि पर उतारने का श्रेय 'मियाँ खुशरो' को देते हैं। खुशरो का समय ईसा की तेरहवीं शताब्दी का उत्तर-काल कहा जाता है। लोग यह भी कहते हैं कि खुशरो ने ही संगीत को और भी मधुर-से-मधुर बनाने को उसे नई 'इरानी' खिलअत अता की—उसे दी तथा परि-वहन के प्राचीन भारतीय वाद्य-यंत्रों—वीणा और मृदंग, जिसे पखावज भी कहते हैं, के रूपों को विकृत कर 'सितार' तथा 'तबला' का रूप प्रदान किया। यही नहीं, मियाँ खुशरो की काव्य-रचना में ब्रजभाषा को भूमि पर उतरने के आदि तत्त्व उनके शब्द-स्वरूपों में उलझे हुए, मिलते हैं। जैसे—

"अरी, आवौ बधावौ गावौ, सोहिलरा, खुसरो लोग बुलावौ।" इत्यादि। किंतु संगीत-इतिहासकार संगीत को ब्रजभाषा में घुलाने-मिलाने का श्रेय खुशरो को नहीं देते, अपितु पूर्व-सूचित महाराज मानसिंह (ग्वालियर) को देते हैं, जो हिन्दी ध्रुवद-गायिकी के उत्पादक रूप से प्रसिद्ध हैं।

कोई संगीतेतिहास-प्रेमी ब्रजभाषा-में संगीत-प्रतिष्ठा का सर्वप्रथम श्रेय 'दक्षिण-देवगिरि' के 'यादवराज' के दरबारी गायक 'गोपालनायक' (सन् १२९४ ई०) को देते हैं और उसे बढ़ावा देनेवालों में—बैजू बावला, नायक पाँड़े, बख्शू खाँ, श्रीस्वामी हरिदास (वृन्दावन), गोविंदस्वामी (अष्टछाप) तथा तानसेन नाम लेते हैं, किन्तु नव इतिहासकार इस मान्यता में परिवर्त्तन करता हुआ कहता है कि 'ब्रजभाषा' में 'ध्रुपद-

धमार' रचना का स.रा श्रेय स्वामी श्रीहरिदास, तथा 'गोविंदस्वामी'' को मिलना चाहिए; क्योंकि इन्हीं के शिष्य-प्रशिष्यों ने, जिनमें तानसेन और बैजू बावला विश्व-विख्यात हैं, ब्रजभाषा-संगीत गायिकी को सँवारा-सुधारा है। उस समय पूर्व के 'नायक पाडव', दक्षिण के 'नायक कर्ण', और गुजरात के 'लोहंग' का भी ब्रजभाषा-संगीतज्ञों में विशेष स्थान माना जाने लगा था। इसी समय एक विशेष ब्रजभाषा-संगीतज्ञ 'विष्णुदास' का भी उल्लेख मिलता है तथा अकबरी-दरबार के संगीत-रत्न बाबा 'रामदास' का भी।

ब्रजभाषा-संगीत के प्रसार में मुगल सम्राट् 'अकबर' का भी विशेष हाथ रहा। उसके दरबार में छत्तीस 'ध्रुपदिया-गायक' थे, जिनमें—''बाबा-रामदास, तानसेन, चिंतामणिमिश्र, रामदास बाबा के पुत्र सूरदास (अष्टछापवाले सूरदासजी से भिन्न) *सुभान खाँ, मंडल खाँ, तानतरंग खाँ, लाल खाँ आदि-आदि प्रमुख थे। 'राग सागर' नाम* के संगीत प्रधान ग्रंथ की रचना भी इसी समय हुई और ध्रुपद-धमार गायिकी का प्रचार तो इतना अधिक बढ़ा कि पूर्व से पश्चिम, तथा उत्तर से दक्षिण तक भारत के चारों कोनों में व्याप्त हो गया, पर भरतमुनि-मान्य काव्य में रस-निष्पत्ति के मूल कारण—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्' थे, वे ध्रुपद-गायिकी में स्थिर नहीं रह सके, कारण ये सभी संगीत-उद्गाता शास्त्रज्ञ थे, उसके प्रत्येक पहलू के जानकार थे। वे रचना-कार पहले और कवि तथा भक्त पीछे थे। अस्तु; जिन भक्त कवियों ने निरंतर तुलसी-कथित तथा निर्मित 'स्वातसुखाय' के स्वर्णपात्र में भगवल्लीला-रूप रस नहीं, 'अमृत' भरा था और जिसे हिंदीसाहित्येतिहासकारों ने भक्ति-शाखा नाम से उद्घोषित किया था, वह रस यहाँ अपने रम्य रूप में स्थिर न रह सका, बक़ौल 'नासिख़' के -

इश्क़ को दिल में जगह दे 'नासिख़'।
इल्म से शायरी नहीं आती॥

यही नहीं, मुगल-सम्राट् अकबर के समय ध्रुपद-गायिकी चार रूप—''डागौर, पागौर, ढुड़हार और खँड़हार'' नाम के बन गये थे तथा वे '*बाणियों' के नाम से प्रसिद्ध हुए।* इनका नाम-परिवर्तन भी मिलता है, अर्थात् 'पागौर' और ढुड़हार बाणियों के स्थान पर 'गोवरहार' या 'गुवरारी' तथा 'नौहार' इत्यादि कहे जाते हैं, जैसा कि निम्न-लिखित श्रीतानसेन के एक संदिग्ध पद से जाना जाता है—

बाँनी चारोन के ब्यौहार सुनिलीजै हो गुनीजन, तब पावै ये बिचासार।
राजा-'गुवरहार', फौजदार-'खँड़हार, दीवान-'डॉगौर', बकसी-'नौहार'॥
अचल सुरपंचम, चल सुर रिषभ, मध्यम, धैवत, निषाद, गांधार।
सप्तक तीन, इक्कईस मूर्छना, बाईस स्रुति, उनचास कोट तान 'तानसेन' आधार॥

संगीत-ब्रजभाषा का यह इतिहास उसके बाल्यकाल और यौवनावस्था का है, जो *कि आगे बढ़कर—धमार, ख्याल, टप्पा, दादरा, ठुमरी, तराना, चतुरंग, सरगम* और लावनी के ललित परिधान पहनने पर इतना चमका कि जिसका वर्णन—

गिरा अनैन, नैन बिन बाँनी।

के कारण नहीं बन पाता। अतएव, ब्रजभाषा-संगीत को ध्रुपद-धमार का प्रसाद श्रीस्वामी हरिदास और गोविन्दस्वामी से प्राप्त होने पर 'ख्याल' की ख्याली रिलअत उसे 'मुहम्मद शाह' रँगीले के समय अदारंग-सदारंग (सन् १७२० ई०) द्वारा मिली, टप्पा-रूप टोपी मियाँ 'शोरी' ने बख्शी तथा दादरा और ठुमरी की ठनगन लखनऊ के प्रसिद्ध आशिक मिजाज़ नवाब वाजिदअली शाह के चुलबुले दरबार से प्राप्त हुई। संगीत-प्रिय मुसलमानों में उपर्युक्त नामावली ही यथेष्ट नहीं, और भी अनेक ऐसे संगीतज्ञ मुसलमान हुए हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा-विभूषित संगीत के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया था। कितने खेद की बात है कि आज उनकी नामावली धीरे-धीरे इतिहास के पृष्ठों से लुप्त होती जा रही है। नामावली—

"उस्ताद अंबिया, अजगर, अचपल, अजब खाँ, अजबरंग, अजीज़ुद्दीन, अजीज, अनलहक, अमीरखां, अलाउद्दीन, अली अकबर हुसैन, अलीखाँ पठान, अलीगुलाम शाह, अली मुरतज़ा, अली रतन, अशरफ़, आनंद रंग, आरिफ, आलमगीर, आशिक, आसफ़, आसान शेख, इच्छबरन, इन्सा इनायतअली, इमामखाँ, इमाम बख्श, इश्क मुहम्मद, इश्करंग, उदोतसेन, उश्शाक़, ऐगाजुद्दीन, औसानखाँ, कलंदर शाह, काज़िम कादिर, कायम खाँ, कायम शाह, कीरत शाह, केसररंग, खानआलम, ख्याल खुशाल, ख्वाजा मौजुद्दीन, खुशरंग, गफूर, गुलशन, चाँद शाह, छज्जूखाँ, मगन-चमनू, जलाल मुहम्मद, जलील, जहूरखाँ, जानखाँ, जानजाना, जाफ़रखाँ, जीवनखाँ, जैनुद्दीन, ताज, तान तरंग, तुराब, दरियाखाँ, दिलरंग, दूल्हेखाँ, नजफ़शाह, नवल-अजब, निजामुद्दीन, नासिरअली, नासिरखाँ, निजामुद्दीन, निवाजखाँ, न्यामतखाँ, पीरमुरताज अली, प्यारेखाँ फरीदखाँ, बहरामखाँ, बासदखाँ, बेदिलशाह, मदनशाह, मदनायक, मनरंग, मर्दान अली, महताबखाँ, मुहम्मदखाँ, मीर माधो, मुराद अली, मूरतशाह अली, मुगुल अली, रंगरस, रहमतुल्लाखाँ, रहीमखाँ, रागरसखाँ, लतीफशाह, लालहुसैन, शाहजमन, शाहनिवाज़, शाह हुसेन, शेखशाहज़ादा शौकरंग, सब्बन-मब्बन, शाह मीरानजी, सुजान अली, सुलतान सुलेमाखाँ, हसन साहिब, हिदायतखाँ, हुसेनखाँ इत्यादि........।"
इन सब की रचनाएँ कलकत्ता से प्रकाशित 'रागकल्पद्रुम' भाग तीन में संकलित हैं।

ब्रजभाषा-संबद्ध संगीत निर्गुण-संप्रदायी संतों से भी आदर प्राप्त करता रहा है—उनमें भी अठखेलियाँ भरता रहा है। इन संगीत-उद्गाताओं के कुछ नाम इस प्रकार हैं, जैसे—"संत सधना (समय अज्ञात), संत लालदे (सन् ११८० ई०), संत बेणी (समय अज्ञात), संत नामदेव (१३वीं शती), कबीर, सेनानाई, पीपाजी बाई, रैदास, धर्मदास, मलूकदास, दादू, दरिया साहिब, बखना, रज्जब, गरीबदास, नानक, गुरु अमरदास, अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव, हरगोविन्द, हरराय, तेगबहादुर, गोविंदसिंह, जगजीवन, शेख फरीद, निराशे, भीखम, लालदास, सुंदरदास, प्राणदास, बाबीदास, निरंजनदास, बाबरी साहिब, बुल्लू साहिब, यारी साहिब, सूरी साहिब, बुलाकी राम, गुलाल साहिब, दुखन्त साहिब, भीखा साहिब इत्यादि ....।"

संगीत विषयक ग्रंथ भी ब्रजभाषा में लिखे गये, जैसे—"रागकुतूहल, रागमाला, रागकल्पद्रुम, रागमाला (द्वितीय) हरीचंद कृत, रागमाला (तृतीय) तानसेन-कृत, रागमाला (चतुर्थ) यशोदानंदशुक्ल-कृत, रागमाला (पाँचवीं) दुर्जनसिंह-कृत, रागमाला (छठवीं) व्यास-कृत, रागमाला (सातवीं) देव-कृत, रागमाला (आठवीं) रामसखे-कृत, रागमंजरी भूधरमिश्र-कृत, राग-चेतावनी अज्ञातनामा-कृत, राग-निरूपण पूरणमिश्र-कृत, राग-विचार लच्छीराम-कृत; राग-रत्नाकर राधाकृष्णदास-कृत, रागरत्नावली गोपालसिंह-कृत, रागविवेक पुरुषोत्तमदास-कृत, रागसागर महाराज मानसिंह-कृत, संगीत-मालिका महम्मदशाह-कृत, संगीत-सार तथा संगीत-दर्पण हरिवल्लभ-कृत, संगीतसार (द्वितीय) तानसेन-कृत, संगीतसार (तृतीय) गोपालदास-कृत, संगीत विद्या-रत्नाकर नंदकिशोर कृत, संगीत-संग्रह रंजोरसिंह (अजयगढ़-नरेश)-कृत, संगीतदर्पण बिहारीभट्ट कृत, गीतमालिका हनुमतदास-कृत, राधागोविंद-संगीत-सार सवाई राजा प्रतापसिंह (जयपुर)-कृत—इत्यादि अनेक ग्रंथ रत्न हैं, जिनकी सार-सँभाल आज तक नहीं हुई है।

रीति-साहित्य

ब्रजभाषा-रीति साहित्य का आधार, संस्कृत के उन साहित्य-शास्त्र-ग्रंथों पर स्थित है, जो श्रीभरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' से प्रारम्भ होकर—'रस, अलंकार, ध्वनि, गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि को 'काव्यात्मा' के रूप में स्थिर करते हुए पंडितराज जगन्नाथ के समय (सत्रहवीं शती) तक नानारूपों में अवतरित हो चुका था। रीति का शब्दार्थ–पंथ, पद्धति, प्रणाली, मार्ग, शैली माना गया है। कोई इसका अर्थ विशिष्ट कार्य-पद्धति वा विशिष्ट पद-रचना भी मानते हैं। संस्कृत-साहित्य में यह 'विशिष्टता'—माधुर्य, ओज और प्रसादादि गुणों पर आधृत मानी गई है एवं पद-रचना का संबंध 'समास' से कहा गया है। श्रीभरतमुनि, भामह और दंडी ने इसे देशज; कुंतक ने मार्ग तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ने रस का उपकार करनेवाली बतलाया है। साथ-ही आपने इसे शैली के रूप में ग्रहण करते हुए वर्ण-संघटन, गुण और समास का आधार भी माना है। हिन्दी-साहित्य में रीत्यर्थ का उक्त अर्थों में प्रयोग नहीं हुआ है। यहाँ इसका प्रयोग—लक्षण-युक्त काव्य-विशेष रूप में किया गया है। अतएव रीति साहित्य-संज्ञा से इंगित किया जानेवाला वह साहित्य, जो लक्षणों के आधार पर अथवा उसे ध्यान में रखकर रचा गया हो इत्यादि ...। अस्तु; ब्रजभाषा-कवियों ने रीति के इसी रूप को अल्प-विशेष रूप में अपनाया और उसे सुंदरता के साथ बढ़ावा दिया। इन्होंने संस्कृत-जन्य साहित्य-शास्त्र-संबंधी—विचारों, सिद्धांतों तथा नियमों को तो अपनाया, पर उसकी बाल की भी खाल निकालनेवाली अतिरंजित व्याख्या को नहीं। अर्थात्, संस्कृत-साहित्य-शास्त्र-ग्रंथों से साहित्य-सर्जन की पुनीत परिपाटी तो ली—उसे उलटा-पलटा भी, किन्तु उसे स्व-स्व ग्रंथों में तद्वत् उतारने अथवा अपनी अच्छी-बुरी मान्यताओं से पोषित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। यह क्यों ...! उसका रहस्य अज्ञात है, फिर भी इसके प्रति यदि कुछ कहा जा सकता है, तो यही कि ब्रजभाषा-

शास्त्र-ग्रंथ रचयिताओं के समय जनता में संस्कृत-साहित्य-शास्त्र निष्ठ जटिल साहित्य-सिद्धांतों की ऊहापोह के प्रति रुचि न थी, अल्पान्त में सब कुछ समझने-बूझने के प्रति आस्था अधिक थी। अथवा उस समय का जन समाज संस्कृत-साहित्य-शास्त्रों में रुचि रखनेवाला कम, भाषा-साहित्यविद् अधिक था। वह रुचिकर गागर में सागर भरा देखना चाहता था, जैसा आचार्य केशव ने कहा है—

भाषा बोलि न जानहीं, तिन्ह हित केसौदास।

अथवा 'सुन्दर' कवि ने जैसा लिखा है—

सुर-बाँनी यातैं फरी, नर-बाँनी में ल्याइ।
जाते मग रस-रीति को, सबने समझ्यौ जाइ॥

इसलिए, प्रारम्भ से ही उसमें प्रथम अलंकार-ग्रंथ, उसके बाद 'रस-ग्रंथ', अर्थात् नायिका-भेद ग्रंथ, तदनंतर छंदनियामक 'पिंगल-ग्रंथ' और इसके बाद शास्त्र-ग्रंथ अल्पा-त्यल्प लक्षणों तथा विस्तृत उदाहरणों-सहित प्रस्तुत किये गये। रस, अलंकार, ध्वनि गुण, रीति आदि के साथ समष्टि-रूप में थोड़े तथा व्यष्टि-रूप में 'रस-अलंकार' को लेकर अधिकाधिक ग्रंथ रचे गये और वे इतने रचे गये कि आज उनकी इति जानने का कोई साधन नहीं है।

रीति-रचना का प्रारंभिक समय

रीति-काल के प्रारंभिक समय निर्देश के प्रति हिंदी-साहित्येतिहासकारों में काफी मतभेद है। कोई उसे ईसा की चौदहवीं, कोई पन्द्रहवीं और कोई सोलहवीं शती मानता है। इसी प्रकार उसका आद्य-ग्रंथ-प्रणेता कोई सूरदास (१५३५ वि०), कोई नंददास (१५६५ वि०), कोई कृपाराम (१५९८ वि०), कोई गोपकवि (१६११ वि०), कोई मोहनलालमिश्र (१६१६ वि०), कोई करणेश (१६३७ वि०), और कोई केशवदास (१६५८ वि०) को मानता है। इसे 'मुण्डे-मुण्डे-मतिर्भिन्ना' कहना ही उचित है। इसके अतिरिक्त एक मत और भी है, जो 'शिवसिंह-सरोज' ग्रंथ के आधार पर माना गया है। वह है 'पुष्य' कवि (१७७० वि०), जिसका इतिवृत्त तथा ग्रंथ नहीं मिलता। पुष्य कवि का समय कोई-कोई ७१३ ई० भी मानते हैं, तथ्य जो कुछ हो। फिर भी आपका उल्लिखित मिल जावा, तो व्रजभाषा के साहित्यिक उत्थान का काल, जो कि हिंदी-इतिहास-ग्रंथों में उलझा पड़ा है, बहुत-कुछ सुलझ जाता। फिर चाहे वह अलंकार-ग्रंथ से प्रारंभ हो, वा रस (नायिका-भेद)-ग्रंथ से।

आद्य रस-ग्रंथ

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि रीति-काल के प्रारंभिक समय के प्रति इतिहासकारों में मतभेद है, उसी तरह उसे 'आदि रस-ग्रंथ', अर्थात् नायिका भेद रूप रचना के संबध में भी मतभेद है। अस्तु; कोई इसका श्रेय साहित्य-सूर्य श्रीसूरदासजी को उनकी विशिष्ट रचना 'साहित्य-लहरी' के कारण देते हैं, तो कोई नंददासजी को

उनकी रचना 'रसमंजरी' को लक्ष्य कर। कोई कृपाराम को उनकी 'हिततरंगिणी' के कारण यह प्राथमिकता की पदवी देते हैं, तो कोई आचार्य केशव को उनकी 'रसिकप्रिया' के कारण।

श्रीसूर-कृत 'साहित्य-लहरी' की हस्तलिखित प्रति सारे भारतवर्ष के पुस्तकालयों को उलटने-पलटने के बाद भी देखने में नहीं आई। मुद्रित रूप में चार-पाँच प्रतियाँ—बालकृष्णदास, सरदारकवि, भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र और महादेवप्रसाद एम्० ए० की टीकाओं के साथ मिलती हैं। इनमें किसी ने भी इसे 'साहित्य-लहरी' संज्ञा नहीं दी है, अर्थात् किसी ने इसे 'सूरदासजी के सौकूट' किसी ने 'सूरदास जी कूट' और किसी ने 'सूरदासजी का दृष्टिकूट' और किसी ने 'सूरदास जी के दृष्टि-कूट सटीक' लिखा है। अतएव सूरदास कृत दृष्टि-कूट पद टीकाकारों की कृपा से 'रस-ग्रंथ', अर्थात् नायिका-भेद का ग्रंथ अथवा अलंकार-ग्रंथ-रूप में साहित्य-लहरी संज्ञा पा गया। वास्तव में सूरदासजी की इस साहित्य लहरी कही जानेवाली कृति में सूरदासजी के वे ही दृष्टिकूट-पद हैं, जो उनके सागर में यत्र-तत्र बिखरे हुए साहित्य के गहरे रंगों से आरक्त हैं और उन्हीं को किसी कुशल कारीगर ने अपनी सूझ-बूझ के साथ एक स्थान पर संकलित कर दिया है। उसका उपक्रम भी कोई नहीं है, अर्थात् न तो वह नायिका-भेद के क्रम से है और न अलंकार-क्रम से। वह कूट पदों का संकलन-मात्र है।

श्रीनंददास-कृत 'रसमंजरी' वास्तविक रूप से हिंदी के 'रस-ग्रंथों' की आद्य जननी कही जा सकती है। यह सूरदासजी की साहित्य-लहरी कही जानेवाली और रस-ग्रंथ मानी जानेवाली कठिन कल्पना के विपरीत भी है। नंददासजी-कृत 'रसमंजरी' *अल्पप्राण, अर्थात्* छोटी है, *पर सुंदर है* और *नायिका भेद-वर्णन भी उसमें* क्रमानुसार है। यदि हिंदी-साहित्येतिहास-ग्रंथों में कवियों के समय की पाबंदी, जैसे नंददास (समय—१५६४ वि०), कृपाराम (समय—१५९८ वि०) और केशवदास (समय—१६४८ *वि०*) इत्यादि *माननीय हैं, तो ब्रजभाषा में सर्वप्रथम 'रस-ग्रंथ'-रचना का* श्रेय नंददासजी को मिलना चाहिए।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, नंददासजी की 'रसमंजरी' एक छोटी-सी सरस और अपने में पूर्ण रचना है, जो 'भानुदत्त'-कृत संस्कृत 'रसमंजरी' के आधार पर लिखी गई है। उसमें प्रथम—स्वकीया, परकीया तथा सामान्या नायिकाओं का वर्णन करते हुए उनके अवस्था-वय-अनुसार भेद, जैसे—'मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, मुग्धा का दूसरा भेद *'विश्रब्ध नवोढ़ा'* का कथन कर बाद में *'गमिष्यलतिका' के मुग्धा,* मध्या प्रौढ़ा तथा परकीयादि रूपों का विदग्धता-भरा वर्णन किया गया है। नायक-भेद भी, जैसे—धृष्ट, शठ, दक्षिण और अनुकूल कई संक्षिप्त-रूप से—हाव, भाव, हेला, *रति आदि का वर्णन कर ग्रंथ-समाप्ति की गई है। यथा—*

जग में जुवति तीन परकार, करता करी निज रस-विस्तार।
प्रथम सुकीया, पुनि परकीया, इक सामान्या बखानी तिया।
ते पुनि तीन-तीन परकार, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़-विहार।
मुग्धाहू पुनि द्वै विधि गनी, उत्तर-उत्तर ज्यों रससनी।
प्रथमहिं मुग्ध नवोढ़ा होई, पुनि विस्रब्ध नवोढ़ा सोई।-इत्यादि....

और अज्ञातयौवना नायिका का लक्षण-उदाहरण, जैसे—

सखि जब सर-स्नान ले जाहीं, फूले अमलैंन-कँमलैंन माँहीं।
पोंछे डारति रोंम की धारा, माननि बाल सिवाल की डारा।
चंचल नेंन चलत जब कोंने, सरद-कँमल-दल-हू ते लोंने।
तिन्हें सवँन-बिच पकर्‌यो चहैं, अंबुज-दल से लागे कहैं।
इहि प्रकार बरसै छबि-सुधा, सो अग्यात-जोबना मुगधा।

कृपारामजी की 'हिततरंगिणी' पाँच तरंगों में विभक्त है और चार सौ दोहा-छंदों में रची गई एक विशद कृति है। यह ग्रंथ नायिका-भेद की विवरणात्मक रूप में सुंदर कृति है तथा भरत मुनि के नाट्यशास्त्रानुसार है।

रसिकप्रिया

कवि केशव की 'रसिकप्रिया' रस-संबंधी उच्चतम कृति है और यह सोलह प्रकाशों में लिखी गई है। नायिका-भेद के समझने-बूझनेवाले काव्य-रसिकों में यह अपना प्रथम स्थान रखती है। रसिक-प्रिया में जहाँ केशव की कठिन काव्य-कला की ओर प्रवृत्ति मिलती है, वहाँ लक्षणों के गूढ़ रहस्यों में घुसने की अनुरक्ति भी दीखती है। उन पर भरत के नाट्य-शास्त्र और भानुदत्त की रसमंजरी दोनों का ही प्रभाव है। यों तो केशव से पूर्व—'मोहनलालमिश्र' (१५५६ ई०) और 'करनेश' (सं० १६११ वि०) इन दो कवियों के नाम अपने-अपने ग्रंथ 'शृंगार-सागर' और 'कर्णाभरण' के कारण और लिये जाते हैं। शृंगार-सागर अभी प्रकाश में नहीं आया है, नाम-भर सुना जाता है तथा कर्णाभरण अलंकार-ग्रंथ है। अतः इन दोनों ही ग्रंथ-रत्नों का रस-प्रकरण में विचार नहीं किया जा सकता। इसलिए रीति-शास्त्र ग्रंथों की समुचित परंपरा डालनेवालों में आचार्य केशव का नाम ही नमन-योग्य है, जिन्होंने उसकी दृढ़ भित्ति का निर्माण किया। आपके बाद रस-ग्रंथ-रूप 'नायिका-भेद' की रचना उत्तरोत्तर इतने विशद रूप में हुई कि जिसका आदि है, अंत नहीं। यदि हम ब्रजभाषा में लिखित नायिका-भेद-ग्रंथ-संख्या को ही लें तो उसके निर्माताओं में गिनती से परे नाम आते हैं, जिनमें कुछ नाम इस प्रकार हैं; जैसे—"ईशकवि, उदयनाथ (कवींद्र), कमलेशकवि, कान्हकवि, कुन्दनकवि, खड्गकवि, खेमराज, गिरिधरकवि, गुमानमिश्र, नंदनकवि, नरेशकवि, वेणीप्रवीण, मनसाराम, रामकृष्ण, लाल गिरिधर, पुरुषोत्तम भट्ट, रसरूप, शंभुकवि, रामकवि, श्रीधर, सेवककवि आदि-आदि...।"

नख-शिख-काव्य

नायिका-भेद ग्रंथ-रचना विशद के साथ-साथ उसका उपादेय अंग नायिका का 'नखसिख'-वर्णन भी माना गया है। यह नायिका के रूप-सौंदर्य का—उसके अंगागों का कल्पनाशील वर्णन है, जिसे ब्रज-भाषा के भावुक कवियों ने अद्भुत आकर्षक रूप में रचा है। इस शाखा के रचयिता अनंत कवि हैं, जिनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं—जैसे—"अंगद राय, अंबुज कवि, अब्दुल रहमान, आजम, उम्मेद सिंह, कलानिधि, कान्ह कवि, कामताप्रसाद, कालिकाप्रसाद, कालीदत्त, कुलपति मिश्र, कुशल सिंह, केशवदास, कृपाराम, कृष्ण कवि, गोविंद कवि, ग्वाल कवि, चंदन राय, चंदरसकंद, छितिपाल, जगतसिंह, जवाहर राय, तारापति, दिनेश कवि, देव कवि, देवकीनंदन, नवनी चतुर्वेदी, नवी, नवीन, नूर, नृपशंभु, पजनेस, परमवंदीजन, परमानंद, परशुराम, प्रताप कवि, प्रेमसखी, बलभद्र, बलवीर, भद्र कवि, भीष्म कवि, मनीराय, महहव, महताव कवि, मानकवि, मुरलीधर, रसलीन, रसराज, रूपजी, वासुदेव, शिवलाल, शेख अहमद, संत कवि, सरदार कवि, सुरत मिश्र, सेवक कवि, हनुमान कवि, हरीराम—आदि-आदि........।"

अलंकार-ग्रंथ

ब्रज-भाषा में अलंकार-ग्रंथ रचना भी अधिक पुरानी है। यदि उसका आद्यग्रंथ-प्रणेता 'पुष्प' कवि (समय—अज्ञात) को मान लिया जाय, तो वह रस-ग्रंथ-प्रणयन से अधिक प्राचीन ठहरती है, किन्तु उसकी परंपरा आचार्य केशव के समय तक ठीक-ठीक नहीं बनती, इसलिए अलंकार-ग्रंथ-रचना का आदि-रचनाकार केशव को ही, उनकी 'कवि-प्रिया' के कारण, मानते हैं। कवि-प्रिया-रचना का समय ईसवी सन् १६०१ के लगभग है। बाद को यह परंपरा स्खलित नहीं हुई, बराबर चलती रही—पुष्ट होती रही।

अलंकार साहित्य संस्कृत की भाँति ही ब्रजभाषा-काव्य में अर्थ-सौंदर्य के संपादन में सहायक होने के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है; क्योंकि अलंकारों द्वारा काव्य-अर्थ में—"प्रेषणीयता, प्रभविष्णुता और संपादन का द्योतन भलीभाँति होता है। परन्तु इनका औचित्य वहीं तक अधिक है, जबकि ये साधन-रूप में हों—काव्य लिये हों, न कि ये काव्य के साध्य बन जायँ, अथवा काव्य अलंकारों के लिए लिखा जाय। ब्रजभाषा-साहित्य में इनकी सृष्टि पूर्व-अर्थ में ही अधिक हुई है और जहाँ ये परकार्य के लिए अपनाये गये हैं, वहाँ ये फूहड़ बन गये हैं—शब्द-जाल-मात्र दिखलाई दिये हैं।"

श्रीकेशव के बाद ब्रजभाषा-अलंकार-ग्रंथ-प्रणयन की परंपरा 'गोप कवि' (सं० १६१५ वि०) से प्रारंभ होती है। उन्होंने दो अलंकार-ग्रंथ 'अलंकार-चंद्रिका' और 'रामभूषण' बनाये। अलंकार-चंद्रिका निश्छल अलंकार-ग्रंथ है, जिसमें प्रथम

धार 'चंद्रालोक' और उसकी 'कुवलयानंद' (सं० १६२० वि०) कृत टीका 'कुवलयानंद' (संस्कृत) का दृढ़ आधार अपनाया गया। कारण, संस्कृत के ये दोनों काव्यालंकरण-ग्रंथ संक्षिप्त विधि से, अर्थात् एक ही अल्पाकार (छोटे) छंद में लक्षण और उदाहरण अलंकृत करने में बेजोड़ माने गये हैं। अतः इनसे अपनाई गई अलंकार-ग्रंथ-प्रणयन-परंपरा उत्तरोत्तर अधिक सफल हुई और 'अनंतरोपमहिता-रूप—महाराज यशवंत सिंह जी ने सं० १६६२ वि० में 'भाषाभूषण', मतिराम ने सं० १७०७ वि० में 'ललित-ललाम', पद्माकर ने सं० १८७२ वि० में 'पद्माभरण'-जैसे अलंकार-सिद्ध ग्रंथ बनाये। इनके अतिरिक्त भी अनेक व्रजभाषा-कवियों ने संख्यातीत अलंकार-ग्रंथ बनाये, जिनमें—"कविवर चिंतामणि-कृत 'कविकुलकल्पतरु'(सन् १६५० ई०), श्रीभूषण-कृत 'शिवराज-भूषण' (सन् १६७३ ई०), कुलपति मिश्र-कृत 'रस-रहस्य' (सन् १६७० ई०), देव कवि-कृत 'भाव-विलास' तथा 'काव्यरसायन' (सन् १६८६ ई०), श्रीधर-कृत 'भाषाभूषण' (सन् १७१० ई०), रसिक सुमति-कृत 'अर्थंकारचंद्रोदय' (सन् १७२८ ई०), रघुनाथ कवि-कृत 'रसिक-मोहन' (सन् १७३६ ई०), गोविन्द कवि-कृत 'कर्णाभरण' (सन् १७५० ई०), दूलह कवि-कृत 'कविकुल कंठाभरण' (सन् १७४३ ई०), ऋषिनाथ-कृत 'अलंकारमणिमंजरी' (सन् १७७४ ई०), रामसिंहजी-कृत 'अलंकार-दर्पण' (सन् १७७८ ई०), सेवादास-कृत 'रघुनाथ-अलंकार, (सन् १७८३ ई०), गिरिधरदास (भारतेंदु जी के पिता) कृत 'भारती-भूषण' (सन् १८३३ ई०), लेखराजकृत 'गंगाभरण' (सन् १८७८ ई०), लच्छीराम-कृत 'रामचन्द्र-भूषण' (सन् १८६० ई०), गुलाब सिंह कृत 'वनिता' (सन् १८६२ ई०) तथा गंगाधर-कृत 'महेश्वर-भूषण' (सन् १८६५ ई०) अधिक महत्त्व के ग्रंथ माने गये।"

पिंगल-ग्रंथ

व्रजभाषा की पिंगल (छंदशास्त्र) प्रभा भी अत्यधिक चमकीली रही है। उसमें अनेक कवियों ने विविध भाँति के सुन्दर-से-सुन्दर ग्रंथों की रचना की है। रस-अलंकार-ग्रंथ-रचना की भाँति इसकी परंपरा भी व्रजभाषा-साहित्य में पुरानी स्वीकृत की गई है, किन्तु वह उतनी समय-सापेक्ष नहीं, जितनी रस-अलंकार-ग्रंथों की है। यह काव्य-रचना की प्रथम जानकारी होते हुए भी उस (छंदशास्त्र) की इतनी उपेक्षा क्यों..! समझ में नहीं आता।

संस्कृत-साहित्य में छंदशास्त्र का अर्थ—"अक्षरों को एक खास क्रम से मात्रा और यति-गति से नियोजित रचना विशेष को बतानेवाला—छन्दों की उत्पत्ति, उसका आचार्य, परम्परा, भेद-प्रभेदों के साथ जाति, लक्षण-उदाहरण, विस्तार, संख्या एवं वर्गीकरण करनेवाला कहा गया है तथा उसके आदि आचार्य 'पिंगल' माने गये हैं, जो शेष भगवान् के अवतार हैं। वहाँ छन्द-शास्त्र की उत्पत्ति वेदकाल के समकक्ष कही गई है। हिन्दी में वह प्राकृत-मार्ग से आई है। वहाँ उसके अनेक ग्रंथ हैं, और उनमें प्रमुख हैं—"चिन्तामणि त्रिपाठी का 'छन्द-विचार', सुखदेव मिश्र का 'वृत्त-विचार', माखन कवि का 'छन्द-विलास'

नारायणदास का 'छन्दसार', भिखारीदास का 'छन्दोर्णव', दशरथ कवि का 'वृत्त-विचार', रामसहाय कवि-कृत 'वृत्त-तरंगिणी', कलानिधि-कृत 'वृत्तचन्द्रिका', नन्दकिर-कृत 'पिंगल-प्रकाश', गदाधर भट्ट कृत 'छन्दोमंजरी'—इत्यादि''''। श्रीमतिराम और पद्माकर-कृत—'छन्दसार पिंगल' और 'छन्दसार मंजरी' पिंगल ग्रंथ कहे जाते हैं, पर वे देखने में नहीं आये।

शास्त्र-ग्रंथ

व्रजभाषा में काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी, अर्थात् रस, अलंकार, ध्वनि, गुण, रीति आदि से अलंकृत सर्वाङ्गपूर्ण ग्रंथों की भी कमी नहीं है। ऐसे ग्रन्थ यहाँ प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इस प्रकार की सर्वप्रथम रचना का श्रेय आचार्य केशव को है। कवि-प्रिया में आपने अलंकार-वर्णन को विशेषता देते हुए भी अन्य काव्यांगों, गुण-दोषों और चित्र-काव्य का वर्णन किया है। वास्तव में आपकी 'कवि-प्रिया' संस्कृत-साहित्य-शास्त्र-ग्रंथों के आधार पर लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें लक्षण जन्य विस्तृत उदाहरण प्रस्तुत करने की अद्भुत प्रवीणता पाई जाती है। वह इतना गूढ़ बन गया है कि—

"कवि को देन न चहै बिदाई, पूँछै केसव की कविताई।"

रूप एक प्रसिद्ध लोकोक्ति का जनक कहलाता है, किन्तु वह व्रजभाषा में सबसे पहले संस्कृत की विशद विवरणात्मक काव्य-शास्त्र-परपराओं को सचेष्ट रूप में विद्वत्ता के साथ परे रखने हुए आगे होनेवाले रीति-ग्रंथ-रचना के इच्छुकों के लिए सुन्दर मार्ग करनेवाला माना गया है। आपके बाद इस प्रकार के ग्रंथ-रचयिताओं में प्रमुख—चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, देव कवि, सुरत मिश्र, कुमारमणि भट्ट, श्रीपति, गंजन कवि, सोमनाथ, भिखारी दास इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। यह परपरा आगे भी अति उत्साह के साथ बढ़ी, जिसमें अपने से पूर्व-आचार्यों और ग्रंथ-प्रणेताओं के रचना-वैशिष्ट्य से कहीं अधिक पूर्णता, विशदता, विदग्धता, सरसता और सुन्दरता सन्निहित की गई।

जैसा कि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है, व्रजभाषा में—'रस, अलंकार, काव्य-शास्त्र (ध्वनि, रीति, गुण, दोष), पिंगल (छन्दशास्त्र) और नायिका-भेद-ग्रंथों का न्यूनाधिक रूप (छोटे-बड़े आकार) में अत्यन्त बाहुल्य है। ज्ञान-रूप में भी इनकी संख्या इतनी विस्तृत है कि इन्हें सार-सँभालकर कागज के कलेजे पर उतारना और वह भी सही-सही बड़ा ही दुस्तर कार्य है। अज्ञात ग्रंथों की बात छोड़िए, न मालूम कितने गुनन-गल्ले व्रजभाषा-साहित्य के ग्रन्थ-रत्न घरों के अंधकारपूर्ण कोशागारों में बे-बूझे पड़े हैं, जिनकी सार-सँभाल अबतक नहीं हो पाई है। यह उस समय जाना जाता है, जब वे समय के चलते-फिरते क्रियाशील करों में इधर-उधर से आ जाते हैं। उस समय उनकी सुन्दरता, विशदता, विषय-वर्णन की क्षमता और पूर्णता देखते हुए आँखें थकती नहीं, बारम्बार ललचाई हुई दृष्टि से देखते ही रहना चाहती हैं। कभी-कभी तो शब्द रूप सरस साँचे में ढलकर और मुहावरों के मधुर सान पर चढ़कर वे अपनी भाषा की ठेठ-टसक में मचलते हुए कुछ इस प्रकार की अदा से इठलाते हुए आते हैं कि कैसा भी रस-हीन हृदय हो, वह अपना

न रहकर उनका हो जाता है। उदाहरणार्थ दो-एक ग्रन्थ, जैसे—कवि जनराज-कृत सं० १८३३ वि० में लिखा 'कविता-रस-विनोद' और आगरे की एक अज्ञातनामा सरस कवयित्री 'फूलन दे' कृत (समय-अज्ञात) 'काव्य-कल्पतरु'। ये दोनों ही ग्रंथकाव्य-शास्त्र-सागर के अनुपम-ग्रंथ हैं। अनुवाद रूप में भी एक अनुपम ग्रंथ—'भागवत-भाषा' बड़ा सुन्दर मिला है। यह किशनगढ़ (राजस्थान) के महाराज राजसिंह जी की रानी 'बाँकवत जी' उपनाम 'व्रजदासी'-कृत है। अनुवाद इतना सुन्दर है कि कहीं-कहीं तो मूल से भी भव्य बन गया है।

साहित्य के मुक्तक ग्रन्थ

व्रजभाषा में रीति-काव्य के मुक्तक ग्रंथों की भी एक शृंखला है। यद्यपि ये साहित्यांग—रस, अलंकारादि को लक्ष्य कर नहीं लिखे गये हैं, फिर भी ये उसके सुन्दर अंग हैं। इनमें भी रस-अलंकारादि का उतना निवास है, जितना अन्य लक्षण-ग्रंथों के उदाहरणों में। कहीं-कहीं तो ये इतने विशिष्ट रूप में कहे या रचे गये हैं कि असली से भी असली चमकते हैं। कुछ उदाहरण; जैसे—

मानी न मानवती, भयो भोर, सु सोचतें सोइ गयौ मनभावन।
तिहिं तें सासु कही दुलही, भई बार कुमार कों जाइ जगावन॥
मान कौ रोप जगइबे की लाज, लगी पग-नूपुर पाटी बजावन।
सो छबि हेरि हिराइ रहे हरि, कौन कों रूसिबो काकौ मनावन॥

❖ ❖

जा थल कीन्हे बिहार अनेकन, सु ता थल काँकरी बैठी चुन्यों करैं।
जा रसनों सों करी बहु बात, सो ता रसनों सों चरित्र गुन्यों करैं॥
'आलम' जौंन-से कुंजन में करी केलि, तहाँ अब सीस धुन्यों करैं।
नैंन में जे सदाँ बसते, तिन्ह की अब कौंन कहाँनी सुन्यों करैं॥

❖ ❖

प्रेम-समुद्र पर्यौ गहिरे, अभिमान के फैंन रह्यौ गहिरे मन।
कोप तरंगँन में बहिरे, अकुलाइ पुकारत क्यों बहिरे मन॥
देव जू लाज-जहाज तें कूद, भज्यौ मुख-मून्द अजौं रहि रे मन।
जोरत-तोरत प्रीति तुही, अब तेरी अँनीति तू ही सहि रे मन॥
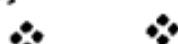
❖ ❖

पर-कारज देह कों धारें फिरौ, परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ, सब ही बिधि सज्जनता सरसौ॥
'घँन आँनद' जीवन दाइक हौ, कबु मेरीयु पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजाँन के आँगन, मो अँसुवाँन कों लै बरसौ॥

❖ ❖

सीस कहै परि-पाँइ रहौ, भुज यों कहैं अंग तें जानि न दीजै।
जीह कहै बनियाँई कियो करि, सौंन कहैं उनहीं की सुनी जै॥
नैंन कहैं छबि-सिंध-सुधा-रस, कौं निसि-बासर पान करीजै।
पाँएँ-हू पीतम चित्त न चैन, यौं भावती एक कहा कहा कीजै॥

❖ ❖

तेरी गलीन में जा दिन तें, निकसे मन-मोंहन गोधन गावत।
ए ब्रज लोग सो कौंन सी बात, चलाइ कें जो नहिं नैंन चलावत॥
वे 'रसखाँन' जो रीझि हैं नैंक, तौ रीझि कें क्यों बनवारि रिझावत।
बावरी जौ पै कलंक लग्यौ, तौ निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावत॥

❖ ❖

एक-ही सौ चित चाहिऐ ओर-लौं, बीच दगा कौ परै नहिं टाँकौ।
मानिक सौ मन बेचिकें जू, अब फेरिकें-री परखावनौं ताकौ॥
'ठाकुर' काँम नहीं सब कौ, इक लाखँन में परवीन है जाकौ।
प्रीति कहा करिबे में लगे, करियें इक ओर निबाहिबौ बाँकौ॥

❖ ❖

अति खीन मृनाल के तार-हु तें, जिहिं ऊपर पाँव दै आवनौं है।
सूई बेंध तें द्वार सकी न तहाँ, परतीति कौ ठाँढ़ो लदावनौं है॥
'कवि बोधा' अँनी घँनी नेज-हु तें, चढ़ि तापै न चित्त डरावनौं है।
यै प्रेम को पंथ कराल महा, तरबारे की धार पै धावनौं है॥

—इत्यादि ....।

संस्कृत-साहित्यवेत्ताओं ने 'मुक्तक' का अर्थ किया है—'अपने-आप में पूर्ण' अथवा अन्य निरपेक्ष वस्तु।' अस्तु, इन दोनों ही अर्थों में ब्रजभाषा का मुक्तक-काव्य अति रुचिकर और स्निग्ध है। इस प्रकार के काव्य-स्रष्टाओं में—आलमशेख, रसखाँन, ठाकुर, बोधा, मंदन, मुबारक, किशोर, कवि मंचित, महाकवि, महाराज कवि, मुरलीधर, सागर मरिन, चैन कवि, निवाज, भजन इत्यादि प्रमुख हैं। इन सभी कवियों ने 'ब्रजभाषा-काव्य-कल्पतरु, को अपने-अपने अतुल आँसुओं से सींचा, हृदयस्थ भक्ति और प्रेम के जाने-अनजाने भव्य भावों की गरमी देकर उसे अङ्कुरित किया। एवं सरस शब्दों का सहारा देकर पल्लवित किया—शक्तिशाली किया, जैसा कि साहित्य-संगीत-कलावतार गोस्वामी श्री 'विट्ठलनाथ' जी (१५६१ वि०) ने अपने भाव-भरे शब्दों में अनूदित किया है :—

मावैरङ्कुरितं मङ्गोमृगदृशामाकल्पमासिं चितं
प्रेम्णा कन्दलितं मनोरथमयैः शाखाशतैः सम्भृतम्।
सोल्पैः....पल्लवितं मुदा कुसुमितं प्रत्याशया पुष्पितं
लीलाभिः फलितं भजे ब्रजवनी शृङ्गारकल्पद्रुमम्॥

फिर भी इन्हें हिंदी-साहित्येतिहास-ग्रन्थों में भक्ति और रीतिकाल के फुटकल कवि कहा है। यदि वास्तविक रूप से इन्हें निरखा-परखा जाय तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि इन महान् कवियों ने भक्ति और रीति के काव्य को हृदय से पल्लवित, पुष्पित तथा सुरभित करने में किसी भी रीत्याचार्यों से कम सहयोग नहीं दिया, अपितु अधिकाधिक ही दिया है।

गद्य-साहित्य

व्रजभाषा की साहित्यिक समृद्धि का श्रेय उसके प्रमुख पद्य-साहित्य को ही नहीं, गद्य-साहित्य को भी है; क्योंकि वही भाषा-समृद्धि का पुराना वाहक है। वास्तव में गद्य के बिना पद्य का अस्तित्व में आना असम्भव ही है। उसके सुष्ठु दर्शन तो गद्य के बहुत कुछ मींड़-मसले जाने पर ही, अर्थात् गद्य के निरन्तर अभ्यंग होने के बाद ही, सम्भव होते हैं। अस्तु, उसका प्रारम्भ व्रजभाषा में संस्कृत-ग्रंथों के अनुवादों से हुआ और व्रज से सम्बन्धित प्रायः सभी सम्प्रदाय-उत्थापकों ने, जिनमें निम्बार्क, माध्व और वल्लभ-सम्प्रदाय प्रधान हैं, उसे विविध—मौलिक और अनुवाद-रूपों में स्व-स्व सैद्धांतिक ग्रंथों का सर्जन कर उत्तरोत्तर विकसित किया और अच्छे रूप में आगे बढ़ाया, जिससे व्रजभारती का वामांग-रूप (गद्य-भाग) भी उसके दक्षिणी पद्यांग की भाँति पुष्ट होकर चमकने लगा। वेद, उपनिषद् और पुराणों के अनुवादों ने तो उसे नयनाभिराम बनाया ही, हितोपदेश, सिंहासन-बत्तीसी, बेताल-पचीसी-जैसी जन-मन-रंजन कथा-वार्ताओं ने भी उसके सौंदर्य में वृद्धि की। इसकी भी विविध विषयालंबित एक विस्तृत ग्रंथ-सूची है, जिसकी खोज-खबर फिर कभी.........।

नाटक

व्रजभाषा में नाटकों का भी अभाव नहीं है। उसमें सर्वप्रथम सं० १६६० वि० में किन्हीं 'बनारसीदास' ने 'समय-सार' नाटक लिखा। इसके बाद सं० १६८० वि० में हृदयराम 'मनजू' (समय अज्ञात) तथा 'राम' कवि (सं० १७०३ वि०) ने अपने-अपने ढङ्ग से संस्कृत 'हनुमन्नाटक' के अनुवाद लिखे। महाराज यशवंतसिंह, जोधपुर ने सं० १६६५ वि० में, व्रजवासीदास (द्वितीय) ने सं० १८२७ वि० में तथा आनन्द कवि ने (समय अज्ञात) 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाम के भिन्न-भिन्न नाटक लिखे। निवाज कवि ने सं० १७३७ वि० में संस्कृत के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का अनुवाद किया। गणेश कवि ने सं० १७५७ वि० में 'प्रद्युम्न नाटक', महाराज विश्वनाथसिंह ने सं० १७७८ वि० में 'आनन्द-रघुनन्दन-नाटक', इच्छाराम कवि ने सं० १७८० वि० में 'गङ्गा नाटक', देव कवि ने सं० १७३० वि० में 'देवमाया-प्रपञ्च' नाटक लिखे। कुछ अज्ञात समय के भी नाटक-रचयिता हैं, जिनमें राम नागर (सभा-सार), कीर्त्तिकेशव (सखी-समाज), बनारसीदास प्रथम प्रमुख हैं। भारतेन्दु जी के पिता गिरिधरदास जी ने भी सं० १८६० वि० 'नहुष-नाटक' लिखा था।

कोश और व्याकरण

व्रजभाषा-साहित्य में कोश-ग्रन्थ भी मिलते हैं और विशेष रूप से मिलते हैं। उनमें कुछ तो संस्कृत-कोश 'अमरकोश' के अनुवाद हैं और कुछ स्वतन्त्ररूप से लिखे गये हैं,

जिनमें प्रमुख हैं—नन्ददास (अष्टछाप) के 'अनेकार्थ' और 'नाममञ्जरी', पीताम्बर (फतेपुर-मारवाड़, सं० १६८५ वि०) की 'भारतीनाम-माला', शिरोमणिमिश्र (सं० १७०० वि०) का 'उर्वशी-कोश', अञ्चलगच्छीय कल्याण सागर सूरि (सं० १७०२ वि०) की 'नाममाला', कवि महासिंह (सं० १७६० वि०) की 'अनेकार्थ-नाममाला', कवि रत्नजित (सं० १७७० वि०) का 'भाषाशब्द-सिन्धु', हरजू मिश्र (सं० १७६२ वि०) का 'अमरकोश' (अनुवाद), भिखारीदास (सं० १७६५ वि०) का 'नाम-प्रकाश' (अमरकोश-अनुवाद), खण्डन कवि (सं० १८१५ वि०) का 'नाम-प्रकाश' इत्यादि अग्रगण्य हैं।

ब्रजभाषा व्याकरण-रचना की परिधि बहुत अल्प—कुछ कहने योग्य नहीं है। फिर भी उसका सर्वप्रथम व्याकरण एक मुस्लिम विद्वान् मीरजा खाँ ने सन् १६७५ ई० के पूर्व फारसी भाषा में 'तुहफ़त-उल-हिंद' नाम का दिल्ली में 'आजमशाह' बादशाह के आश्रय में लिखा था। बाद में किन्हीं जियाउद्दीन ने उसका अँगरेजी-अनुवाद किया और वह स्वनामधन्य शांतिनिकेतन की ग्रन्थमाला में छपा है। भारतेन्दु जी के पिता श्रीगिरिधरदासजी ने भी एक पद्यबद्ध अल्पकाय ब्रजभाषाव्याकरण लिखा, जो तोल में तो नहीं, पर मोल में भारी अवश्य है।

ब्रजभाषा का लोक-साहित्य

ब्रजभाषा का लोक-साहित्य भी अपार है। यह भी उतना ही पुराना है, जितना उसका भक्ति-रूप गेय और रीति-साहित्य। साथ ही यह गद्य-पद्यात्मक भी है। गद्य में कहानियाँ, कहावतें (लोकोक्तियाँ), ढकोसले, बोलना, औठपाव, भेरि, खुँस; और पद्य में गीत, ढोला पमारे, साके, हीर राँझा, होला, रसिया, भजन, जैसे—जिकड़ी, समाई धुनिक, जहारपीरी, नरसिया इत्यादि अनेक प्रकार हैं। ख्याल और भगत (नौटंकी) साहित्य भी उसका श्रेष्ठ अङ्ग है तथा 'सुतरेसाँई', जिसे आजकल 'डंडेशाही' कहते हैं, यह भी उसका एक भरा-पूरा अङ्गविशेष है। यह सम्पूर्ण साहित्य भी अभी बहुत कुछ अँधेरे में दबा पड़ा है और जो अल्पातिअल्प रूप से प्रकाश में आया है, उसका ठीक-ठिकाने से मूल्य नहीं आँका गया है। अतएव, उक्त साहित्य की यत्किंचित् प्रभामयी झाँकी 'ब्रज-साहित्य-मण्डल' (मथुरा) से प्रकाशित 'पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में देखी जा सकती है, किन्तु वहाँ भी ब्रज-जन-मन-रञ्जक 'ख्याल' और 'भगत'-साहित्य का विवरण छूट गया है।

ख्याल-साहित्य

ब्रज में ख्याल-साहित्य ने कर पैठ की और कब वह ब्रजभाषा के पलने में झूलकर खड़ी बोली के राजपथ पर दौड़ने लगा इत्यादि उसकी कठिनता से जान सकनेवाली एक अलग कहानी है। ब्रज में इसके आदिजनक का तो अभी पता नहीं चला, पर विकासकों में उस्ताद 'झण्डासिंह' (सं० १७०० वि०) का आदि, हरदेवगिर

(सं०१७४० वि०), मनियाँ भट्ट, बहादुर सिंह, रसालगिरि (सं० १८०० वि०) उस्ताद हरगुन गिरजी सिंह (सं० १६०० वि०) इत्यादि अनेक ख्यातियान् ख्यालिये देखे-सुने गये हैं, जिनकी प्रतिभा उनकी रचनाओं में बड़े अन्दाज के साथ अंकुरित होकर पनपी है। यद्यपि ख्याल-साहित्य मिश्रित (हिंदी-उर्दू) साहित्य है, अर्थात् छंद-रूप शरीर (पिंगल) विजातीय है—मुस्लिम वर्ग का है, पर आत्मा ख़ालिस हिंदू, वंदिश ख़ालिस हिंदू और रस-अलंकार-रूप सजावट भी ख़ालिस हिंदू। उदाहरण—

तकूँ हूं मारग मैं मन बियोगिनि, खबर हमारे न कंत की है।
तड़प रहे हैं ए प्राण उन-बिन, अनीति तापर बसन्त की है॥
तजी है पीतम नें प्रीति मेरी, सखी ये लीला लिलंत की है।
लगन बुझाऊं मैं मन की कैसें, लगी जो अगिनी इकंत की है॥
तपन बढ़ावे मदन सिसासी, बिचली गहि गति जपंत की है।
तची है तन में मदन की गरमी, जहाँ न हिंमत हिमंत की है॥
करी है मो पै प्रबल चढ़ाई, इते तो इति पति अरसंत की है।
तरल तनी उत बसंत की है, रितु में होरी खिलंत की है॥
तमाल फूले अनेक तिन पै, अनीति मधुकर अनंत की है।
तरू-पलासन पै जोग छायो, मदन-गद्दी महंत की है॥

इस ब्रजभाषी आत्मा के उर्दू-लिबास हैं—लावनी, लावनी शिकस्त, लावनी बहर तवील, लावनी रंगत छोटी, लावनी रंगत लँगड़ी इत्यादि..............। फिर्के समूह भी इसके अलग-अलग हैं और वे प्रथम कलँगी-तुर्रा के बाद—सेहरावाले, छतरवाले, मुकुटवाले, डण्डेवाले, दन्तवाले, तोदेवाले नामों से विभूषित हैं।

ब्रज की साहित्यिक गति-विधि में इस ख्याल-साहित्य ने कम-समझवाली साधारण जनता की रसानुभूति को बहुत-कुछ जगाया और उसे ऊँचा उठाकर सांस्कृतिक रूप दिया है। मानव की छोटी-से छोटी अनुभूतियों को भी इसने सादगी के साथ सार-सँभालकर इतिहास के साथ धीरे-धीरे कुछ इस भाँति उभारा कि वे तन-मन-धन से उसपर आसक्त हो गईं।

भगत (नौटंकी) साहित्य

ब्रज का भगत (नौटंकी)-साहित्य भी अपना विशेष स्थान रखता है। यह भारतीय नाट्य-परंपरा का ही एक विशेष अंग है। यह अकिंचन नहीं, बड़े ही राजसी ठाट-बाटवाला है। ब्रज में उसकी एक-एक अदाओं (खेलों) पर हजारों-लाखों रुपया पानी की भाँति बहाये जाते रहे हैं। महीनों उसे समझाने, बुझाने और सिखलाने में लग जाते हैं। अतएव, इस भगत-साहित्य के ब्रज में पनपने की एक मधुर कहानी है, जो उसके उद्भव और विकास की एक सुन्दर रूप-रेखा प्रस्तुत करती है। कहते हैं—'कामवन (काम्यकवन) मथुरा-भरतपुर का कोई 'देविया' महापात्र इसे मूक अभिनय-रूप नृत्य-विशेष से ऊबकर किन्हीं महानुभाव ने, जो आज अज्ञात हैं, इसके पात्रों (स्वांगों) के मुखों में छोटी-छोटी काव्यमयी साखियाँ परस्पर संवाद के रूप में विभूषित कीं। इसके बाद भरतपुर (ब्रज) के

के एक नमक-दारोगा ने, जिनका नाम बाबू श्यामाचरण था, इसे संगीत से मुखरित किया। यह समय भरतपुर की अँगरेजों से प्रसिद्ध लड़ाई के पूर्व का है। बाद में मथुरा को केन्द्र बनाकर यह उसके चारों ओर काफी फैला। मथुरा और हाथरस (अलीगढ़) इसके सुदृढ किले बने, जहाँ यह प्रत्येक वर्ष अथवा कुछ आगे-पीछे अपनी विशेष साज-सज्जा के साथ संपन्न होकर अवतरित होता रहता है। अभी-अभी मथुरा के एक प्रसिद्ध अखाड़े (उस्ताद बिरजीसिंह) का 'महारास' नाम का खेल (भगत) बड़ी श्रद्धा से खेला गया है।

भगत का अपने नामानुसार भक्ति से—न विषय में और न विधान में, कोई सम्बन्ध नहीं है। अब्दुल फ़ज़ल ने 'आइने अकबरी' में उस समय के गायकों का वर्गीकरण करते हुए भगतियों (भगत करनेवालों) का कुछ जिक्र किया है। उसने कहा है—"ये चिकने-चुपड़े मुखवाले सुन्दर लड़कों को स्त्री-पुरुष का वेश बनाकर गवाया और नचाया करते हैं।" अस्तु, यह इस (भगत) का मूलाधार हो सकता है, पर भगत ने 'संगीत' बनने का सिरोपाव कब पाया, यह अनुसन्धान का विषय अभी अछूता है।

मथुरा में—'उस्ताद इरसुख, मनियाँभट्ट, बिरजीसिंह, छीतूसिंह, कन्चूसिंह, कल्ला टालवाले,-इत्यादि कितने ही इस साहित्य के स्रष्टा देखे-सुने गये हैं, जिन्होंने अपने-अपने समय में कितने ही स्वांग (खेल) प्रस्तुत किये। हाथरस में—वासम, मुरलीधर और इन्द्रमन अति प्रसिद्ध हुए। वृन्दावन के रूपरसिक और जाहरमल्ल भी इस साहित्य के काफी पुराने उस्ताद थे। अलीगढ़, आगरा, वेसमा, जलेसर, टूँडला, भरतपुर, अछनेरा, गोवर्धन, डीग कामवन इत्यादि में भी इस विषय के अनेक उस्ताद हुए और हैं।

भगत-साहित्य चार भागों—शृंगार-रस (आशकाना), वीर-रस (आल्हा-ऊदल तथा अमरसिंह आदि की लड़ाइयाँ), शान्तरस (भक्ति-पक्ष—मोरध्वज, ध्रुव-चरित्र आदि-आदि) और उपाख्यान (रामायण, महाभारत, भागवत तथा अन्य पुराणादि)—में बाँटा जा सकता है। ग्रन्थ-संख्या भी अपरिमित है। अस्तु, इस लोक-साहित्य की एक प्रमुखता दर्शनीय है, और वह यह कि उसके पात्रों का चरित्र-चित्रण हिन्दुत्व के धार्मिक आचार-विचारों से बहुत-ही परिपूर्ण है। वह इश्कमजाजी को अपनाता है, उसपर जी-जान सब कुछ न्योछावर भी करता है, किन्तु उसका अन्त विवाह में ही होता है। भाषा, काव्य और संगीत का तो कहना ही क्या""""वह जितने निखरे रूप में वहाँ दिखलाई देता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

ब्रज का अन्य भावपूर्ण साहित्य

ब्रज के लोक-साहित्य में जहाँ 'लोक-गीत', भजन, कहानियाँ, लोकोक्ति (उपखान) आदि का अपूर्व विस्तार है, वहाँ उसके—'बोलना' (ओलना), 'औठपाव', 'अनमिल्ला', नामरूप, अनमिल बातों का एक साथ वर्णन, 'अचका' (अद्भुत बातों-प्रसंगों का एक साथ कथन), 'खुंस' (अवांछनीय बात का कहना), गड़गड्ड (सुख की विविध भावनाओं का वर्णन), 'मेरि'

साहित्य भी बड़े महत्त्व का है। इन 'मन के मोतों' की अदा वहाँ निराली है। एक उदाहरण—

बोलना

कैठा, कठुला कड़े, गरे में ढोलना।
इतनों देइ करतार, तौ फिर का 'बोलना'॥

*

भूरी भैंस कौ दूध, बतासे घोरनों।
इतनों देइ करतार, तौ फिर का बोलनों॥

औठपाउ

काने भैया, राम-राम, कै एई लड़ाई के औठपाउ।
गाम में तौ आगि लागी, चलौ बुझावन ताहि।
सौर की तौ फेंटि बान्धी, कै एई जरन के औठपाउ॥

अनमिल्ला

भार-भुजावन हम गये, पल्लें बाँधी ऊन।
*कुत्ता चरखा ले गयौ, मैं काएते फटकौंगी चून**॥

अचका

पीपर पै ते उड़ी पतङ्ग, जो कहु लगि जाइ मेरे अंग।
मैंने दे दईं बजर किवार, नहिं उड़ि जाती कोस हजार॥

खुंस

एक तौ लँगड़ी घोड़ी दूजें वामें चाल जु थोड़ी।
तीजें याकौ फटि रह्यौ जीन, ऊंस ऊपर खुंस तीन॥

गहगड्ड

सेत फूल हरियारी डाड़ी, औ मिरचन के ठट्ट।
हम घोंटें तुम पियो मुसाफिर, फेरि मचै 'गहगड्ड'॥

—मचै गहगड्ड मचै गहगड्ड॥

---

* ऐसे 'अनमिल्ले' (ढकोसले) हिन्दी-काव्य के आदि-उन्नायक माने जानेवाले 'मिया खुसरो' ने भी लिखे हैं, जैसे—

भादों पकी पीपरी, झर-झर परे कपास।
बी मेहतरानी, दाल पकाओगी, या नङ्गा ही सो रहूँ॥
कोठी भरी कुल्हाड़ियाँ, तू हीरा करके पी।
बहुत उजागर है तो, पत्थर से मुँह पोंछ॥
पीपर पकी पीपरियाँ, झर-झर परें बेर।
सिर पर लगा तड़ाक से वाह रे तेरी मिठास॥
भैंसिया चढ़ी बबूर पे, लपलप गूलर खाय।
पूँछ उठाके देखा तो, पूरनमासी के तीन दिन॥ —इत्यादि...।

भेरि

मुन्ना ते मिसरानी राजी, नित उठ खाइ जलेवी ताजी।
रवड़ी और मंगावै दही, कै 'गड़ुश्रा गढ़त भेरि ह्वै गई।

—इत्यादि····

श्रौर लोकोक्तियाँ....! वे तो व्रज के पद-पद पर बिखरी हुई मिलती हैं, सँभालकर रखनेवाला चाहिए। ये लोकोक्तियाँ उसके साहित्य में ही नहीं, भक्ति श्रौर रीति-काल के साहित्य में भी भरी-पड़ी हैं। सबसे प्रथम इनका काव्य-रूप में संकलन 'जगतानंद' (सं० १७०० वि० के श्रास-पास) ने 'सौ बातन की बात' अर्थात् 'दशमस्कंध (भागवत) उपखान' नामक एक रचना-विशेष से किया। इसके बाद 'जयपुर' (राजस्थान) के किन्हीं 'शिवसहायदास' ने सं० १८०६ वि० में 'लोकोक्ति-रस कौमुदी' नाम के ग्रंथ की रचना की। इसकी विशेषता लोकोक्तियों में ही सम्पूर्ण 'नायिका-भेद' रचने की है। तदुपरि 'जवाहरमल्ल' (समय श्रज्ञात) का 'उपखान पचासा' श्रौर मिलता है, जो बाबू देवकीनंदन खत्री के लहरी प्रेस (काशी) में (सं० १६६१ वि०) छपा था। यहाँ हम उदाहरण-रूप में दो कृतियाँ—जगतानन्द के 'उपखान-भागवत' श्रौर 'शिवसहाय' की 'लोकोक्ति-रस-कौमुदी' से दे रहे हैं—

घूँघट काहे देति, कहैं श्री कुमर कन्हाई।
चोरी ते हरि-पकरि, ग्वालि जसुमति पै ल्याई॥
देहि 'उराहनौं' श्राइ, मात जू देति हमें दुख।
श्राइ गये तहँ नंद, सकुचि कें फेरि रही मुख॥
मुख फेरे क्यों ग्वालिनी, कहै जसोमति चेति।
'नाँचत निकसी तौ भली, घूँघट काहे देति॥'
बोलै निठुर पिया बिन-दोस, श्रापुहि तिय गहि बैठी रोस।
कहै परवानों जिहिं गहि मौन, बैल न कुद्यौ कूदी गौन॥

—जगतानंद

व्रजभाषा-साहित्य का उपर्युक्त विवरण उसके ज्ञाताज्ञात अंगों के साथ बहुत-कुछ जैसे—प्रबंध-साहित्य, वीर-साहित्य, कथा-साहित्य, मनोरंजक-साहित्य (खेल-कूद), चिकित्सा-साहित्य एवं मल्लशास्त्र, पाक-शास्त्र, अर्थ श्रौर श्रस्त्र शास्त्र' छोड़कर यत्किंचित् रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। सम्भव है, इसमें त्रुटियाँ हों श्रौर कुछ वर्णनीय सुन्दर विषय छूट गये हों; क्योंकि मैं उसमें निष्णात नहीं, श्रल्प उपासक हूँ। श्रतः भूल-चूक लेनी-देनी·····················क्योंकि—

'हमारें, व्रजबाँनी-ही वेद।
भाव-भरी या मधु-बानी की, नाहि मिल्यौ रस-भेद॥
या निगमागम इत सबद-जाल में, या सुख की कहँ श्रास।

जो सुख मिलत चाखि ब्रज पद-रस, सोंधी सैहेज मिठास ॥
जा बानी में मचलि कन्हैया, कहै मैहेरि तें रोइ।
'नौं मैया' अबही मंगाइ दै—'चंद-खिलोंनाँ मोइ ॥'
जा बानी में जसुमति रानी, हरि सों कहति रिसाइ।
'दारी की इत-उत भाजत है, दीनी मोहि थकाइ ॥'
जा बानी में कहैं छबीली, छोहरियाँ इठलाइ।
'पाँइकाँकरी गड़त साँकरी खोर माइ-री-माइ ॥'
जा बानी में अष्टछाप मिलि थाप्यो भज्ञानन्द।
प्रेम-प्रवाहित कियौ चराचर दियौ सबै रस-कंद ॥
जा बानी में बन-बिहार की गायौ रस हरिदास।
हित-हरिवंस कियौ नित जा में, हित कौ पंथ प्रकास ॥
जा बानी की ललित कुञ्ज में, कविता करति बिहार।
जावै हरि या ब्रजबानी पै, बलि-बलि सौ-सौ बार ॥

राजस्थानी भाषा और साहित्य

राजस्थान—इस शब्द का अर्थ है—राजाओं का स्थान, अर्थात् वह स्थान, जहाँ राजाओं की अधिकता है। भारत के इतिहास में एक ऐसा भी काल आया है, जिसमें भारत का अधिकांश भाग चिरकाल तक अस्त-व्यस्त एवं अराजकतापूर्ण वातावरण में रहा है। अध्यवसायी, तेजस्वी तथा आत्मसम्मानी व्यक्तियों को उस समय ऐसे दुर्गम आश्रयस्थलों की आवश्यकता थी, जहाँ वे प्रबल शत्रुओं के भय से निर्मुक्त होकर निर्वाह कर सकते। उस समय के 'मरुदेश' ने इस कार्य को पूर्ण किया। तेजस्वी वीरों ने भी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार एक-एक राज्य की स्थापना कर ली। इस प्रकार प्राचीन 'मरुदेश' राजाओं के देश में परिवर्तित होकर 'राजस्थान' कहलाया।

वर्त्तमान-सीमा—यह बहुत बड़ा प्रान्त है। उत्तर में इसकी सीमा पंजाब से मिली हुई है। दक्षिण में यह गुजरात और महाराष्ट्र तक फैला हुआ है। पूर्व में उत्तर-प्रदेश, बुन्देलखण्ड तथा मध्यप्रान्त तक इसका विस्तार है। पश्चिम में यह सिन्ध से मिला हुआ है।

प्रकृति—राजस्थान के नाम से प्रायः लोग जलहीन, बालुकामय प्रदेश की कल्पना करते हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि इसका एक विशाल खण्ड ऐसा ही है, किन्तु प्रकृति के अन्यान्य स्वरूप भी यहाँ पर्याप्त मात्रा में देखे जा सकते हैं। इसमें एक ओर यदि जैसलमेर की विस्तृत मरुभूमि है, तो दूसरी ओर उदयपुर की सुरम्य घाटियों का दृश्य भी कुछ कम मनोहारी नहीं है। पुष्कर के समान असंख्य मगरमच्छों से भरा हुआ तालाब भी राजस्थान ही का शृंगार है। अजमेर की पहाड़ियों और झीलों के बीच खड़ा होकर कोई मरुभूमि की कल्पना नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त अब वैज्ञानिक साधनों से भी मरुभूमि की भयंकरता के बहुत-कुछ घट जाने की संभावना की जा रही है। उदयपुर की सुरम्य पहाड़ियाँ तो अभ्रक आदि अनेक खनिज पदार्थों से भी परिपूर्ण हैं। पन्ना-राज्य में तो अनेक रत्नों की खानें भी मिली हैं।

राज्य—इस विशाल प्रान्त में उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, अलवर, भरतपुर, धौलपुर, करौली, किशनगढ़, शाहपुरा, बुंदी, कोटा, सिरोही, इन्दौर, रतलाम, भूपाल, झालावाड़, पन्ना, ईडर आदि बड़े-बड़े राज्य बसे हुए हैं। छोटे-मोटे राव-राजाओं की तो कोई गिनती ही नहीं है। इनमें से अधिकांश राज्यों की स्थापना ऐसे वीरों द्वारा हुई है, जो निवास-स्थल या आश्रय-स्थान की खोज में लगे

हुए थे। यही कारण है कि वीर-भावना यहाँ के राज्यों के मूल ही से वर्तमान है। प्रत्येक राज्य छोटी-मोटी अनेक जागीरों में विभक्त है। ये जागीरें समय-समय पर राजाओं के भाई-भतीजों अथवा वीर सरदारों को जीविका के लिए मिली हुई हैं। यह चित्र भूतपूर्व का है। इस समय तो सब राज्यों का एक संघ बनाकर इसे राजस्थान राज्य का जो रूप दिया गया है, उससे सब परिचित ही हैं।

व्यक्ति—राजस्थान के व्यक्तियों को जीवन-निर्वाह के लिये सदा ही कठिन परिश्रम करना पड़ा है। कहीं तो निष्ठुर प्रकृति के प्रकोप से और कहीं उससे भी कठोर शत्रुओं के आतंक से व्यक्तियों का जीवन कठिनाइयों का जीवन ही रहा। फलस्वरूप वहाँ के लोग अधिक कष्टसहिष्णु, धैर्यशाली, अध्यवसायी तथा प्रवास-प्रेमी हो गये। वीर एवं विप्रलम्भ शृंगार-काव्यों के लिए ऐसी ही पृष्ठभूमि तथा आलम्बन-सामग्री की आवश्यकता भी रहती है।

भाषा—राजस्थान की अपनी भाषा है। यों तो राजस्थान बहुत बड़ा प्रदेश है और उसमें अनेक बोलियाँ हैं। बीकानेर और उदयपुर की बोली में पर्याप्त अन्तर है; कहीं-कहीं तो 'स' की जगह 'ह' का ही उच्चारण होता है; किन्तु साहित्य की भाषा समस्त राजस्थान की एक ही रही है। विशेषकर काव्य की भाषा में सारा प्रदेश एक रहा है। भाषा-शास्त्र के अनुसार यह शौरसेनी प्राकृत के परिवार की भाषा है। प्रधान रूप से इसका मूल 'गुर्जर'-अपभ्रंश पर अवलम्बित है, किन्तु 'नागर', 'मालव' और 'मध्यदेशीय' अपभ्रंशों का सम्मिश्रण भी इस भाषा में पर्याप्त रूप से पाया जाता है।

इसका साहित्यिक रूप दसवीं शताब्दी से प्रकट होता है, किन्तु तेरहवीं शताब्दी तक यह प्राचीन गुजराती अथवा अपभ्रंश से बहुत-कुछ मिला-जुला तथा अपने पृथक् अस्तित्व-निर्माण में प्रयत्नशील-सा दिखाई पड़ता है। तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजस्थानी भाषा का स्वतन्त्र युग आरम्भ होता है। इसी समय से इस भाषा में पद्य और गद्य-साहित्य की दोनों धाराएँ समानान्तर रेखा पर निरन्तर चलती रही हैं।

उच्चारण—इस भाषा में 'ल' अक्षर का उच्चारण दो प्रकार से होता है—एक तो हिन्दी के समान दन्त्य 'ल' और दूसरा मूर्धन्य ध्वनि मिश्रित 'ळ'। इन उच्चारण के भेद से शब्दों का अर्थ भी भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए—

कालो ([illegible]) । काळो (काले रंग का)
पाल (जिहाजों की दरी)। पाळ (तालाब का बाँध)।
[illegible] ([illegible]) । [illegible] ([illegible]) ।
बल ([illegible]) । बळ ([illegible]) ।
[illegible] ([illegible]) । [illegible] ([illegible]) ।

चंचल (चपल) । चंचल (घोड़ा) ।
काल (कल) । काल (मृत्यु) ।

लिपि—राजस्थान में दो लिपियों का प्रचार है—एक 'देवनागरी' और दूसरी 'मुड़िया'। साहित्य के क्षेत्र में आरम्भ ही से देवनागरी-लिपि का व्यवहार रहा है। घरेलू कारबार में 'मुड़िया'-लिपि काम में लाई जाती है। महाजनों के बही-खाते भी इसी लिपि में लिखे जाते हैं। कहा जाता है कि राजा टोडरमल इस 'मुड़िया' के निर्माता थे। इस लिपि में भावगोपन एवं शीघ्र लेखन की तो सुविधा है, किन्तु मात्राओं के अभाव में अर्थ-भ्रामकता बुरी तरह आ जाती है।

नामकरण—आजकल राजस्थानी साहित्य की भाषा को 'डिंगल' कहते हैं। इसका यह नामकरण बहुत प्राचीन नहीं है। जोधपुर के कवि-राजा श्री बाँकीदास ने संवत् १८७१ में इसका 'डिंगल' नाम रखा है।

'डिगलिया मिलियां करै, पिंगल तणो प्रकास'

[डिंगल-भाषा से मिलकर पिंगल (ब्रजभाषा) का प्रकाश होता है।] (कुकवि बत्तीसी)

इस नाम को बड़ी शीघ्रता से सबने स्वीकार किया। इससे पहले यह भाषा 'राजस्थानी', 'मरुभाषा' या 'मारवाड़ी' के नाम से प्रसिद्ध थी।

अन्य भाषाओं से सम्पर्क—गुजराती भाषा के साथ राजस्थानी के संपर्क की बात पहले भी कही जा चुकी है तथा इसपर भाषा-शास्त्र के विद्वानों की दृष्टि भी पड़ चुकी है; *किन्तु नेपाली भाषा के साथ इसका गुजराती से भी अधिक सम्पर्क अवश्य आश्चर्य की* बात है। भाषा-शास्त्रियों को इसपर विचार करना उचित है। नेपाल में यह बात कही जाती है कि उदयपुर के राणा-परिवार के कुछ लोग प्रवासी होकर नेपाल में आये थे। सम्भवतः भाषा का यह स्रोत भी उन्हीं के साथ आया हो। नीचे नेपाली और राजस्थानी के कुछ उदाहरण दिखाये जा रहे हैं—

राजस्थानी—कत्ति छ ? जत्ति छ तत्ति द्यो न। (कितनी है ? जितनी है उतनी दे दो न।)

नेपाली—कति छ ! जति छ तति देउ न।
राज०—कठ जाओ छो। नेपाली—कत जादै छौ (कहाँ जाते हो ? वर्त्तमानकाल)
राज०—कठ गया था। नेपाली—कथ गए का थियो (कहाँ गये थे ? भूतकाल)
राज०—कठ जाओला। नेपाली—कत जानु होला (कहाँ जाओगे ? भविष्यत्काल)
राज०—कठ जाणो छ। नेपाली—कत जानु छ। (कहाँ जाना है ?)
राज०—भाई होराक साग गयोड़ो थो। नेपाली—भाई हरु का संग गए का थियो।
(भाई वगैरह के साथ गया हुआ था)।

(इसमें प्रथम उदाहरण के 'कति', 'जति' और 'तति' रूप संस्कृत के 'किम्', 'यत्' और 'तत्' शब्दों से 'किमः संख्या परिमाणे डति च—' ५।२।४१ सूत्र से 'डति' प्रत्यय

लगाकर बनते हैं। संस्कृत में 'कति', 'यति' और 'तति' रूप बनते हैं। 'यति' का 'जति' उच्चारण कोई नई बात नहीं है। याग, जाग; योगी, जोगी आदि शब्दों में 'य' का उच्चारण हिन्दी में भी 'ज' होता है। राजस्थानी के उच्चारण में तकार द्वित्व-सा उचरित होता है, अथवा कोई अन्तर नहीं है।)

नेपाली—'मैंले राज्य को रक्षा गर्न शकिन, अब मेरो मर्ने बेला आई पुग्यो छ। म मेरा पाप कर्म का फल मात्र संग मां ली जान लागे को छुं। ईश्वर ले मलाई परलोक मा के दंड देलान्।' *(भारत का इतिहास—नेपाली भाषा)*

राजस्थानी—'म राज की रक्षा कर्ण मक्यो नई, अब मेरी मर्ण वेला आइ पुगी छ। म मेरा पाप कर्म रा फल मात्र सागलेइ जाण लाग्यो छुं। ईश्वर मन परलोक म के दंड देला।'

(मैं राज्य की रक्षा नहीं कर सका, अब मेरी मृत्यु का समय आ पहुँचा है। मैं अपने पाप-कर्म का फल ही अपने साथ लेकर जा रहा हूँ। ईश्वर मुझे परलोक में न जाने क्या दंड देंगे।)

अब एक उदाहरण गुजराती, राजस्थानी और नेपाली का सुनाकर इस प्रसंग को समाप्त करना चाहता हूँ।

गुजराती— 'बंगाला मां रूप गोस्वामी नामना एक प्रख्यात वैष्णव पंडित अने कवि थई गया छे। ए श्री चैतन्य महाप्रभु ना शिष्य हता, अने शिष्य तरीके एमनी घणी ख्याति छ। संस्कृत भाषा मां एमनु अगाध पांडित्य हतुं।' —*(आदर्श दृष्टांतमाला)*

नेपाली— 'बंगाला मां रूप गोस्वामी नाम का एउटा प्रख्यात वैष्णव पंडित अनि कवि भई गए का छन्। ए श्री चैतन्य महाप्रभु का शिष्य थिए, अनि शिष्य गर्दा (भयेर) इनको घेरै ख्याति छ। संस्कृत भाषा मा इनको अगाध पांडित्य थियो।'

राजस्थानी—'बंगाला मां रूप गोस्वामी नाम का एक प्रख्यात वैष्णव पंडित और कवि होय् गया छे। ए श्री चैतन्य महाप्रभु रा शिष्य था और शिष्य क नात आँरी घणी ख्याति छ। संस्कृत भाषा म आँको अगाध पांडित्य थो।'

(बंगाल में रूप गोस्वामी नाम के एक प्रख्यात वैष्णव पंडित एवं कवि हो गये हैं। ये श्री चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे और शिष्य के रूप में इनकी पर्याप्त ख्याति है। संस्कृत भाषा में इनका अगाध पांडित्य था।)

राजस्थानी कवि

राजस्थान के कवियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—एक स्वाभाविक कवि और दूसरे वंश-परम्परागत कवि। स्वाभाविक कवियों को भी दो श्रेणियों में रखा जाय तो समझने में अधिक सुविधा रहेगी। साधारण व्यक्ति और राजा तथा राज-परिवार के सम्बद्ध व्यक्ति। इस प्रकार यहाँ कवियों की तीन श्रेणियाँ हैं और उनकी अपनी अपनी विशेषताएँ भी हैं।

वंश-परम्परागत कवि—राजस्थान में 'चारण' नाम की एक जाति है। वीर-काव्यों का निर्माण करना, उन्हें राज-सभा या अन्य स्थानों मे सुनाना, समय पड़ने पर लोगों को युद्ध के लिए प्रोत्साहन देना, काव्यों को लिखकर तथा कण्ठस्थ करके उनकी रक्षा, प्रचार एवं प्रसार करना चारणों का कार्य था। राज दरबारों मे उनका पर्याप्त सम्मान होता था। निर्वाह के लिए जागीरें मिलती थीं। राजस्थान मे वीर-काव्य के निर्माण, रक्षण एवं प्रसार का अधिकाश श्रेय इसी जाति को है। युद्धस्थलों में प्रायः उपस्थित रहने के कारण इनका युद्ध-वर्णन भी घर बैठकर कल्पना करनेवाले कवियों की अपेक्षा अधिक सजीव होता था। चारण लोग युद्ध-भूमि में भी राजपूतों द्वारा अवध्य थे। जान-बूझकर कोई उनपर हथियार नहीं चलाता था। वंश-परम्परा का धन्धा होने के कारण इनके कविता-पाठ का ढंग भी समयानुकूल तथा आकर्षक होता है।

साधारण वर्ग के कवि—साधारण परिस्थिति के कवियों को इस श्रेणी मे रखा जा सकता है। इन कवियों को न तो युद्ध-क्षेत्र का ही कोई अनुभव था और न राज-दरबारों का; अतः इनसे साहित्य-भाण्डार का वह कोना पूर्ण हुआ, जिस ओर चारणों की दृष्टि नहीं पड़ी थी। इन्होंने संत-साहित्य, भक्ति-साहित्य तथा लोक-साहित्य की अमर रचनाएँ कीं। इस श्रेणी में हिन्दू, मुसलमान, पुरुष, नारी आदि सभी तरह के कवित्व-शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति चले आते हैं। सभी ने अपने-अपने क्षेत्र में काव्य-पुष्पाञ्जलि द्वारा साहित्य-देवता की सुन्दर अर्चना की है।

राज-वर्ग के कवि—राजस्थान में राजा-महाराजा भी पर्याप्त संख्या में कवि हुए हैं। जोधपुर के महाराज यशवन्तसिंह तथा बून्दी के महाराज बुधसिंह तो आचार्य-कोटि के महाकवि हुए हैं। इन्होंने साहित्य के नवीन लक्षण-ग्रन्थों तक का निर्माण किया है। किसनगढ़ के महाराज श्री नागरीदास जी की गणना तो व्रजभाषा के भी महाकवियों में है। महाराणा कुम्भा का काव्य-प्रेम इतिहास-प्रसिद्ध है। बीकानेर के कुँवर पृथ्वीराज तलवार और कलम, दोनों के समान रूप से धनी थे। ये लोग अन्तःकरण की प्रबल प्रेरणा से ही काव्य-निर्माण में प्रवृत्त होते थे। साथ-ही-साथ अनुभव की भी इन में कमी नहीं रहती थी। यही कारण है कि इनकी कविता शृंगार और वीर, दोनों ही रसों में सर्वोत्कृष्ट हुई। राजस्थानी कविता में शृंगार का तो प्रायः सारा श्रेय इन राज-परिवार के महाकवियों को ही है। विलासिता का पूर्ण साधन कवित्व-शक्ति के सहारे सजीव होकर आँखों के सामने आ जाता है। और वीर-रस के तो यही नायक और यही प्रवक्ता थे, इसका वर्णन इनसे सजीव फिर कौन करता? साथ ही साथ "विद्वानेवहि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्" की कहावत के अनुसार ऐसे राजाओं के दरबार में अनेक कवियों और विद्वानों को प्रश्रय मिल जाता था। फलस्वरूप वहाँ चिरकाल तक साहित्य-निर्माण की धारा अबाध गति से बहती रहती थी।

वेण-सगाई—राजस्थानी काव्यों का यह एक विशेष अलंकार है। इसे हिन्दी की दृष्टि से शब्दालंकार छेकानुप्रास के अन्तर्गत रख सकते हैं। जो अक्षर चरण के आदि में आता हो, वही अक्षर चरण के अन्तिम शब्द के आरम्भ में भी रहना चाहिए। जैसे—

अकबर पथर अनेक, कै, भूपत मेला किया।
हाथ न लाग्यो हेक, पारस, राणा प्रताप सी। (दुरसा जी)

(अकबर ने न जाने कितने राजा-रूपी पत्थरों को इकठा किया, किन्तु राणा प्रताप-रूपी पारस हाथ न लगा।)

अकबर सँमद अथाह, सूरापन भरियो सजल
मेवाड़ो तिण मांह, पोयण फूल प्रतापसी (पृथ्वीराज)

(शौर्यरूप जल से भरा हुआ अकबर अगाध समुद्र है और मेवाड़ का प्रतापसिंह उसपर तैरता हुआ कमल का फूल है।)

अक्षरों के स्थान परिवर्त्तन की विशेषता को लेकर इस वेण-सगाई के सात भेद होते हैं। वीर-काव्यों में इसकी परम्परा का पालन दृढ़ता के साथ किया जाता है। इसके अतिरिक्त राजस्थानी भाषा में भी वे सारे अलंकार प्रयुक्त हुए हैं, जो संस्कृत अथवा हिन्दी में हैं। किन्तु रीतिकालीन हिन्दी-काव्यों के समान राजस्थानी काव्यों को कभी केवल अलंकारों का रंगमंच नहीं बनाया गया।

ऐतिहासिक महत्त्व—राजस्थान के वीर-काव्यों का ऐतिहासिक महत्त्व भी कम नहीं है। ये काव्य वीरों की यशोगाथा के रूप में लिखे गये हैं। इनके लेखक भी प्रायः उन वीरों के समकालीन कवि ही हैं। अनेक कवियों ने तो अपने वर्णित युद्धों में भाग भी लिया है। ऐसी अवस्था मे उनके द्वारा लिखी हुई घटनाओं और तिथियों की प्रामाणिकता में अधिक संदेह की गुंजायश नहीं होती।

वीर-काव्य में नारी—साधारणतया वीर-रस का आलम्बन नारी नहीं हुआ करती, किन्तु राजस्थानी काव्यों में यह विशेषता है। वहाँ नारियाँ वीर-रस का आलम्बन हुई हैं। इसका कारण है, उस समय मे वहाँ सती-प्रथा का प्रचलन; और साथ-ही-साथ रणभूमि से पलायन करनेवाले वीरों के लिए घर का द्वार बन्द होना। महाराज यशवन्तसिंह तक को इस प्रकार की दुर्घटना का शिकार बनना पड़ा था। कायर पति अपनी स्त्री तक के लिए हास्य का सुन्दर आलम्बन होता था। इसका एक उदाहरण सुनाना कुछ अनुचित न होगा—

पीव इसा रण चढ़िया, हथ लीधी तरवार,
दीठी तन री छाहड़ी; ऊभा पाड़ै धार।

[कोई कायर शस्त्रों से सज्जित होकर रण की ओर चला है। उसकी स्त्री कह रही है कि मेरे पति हाथ में तलवार लेकर रणक्षेत्र के लिए निकले, किन्तु अपने शरीर की छाया को देखते ही (छाया को शत्रु समझकर) सहायता के लिए चिल्लाने लगे।]

वीर पत्नियों के प्रति नारियों की भावना भी हमारे वीर-काव्य की एक उत्कृष्ट वस्तु है। वीर नारी पति के इस रूप पर न्योछावर है—

देवै गीधन दुरवड़ी; समली घेरै सांस
पंख भपेटां पिउ सुवै, हूँ बलिहार गईस।

(गिद्ध-नारियाँ थपकियाँ देंगी, चीलें सिर दबाएँगी, उनके पंखों के कोमल पवन से जब मेरे पति सुख की नींद सोयेंगे, तब मैं उनके इस रूप पर न्योछावर हो जाऊँगी।)

मतवाला घूमै नहीं, नह घायल घरणाय
बाल सखी ऊ देसड़ौ, भड़ बापड़ा कहाय।

(हे सखी, उस देश में आग लगाओ, जहाँ मतवाले योद्धा नहीं घूमते हैं, जहाँ घायल चक्कर नहीं खाते हैं और जहाँ वीरों को तुच्छ समझा जाता है।)

सखी अमीणा कंत री, पूरी एह परतीत
कै जासी सुर मंघड़े, कै आसी रण जीत।

(पति रणक्षेत्र में गया है, उसकी स्त्री अपनी सहेली से कह रही है—हे सखि, मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरा स्वामी चाहे तो स्वर्गलोक ही जायगा और नहीं तो अवश्य ही विजयी होकर घर लौटेगा।)

किण विध पाऊ आणियौ, बोलंता जल लाव
बांटै सास बलोवली, भाला हन्दा घाव।

(एक वीर रण में घायल पड़ा है। उसकी माता और पत्नी घायलों को पानी पिलाने आई हैं। माता अधिक घाववालों को पहले पानी पिला रही है। वीर अपनी पत्नी को इशारा करता है। वह भी असमर्थता प्रकट करती हुई कहती है—मैं पानी कैसे पिलाऊँ! देखते नहीं कि सास घाव गिन-गिन कर पानी पिला रही है!)

रस—राजस्थानी भाषा में वीर-रस की प्रधानता होते हुए भी अन्य रसों का अभाव नहीं है। समस्त रसों में इस भाषा के कवियों ने प्रौढ़ रचनाएँ की हैं। इनमे 'ढोला मारू रा दूहा', 'वेली क्रिसन रुकमणी री' और 'बीसलदेव रासो' आदि ग्रन्थों में शृंगार का पूर्ण परिपाक हुआ है। भक्ति-काव्य और संत-साहित्य की भी उत्कृष्ट रचनाएँ इस भाषा में मिलती हैं। हास्य-रस पर भी यहाँ अनेक काव्य स्वतन्त्र रूप से लिखे गये हैं। उन काव्यों को हम निःसंकोच शिष्ट हास्य की कोटि में रख सकते हैं। अब कुछ रसों के उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

वीर—

घाल घणा घर पातला, आयो थह मैं आप।
सूतो नाहर नींद सुख, पौहरो दियो प्रताप।

(अनेक शत्रुओं को नष्ट करके सिंह अपनी माँद में आकर सुख की नींद सो रहा है और उसका प्रताप ही पहरेदार का काम कर रहा है।)

वीर गोष्ठी—

अमलां खोवा धाजियाँ, मचै भडां मनुहार
जांगड़िया दूहा दिये, सिन्धु राग मल्हार।

[इस दोहे में एक वीर गोष्ठी का वर्णन है। उस समय राजस्थानी वीरों में अफीम का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। वीरगण बैठे हैं। अफीम घोलने का मधुर शब्द गूँज

रहा है। [illegible] एक दूसरे को [illegible] [illegible] का [illegible]
[illegible] ([illegible]) [illegible]

शृंगार—

> [illegible] जाणियो [illegible] ।
> हँसि हँसि [illegible] देख देख [illegible], [illegible] बाहर [illegible] । ([illegible])

इसी भाव के [illegible] में बिहारी महाकवि ने आगे चलकर इस प्रकार कहा है

> [illegible] मुसकाय ।
> [illegible] भली [illegible] मुसकाय ॥ (बिहारी)

[illegible]—

> *काळी घणी कुरूप, कस्तूरी काँटै तुलै ।*
> *सक्कर घणी सरूप, रोड़ा तुलै राजिया ॥ (कृपाराम)*

[कस्तूरी यद्यपि बहुत काली और कुरूप है, फिर भी (गुणों के कारण) वह काँटे (सोने-चाँदी के साथ) तुलती है, और शक्कर बहुत सुन्दर होने पर भी पत्थरों से तोली जाती है।]

> *चित मैं चाये हुकम चलाऊ, हुकम तणो पण भार न होय ।*
> *आंपा लेख लिख्या उण सांई, मेटण वाला नहीं कोय ॥ (ओपाजी)*

(अभागा व्यक्ति मन में तो विचारता है कि वह सबपर शासन करता, किन्तु उस शासन मानने के लिए तो उसकी स्त्री तक राजी नहीं होती। भाग्य की लिपि को क मिटा नहीं सकता।)

> *चापे मन चैठया चोलाहर,*
> *ताये सूनी दूँढ़ तडै ।*
> *आद रीत चाली है ओपा,*
> *कुटी लिखी सो महल कठै । (ओपाजी)*

(मन की तृप्ति के लिए तो महल चाहिए, किन्तु दिन तो काटने हैं सूने खँडहर में यही भाग्य का खेल है, झोंपड़ी लिखी है तो महल कहाँ से मिलेगा !)

गीति-काव्य—"गीत राजस्थानी-भाषा की एक विशिष्ट वस्तु है। इन्हें पूर्व य पश्चिम की किसी भी आधुनिकतम कसौटी पर कसा जा सकता है। इस भाषा में सभ रसों एवं भिन्न-भिन्न विषयों पर गीतों की अधिक एवं सुन्दर रचना हुई है। भक्ति के तो प्रायः सारे ही गीतों की रचना कवयित्रियों द्वारा हुई है। यही कारण है कि इन गीतों की कोमलता, भावुकता तथा मर्मस्पर्शिता चरम कोटि तक पहुँची हुई है। गीतों के ६४ भेद माने जाते हैं।

छन्द—यों तो हिन्दी-संस्कृत के प्रायः सभी प्रसिद्ध छन्दों का प्रयोग इस भाषा में हुआ है, किन्तु दोहे (दूहे) के अनेक भेद एवं मारू राग के गीत इस भाषा के काव्यों के लिए अधिक अनुकूल हैं।

गद्य-साहित्य—यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि इस भाषा में गद्य-साहित्य का निर्माण भी आरम्भ से ही प्रचुर मात्रा में हुआ है। छोटी छोटी कहानियाँ (बात), वीरों के जीवन-वृत्त एवं राजवंशों के इतिहास, गद्य-साहित्य की प्रधान सामग्री हैं। यहाँ के वीरों की ही तरह इतिहास-लेखक भी बड़े आत्मसम्मानी, स्पष्टवक्ता तथा निर्भीक होते थे। उदाहरणार्थ एक छोटी-सी कथा का उल्लेख कोई अप्रासङ्गिक न होगा।

'मूंता नैणसी' राजस्थान के बहुत बड़े इतिहास-लेखक थे। ये जोधपुर-राज्य के दीवान थे। इनका लिखा हुआ 'मूंता नैणसी री ख्यात' नामक इतिहास बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। एक बार वहाँ के महाराज ने किसी कारण से नाराज होकर इन्हें इनके भाई सुन्दरदास के साथ कारागार में डाल दिया। कुछ समय के बाद महाराज ने एक लाख रुपया दण्ड लगाकर इन्हें छोड़ दिया। इनके घरवालों ने यह सौदा सस्ता ही समझा, किन्तु आत्माभिमानी दोनों भाइयों ने बिना किसी अपराध के इस प्रकार एक पैसा भी दण्ड चुकाना सम्मान के विरुद्ध समझा। दोनों फिर कैद कर लिये गये। आत्मगौरव की रक्षा के लिए दोनों ने पेट में कटार मारकर आत्महत्या कर ली, पर दण्ड का एक पैसा भी न दिया। यह दोहा उनकी तेजस्विता का प्रमाण-पत्र है।

लेसी पीपल लाख, लाख लखारां ल्यावस्यो
तांबो देण तलाक, नटिया सुन्दर नैणसी।

[लाख (कची लाह) की जरूरत हो तो वह आपको पीपल के वृक्ष से मिल सकेगी अथवा लखारे (लाह की चूड़ी बनानेवाले) के घर से आप ला सकते हैं। (यह कहकर) सुन्दरदास और नैणसी ने ताँबे का एक पैसा न देने की भी कसम खा ली और दण्ड देने से इन्कार कर दिया।]

कवयित्रियाँ—इस भाषा के साहित्योद्यान की अनेक क्यारियों का निर्माण एवं परिवर्द्धन कुशल महिला कलाकारों के हाथों हुआ है। इनमें से मीराँबाई, सुन्दर कुँवरी, प्रताप कुँवरी, छत्र कुँवरी, प्रतापबाला आदि कवयित्रियों का सम्बन्ध उच्च राज-परिवारों से था। इनकी कोमल कान्त-पदावली राजस्थानी-काव्य में भक्ति-तरंगिणी की कल-कल-निनादिनी अमर धारा है। साथ ही सहजोबाई, दयाबाई, गवरीबाई आदि कवयित्रियों ने भी सुन्दर काव्यों की रचना की है। मध्यकाल के उस पिछड़े हुए जमाने में महिलाओं का इतना महत्त्वपूर्ण सहयोग मिलना राजस्थानी-साहित्य के लिए कम सौभाग्य की बात नहीं है। इनमें से सहजोबाई और दयाबाई तो निर्गुण धारा के समान कठिन मार्ग की कवयित्रियाँ थीं। अनेक महिलाओं ने मर्मस्पर्शी विरह-गीतों की भी प्रचुर रचना की है।

सन्त-काव्य—दादूजी, चरणदास, हरिदास एवं उनकी शिष्य-परम्परा ने कबीर की चलाई हुई निर्गुण-धारा को भी इस मरुभूमि में सूखने नहीं दिया। हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही इस मार्ग के प्रकाश-स्तम्भ रहे हैं। निर्गुण के उपासक होते हुए भी यहाँ के अनेक सन्तों ने अपना-अपना भिन्न सम्प्रदाय स्थापित किया है। दादू-पन्थ तथा

चरणदासी-पन्थ का अस्तित्व कबीर-पन्थ से पृथक् है। सुन्दरदास, रज्जब अली, सन्तदास, वाजिद अली, दयाबाई, सहजोबाई आदि समर्थ काव्य-प्रणेताओं द्वारा गम्भीर-शान्त-रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।

नाटक—हिन्दी-साहित्य की भाँति राजस्थानी-साहित्य के भाण्डार का भी यह कोना मध्यकाल में न जाने कैसे, उपेक्षित-सा ही रह गया। केवल महाराणा कुम्भा के द्वारा लिखे हुए कुछ नाटकों का उल्लेख-मात्र मिलता है।

नवयुग—७०० वर्षों से अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की अजस्र धारा में बहनेवाली इस राजस्थानी-भाषा की साहित्य-स्रोतस्विनी प्रायः ४० वर्षों से हिन्दी के महासागर में मिल-सी गई है। इन ४० वर्षों में राजस्थान की प्रायः सारी प्रतिभा हिन्दी के ही उत्थान में लगी हुई है। राजस्थान अथवा उसके बाहर रहनेवाले सारे राजस्थान के प्रतिभाशाली विद्वान् आज हिन्दी के प्रणयन तथा उन्नयन में ही लीन हैं।

इन लोगों के द्वारा की हुई हिन्दी की सेवा नगण्य नहीं कही जा सकती। दूसरी ओर राजस्थान के वंश-परम्परागत कवि (चारण, भाट आदि) भी समय के इस प्रवाह से अछूते न बच सके। आज उनमें भी दुरसा जी, बाँकी दास, मुरारी दास, सूर्यमल-जैसे प्रतिभाशाली कवि नहीं हैं, और न इधर कोई महत्त्वपूर्ण मौलिक डिंगल-ग्रंथ की रचना ही हुई है; फिर भी उनके वंशज किसी प्रकार अपनी प्राचीन परम्परा का निर्वाह कर ही रहे हैं।

हाँ, इस नवयुग में राजस्थानी-ग्रन्थों का सम्पादन एवं प्रकाशन पर्याप्त मात्रा में हुआ है। ऐतिहासिक अनुसधान भी कुछ कम महत्त्व का नहीं हुआ है। अजमेर के महामहोपाध्याय श्रीगौरीशंकर-हीराचन्दजी ओझा आदि विद्वानों ने पुरातत्त्व तथा इतिहास के अनुसंधान द्वारा हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सेवा की है। फिर भी अनुसन्धान के इस कार्य को राजस्थानियों के साधन की तुलना में पूर्ण सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

इधर दस-पाँच वर्षों से कुछ उत्साही विद्वानों ने राजस्थानी के काव्य-स्रोत को पुनः प्रवाहित करने का उल्लास कहीं-कहीं दिखलाया है; किन्तु विगत अर्ध-शताब्दी से राजस्थान के व्यक्तियों ने हिन्दी को इस प्रकार अपना लिया है कि आज हिन्दी और राजस्थानी के साहित्य-भाण्डारों में कोई भिन्न भावना का अस्तित्व शेष नहीं रह गया है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने भी राजस्थानी को हिन्दी की उच्च परीक्षाओं में ऐच्छिक भाषा का रूप देकर अपनी पूर्ण उदारता प्रदर्शित की है। मैं इस हिन्दी एवं राजस्थानी-सरस्वती के संगम की हृदय से अभ्यर्थना करता हूँ।

निमाड़ी भाषा और साहित्य

निमाड़ी का क्षेत्र

'निमाड़ी' पूर्व-मध्यप्रदेश के उत्तर-पश्चिम और मध्यभारत क्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम भू-भाग से निर्मित लगभग ६,५३५ वर्गमील के क्षेत्र में स्थित भू-प्रदेश की लोकभाषा है। यह प्रदेश २१.४ और २२.५ उत्तर अक्षांश तथा ७४.४ और ७७.३ पूर्व देशांश के बीच स्थित है। विन्ध्य महाशैल इस प्रदेश की उत्तरी और सतपुड़ा इसकी दक्षिणी सीमा के अडिग प्रहरी हैं। नर्मदा और ताप्ती के समान पुराण-प्रसिद्ध ऐतिहासिक सरिताएँ इस निमाड़ी-भाषी क्षेत्र को पावन और उर्वरा बनाती हैं। नये मध्यप्रदेश के निर्माण के साथ पूर्व-मध्यप्रदेश और मध्यभारत के निमाड़ी-भाषी दोनों जिले एक ही राज्य के अन्तर्गत हो गये हैं, और दोनों निमाड़ जिले कहलाने हैं। इस क्षेत्र के उत्तर में मालवी, दक्षिण में मराठी और खानदेशी, पूर्व में मालवी-प्रभावित बुन्देली और पश्चिम में भीली-भाषी क्षेत्र हैं। इसकी इस भौगोलिक और भाषावी स्थिति का इस लोकभाषा के स्वरूप-निर्माण पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है।

नामकरण

निमाड़ी-भाषी भू-भाग का नाम 'निमाड़' पड़ने के सम्बन्ध में अनेक तर्क उपस्थित किये जाते हैं। कुछ लोग फारसी के 'नीम' शब्द से निमाड़ बना बतलाते हैं, कोई संस्कृत के 'नीवार' शब्द से निमाड़ की व्युत्पत्ति करते हैं और कोई 'नीम-वाड़' से निमाड़ होना कहते हैं। हमारा ख्याल है कि निमाड़ मालवा-राज्य का दक्षिणी अथवा निम्न भाग है। 'वाड़' शब्द का अर्थ 'स्थान' है, जैसा कि हम मारवाड़, झालावाड़, मेवाड़, काठियावाड़ आदि नामों में देखते हैं; अतः इस क्षेत्र का पूर्व नाम 'निम्नवाड़' होना चाहिए, जो लोक-वाणी में आकर 'निमाड़' हो गया है। देश और प्रदेश की सीमाएँ सदैव बदलती रहती हैं और मालवा की सीमाएँ भी बदलती रही हैं। अनेक युद्धों के कारण समय-समय पर मालव-भूमि के राज्याधिकार में परिवर्तन हुआ, पर निमाड़ी-भाषी भाग सदैव ही मालवा का एक भाग बना रहा है। प्राकृतिक रचना की दृष्टि से भी यह भाग मालवा के शेष भाग की तुलना में समुद्र-तट से नीचा है। इस भाग से लगे मालवी-भाषी प्रदेश में निम्न भाग को 'निमानी' भी कहते हैं। यह देखते हुए 'निम्नवाड़' से ही 'निमाड़' बनना अधिक तर्क-संगत जान पड़ता है। निमाड़ी इसी निमाड़ प्रदेश की लोकभाषा है। इस प्रदेश

का नाम निमाड़ कब से पड़ा, निश्चित रूप से कहना कठिन है; पर ग्यारहवीं शताब्दी में भारत की यात्रा करनेवाले अरब यात्री 'अलबेरूनी' ने भी अपने यात्रा-वर्णन में इस भाग को 'निमाड़-प्रान्त' लिखा है[1]। इससे इसका यह नाम इसके पूर्व से प्रचलित होना स्पष्ट है।

निमाड़ी-भाषी जनसंख्या

मध्य-प्रदेश के दोनों निमाड़ जिले (खण्डवा-निमाड़ और खरगोन-निमाड़) बुरहानपुर तहसील के अतिरिक्त निमाड़ी भाषी हैं। गत जन-गणना के अनुसार खण्डवा-निमाड़ की जनसंख्या ५,२१,४६६ और खरगोन-निमाड़ की जनसंख्या ६,६६,२६७ है। इस प्रकार दोनों निमाड़ जिलों की जनसंख्या ११,८८,७६३ है। इसमें बुरहानपुर तहसील की १,७६,४१० जनसंख्या पृथक् कर देने पर शेष दस लाख से भी अधिक संख्या निमाड़ी भाषा बोलनेवालों की होनी चाहिए। गत जन-गणना के विवरण में इस भाषा के बोलनेवालों की संख्या—खण्डवा निमाड़ में १,१०,४०६; खरगोन-निमाड़ में १,५७,८६६ तथा इन दोनों जिलों के बाहर २३,८७७; इस प्रकार कुल संख्या २,९२,१५२ बतलाई गई है। मैं इस जन-गणना-विवरण के अंक को कई कारणों से विश्वसनीय नहीं मानता। इस भाषा के बोलनेवालों की संख्या किसी भी स्थिति में दस लाख से न्यून न होनी चाहिए। ऐसा जान पड़ता है कि अनेक लोगों ने अपनी मातृभाषा 'निमाड़ी' न बतलाकर 'हिन्दी' बतला दी है; इसीलिए जन-गणना-विवरण के अंक संदिग्ध हो गये हैं।

निमाड़ी भाषा

डॉ० ग्रियर्सन ने अपने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इण्डिया' ग्रन्थ में 'राजस्थानी' पर विचार करते हुए उसे पाँच भागों में विभाजित कर निमाड़ी को 'दक्षिणी राजस्थानी' कहा है। तदनुसार निमाड़ी राजस्थानी की एक शाखा है। इस लोकभाषा के विशेष अध्ययन की ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान आकर्षित न होने के कारण भाषा-विज्ञान के अन्य लेखक भी डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार निमाड़ी को राजस्थानी के ही अन्तर्गत स्थान देते आ रहे हैं। केवल डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने अपने उदयपुर-विद्यापीठ में 'राजस्थानी' पर दिये भाषण में डॉ० ग्रियर्सन से सहमत न होते हुए निमाड़ी के राजस्थानी की बोली होने में सन्देह व्यक्त किया है।

ऐसा जान पड़ता है कि डॉ० ग्रियर्सन ने निमाड़ी को राजस्थानी का एक रूप तो कह दिया, पर वे स्वयं ही किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। उन्होंने राजस्थानी की शाखाओं का विभाजन करते समय मालवी को दक्षिण-पूर्वी शाखा और निमाड़ी को दक्षिणी शाखा कह दिया, पर निमाड़ी पर पृथक् विचार करते समय वे मालवी को राजस्थानी की बोली कहकर निमाड़ी को मालवी का ही एक रूप कहते हैं[2]।

१. Sachen : Albaruni's India (1880), Vol. 1, P. 203

२. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इण्डिया, जिल्द ९, भाग २, पृष्ठ ६०।

डॉ० ग्रियर्सन ने इसी ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में निमाड़ी पर जो विचार व्यक्त किया है, वह और भी भिन्न है। यहाँ वे कहते हैं—"उत्तरी निमाड़ और उससे लगे हुए मध्यभारत के भोपावर राज्य में मालवी, खानदेशी और भीली से इस प्रकार मिल गई है कि वह एक नई बोली का ही रूप धारण कर निमाड़ी कहलाती है, जिसकी अपनी विशेषताएँ हैं। जिस अर्थ में मेवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी वास्तविक रूप में राजस्थानी की बोलियाँ कही जा सकती हैं, उस अर्थ में निमाड़ी कठिनाई से एक बोली है। यह वास्तव में मालवी पर आधारित अनेक भाषाओं का एक मिश्र रूप है[१]।"

इन विभिन्न मतों के कारण डॉ० ग्रियर्सन का निमाड़ी के सम्बन्ध में किसी एक निश्चित निष्कर्ष पर न पहुँचना स्पष्ट है। अब एक दूसरे पाश्चात्य विद्वान् 'फोर्सिथ' का मत देखिए। वे कहते हैं—"निमाड़ी मालवा और नर्मदा के उत्तर में बोली जानेवाली सामान्य हिन्दी के साथ मराठी और फारसी शब्दों का एक मिश्रण है[२]।" फोर्सिथ के कथनानुसार निमाड़ी सामान्य हिन्दी का एक रूप है।

स्व० बाबू श्यामसुन्दरदास निमाड़ी को मालवी के आधार पर बनी एक संकर भाषा मानते हैं। वे अपनी 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' पुस्तक में कहते हैं—"भिन्न-भिन्न बोलियों की बनावट पर ध्यान देने से यह प्रकट है कि जयपुरी और मारवाड़ी गुजराती से, मेवाती व्रजभाषा से और मालवी बुन्देली से बहुत मिलती है।" हम बाबू साहब के इस मत से पूर्ण सहमत हैं। निमाड़ी पर अनुसंधान करते समय हम मालवी का जितना अध्ययन कर सके, उसमें हमने देखा कि मालवी की प्रवृत्ति, जितनी बुन्देली की प्रवृत्तियों से साम्य रखती है, उतनी राजस्थानी की किसी भी शाखा-बोली से साम्य नहीं रखती। यह देखते हुए ऐसा लगता है कि मालवी के सम्बन्ध में अधिक अनुसंधान होने पर हमें उसे राजस्थानी की एक शाखा न मानकर, व्रज-बुन्देली की तरह पश्चिमी हिन्दी की ही एक शाखा मानना पड़ेगा। हमें निमाड़ी में अनेक भाषाओं के शब्दों का मिश्रण देखकर तथा उसका मालवी से अधिक साम्य पाकर उसे मालवी के आधार पर बनी एक संकर-लोकभाषा स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती।

किसी भी भाषा का पारिवारिक सम्बन्ध निश्चित करने के लिए उसकी ध्वनियां, नाम और क्रिया के रूपों तथा शब्द-संगठन एवं वाक्य-रचना-प्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक होता है। मैंने निमाड़ी की उपलब्ध सामग्री के आधार पर उसके स्वरूप, ध्वनितत्त्व, रूप-तत्त्व उसकी अन्तर्गत बोलियों और सीमावर्ती बोलियों का जो तुलनात्मक अध्ययन किया है, उसमें मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि निमाड़ी पश्चिमी हिन्दी की बोलियों के जितना निकट है, उतना वह राजस्थानी की किसी भी बोली के निकट नहीं है। अतः डॉक्टर ग्रियर्सन के अनुसार यह राजस्थानी की नहीं, वरन् व्रज, बुन्देली, खड़ी बोली

१. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ् इण्डिया, जिल्द १, भाग १, पृष्ठ १७२।
२. फोर्सिथ : निमाड़ प्रान्त की सेटलमेंट रिपोर्ट (Settlement Report of Ninmad Prant (1865)—पैरा १

आदि की तरह पश्चिमी हिन्दी की ही एक बोली है। भाषाशास्त्री राजस्थानी को हिन्दी के अन्तर्गत मानें अथवा एक पृथक् स्वतन्त्र भाषा मानें, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों स्थितियों में निमाड़ी पश्चिमी हिन्दी की ही एक बोली कहलाने की अधिकारिणी है। यह अवश्य है कि इस बोली में राजस्थानी के कुछ शब्द आ गये हैं, किन्तु कुछ शब्दों के प्रवेश से ही वह राजस्थानी की बोली नहीं हो सकती। निमाड़ी में जिस परिमाण में राजस्थानी के शब्द प्रयुक्त होते हैं, उससे कहीं अधिक परिमाण में—विशेषकर पश्चिमी निमाड़ी में—गुजराती के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यदि इसमें राजस्थानी के कुछ शब्दों का प्रयोग होने से ही यह राजस्थानी की बोली हो सकती है, तो गुजराती शब्दों के प्रयोग से यह गुजराती की भी बोली हो सकती है। किन्तु वास्तविकता यह है कि यही न तो राजस्थानी की बोली है और न गुजराती की ही। यह निश्चित रूप से पश्चिम हिन्दी की ही एक बोली है, जिसपर सीमावर्त्ती बोलियों—राजस्थानी और गुजराती का प्रभाव देखा जाता है।

निमाड़ी के अध्ययन की सामग्री

मुझे निमाड़ी का अध्ययन करने के लिए उसके विभिन्न कालों की जो गद्य और पद्य-सामग्री प्राप्त हुई है, उसमें अधिकांश अमुद्रित है। इसमें सबसे प्राचीन निमाड़ के सुप्रसिद्ध सन्त 'सिंगा' के दादागुरु 'ब्रह्मगिर' की रचना है। सिंगाजी के महन्त से सन्त सिंगा के जीवन पर प्रकाश डालनेवाली जो हस्तलिखित प्राचीन पुस्तक 'सिंगा की परचुरी' प्राप्त हुई है, उसके अनुसार सन्त सिंगा की मृत्यु ९० वर्ष की अवस्था में, सं० १६६४ वि० में हुई थी। अतः इनका जन्म-संवत् १५७४ वि० होना चाहिए। इनके गुरु 'मनरंगिर' स्वाभाविक ही अवस्था में इनसे बड़े रहे होंगे और उनके गुरु ब्रह्मगिर उनसे भी बड़े होने चाहिए। यदि हम इस गुरु-परम्परा की एक-एक पीढ़ी केवल २५ वर्ष की मान लें, तो ब्रह्मगिर सिंगाजी से ५० वर्ष बड़े होते हैं और इस प्रकार उनका जन्म-संवत् १५२४ वि० के लगभग होना चाहिए। यदि उन्होंने ३० वर्ष की अवस्था में भी पद्य-रचना आरम्भ की हो, तो उनकी प्राप्त रचना सं० १५५४ वि० की हो सकती है। निमाड़ी के तत्कालीन स्वरूप का दर्शन करने के लिए उनकी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

निरगुन ब्रह्म को चीना।
जद भूल गया सब कीना॥
सोहं सबद है सार।
सब घटमूँ संचरा चार॥
जहाँ लाग रहा एक तार।
सब घटमू श्री ओंकार॥
कोई मीन-मारग ढूँढ लीना॥१॥

जिसे लाग गई आवन की।
उसे लाज नहीं दुनिया की॥
सिर चोट पड़त है घन की।
मूरख क्या जाने तन की॥
कोई फाजल हो कभी ना॥२॥

ब्रह्मगिर 'सन्त कबीर' के समकालीन हैं। उनकी उपर्युक्त पंक्तियों में भी हम कबीर का ही ढंग देखते हैं। भाषा की दृष्टि से इन पंक्तियों में सामान्य हिन्दी की प्रधानता स्पष्ट है।

मैंने निमाड़ी के विभिन्नकालीन सन्त-गायकों की रचनाओं का जो तुलनात्मक अध्ययन किया है, उससे मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यह निमाड़ी-भाषी सन्तों की शृंखला ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती गई, त्यों-त्यों उनकी रचना पर से सामान्य हिन्दी का प्रभाव कम होता गया और उसमें अधिकाधिक निमाड़ीपन आता गया। यह निमाड़ी के स्वरूप का विकास-क्रम है।

निमाड़ी की जो गद्य-सामग्री प्राप्त हुई है, उसमें सबसे प्राचीन पत्र श्रावण-कृष्ण सप्तमी, सं० १८५५ वि० का है। इस पत्र में हम आज से लगभग १६० वर्ष पूर्व का निमाड़ी का गद्य-रूप देख सकते हैं। निमाड़ी के विभिन्नकालीन उपलब्ध गद्य के तुलनात्मक अध्ययन से भी यही विदित होता है कि आरम्भ में बोलचाल की हिन्दी और निमाड़ी के रूप में नाम-मात्र का ही अन्तर था। ज्यों-ज्यों समय आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों उसमें सीमावर्त्ती बोलियों तथा उसके क्षेत्र में आकर बसे विभिन्न भाषा-भाषी परिवारों की मातृभाषा के शब्द स्थान पाते गये और सामान्य हिन्दी अथवा बोलचाल की हिन्दी को एक नया रूप प्राप्त होता गया। आज की निमाड़ी इसी क्रमिक परिवर्त्तन का परिणाम है। वर्त्तमान निमाड़ी मूलतः हिन्दी पर आधारित होते हुए भी गुजराती, राजस्थानी, मालवी, मराठी, भीली और बुन्देली का एक मिश्रण बन गई है। इसमें मालवी के शब्दों का बाहुल्य है, किन्तु मालवी, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, कोई भिन्न भाषा नहीं, वरन् पश्चिमी हिन्दी का ही एक रूप है। अतः हम कह सकते हैं कि निमाड़ी मूलतः हिन्दी पर और पर्याय से मालवी पर आधारित एक मिश्र बोली है।

निमाड़ी के सम्बन्ध में एक बात और भी उल्लेखनीय है। मैंने निमाड़ी का विभिन्न-कालीन पद्य और गद्य-सामग्री के आधार पर जो तुलनात्मक अध्ययन किया है, उससे यह स्पष्ट है कि सं० १५५४ वि० से सं० १६०० वि० तक, जिसे निमाड़ी-साहित्य का निर्गुण-धारा-काल कहा जा सकता है, इस भाषा में संस्कृत के तत्सम, अर्धतत्सम और तद्भव शब्दों की ही विपुलता रही है। मुस्लिम शासन-काल के प्रभाव-स्वरूप दो-तीन प्रतिशत अरबी-फारसी के तद्भव शब्दों को ही निमाड़ी में—विशेषकर सन्तों की वाणी में—स्थान मिल सका। ब्रह्मगिर से संत सिंगा तक के सन्तों की वाणी में लगभग ४ प्रतिशत

अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग हुआ है, शेष शब्द पश्चिमी हिन्दी के ही हैं। ब्रह्मगिर की रचना में अवश्य ही कुछ शब्द पूर्वी हिन्दी के भी आ गये हैं।

इस दोनों में मराठी और भीली भाषा के शब्दों का प्रयोग हमें सं० १८१५ वि० से और राजस्थानी तथा गुजराती शब्दों का प्रयोग सं० १८७५ वि० से मिलता है। इसमें सं० १८७५ से सं० १९६२ वि० तक राजस्थानी के शब्दों का प्रयोग लगभग ४ प्रतिशत और गुजराती के शब्दों का प्रयोग लगभग ३ प्रतिशत मिलता है। इसका कारण यही है कि इस काल में इन दोनों भाषाओं के बोलनेवाले परिवार अधिक संख्या में आकर निमाड़ी-भाषी क्षेत्र में बसे हैं। संवत् १५५४ वि० से निमाड़ी की रचनाएँ प्राप्त हैं, किन्तु हम संवत् १८७५ वि० में ही प्रथम बार निमाड़ी के लोक-गायक 'सन्त रंकदास' की रचना में राजस्थानी और गुजराती शब्दों का प्रयोग देखते हैं। इसके पूर्व के लगभग ३२५ वर्ष तक निमाड़ी में राजस्थानी के रूप तो क्या, एक शब्द भी ढूँढ़े नहीं मिलता। निमाड़ी की यह स्थिति देखते हुए उसे किसी भी प्रकार राजस्थानी की बोली कहना तर्कसंगत नहीं हो सकता।

संवत् १९६२ वि० के उपलब्ध गद्य में ८४ प्रतिशत संस्कृत के अर्धतत्सम और तद्भव शब्द, ४ प्रतिशत देशी शब्द, ८ प्रतिशत विदेशी शब्द (अरबी-फारसी के) और ४ प्रतिशत मिश्र शब्द हैं। इस काल के पद्य में संस्कृत तथा देशी शब्दों का प्रयोग बढ़ गया है और विदेशी शब्दों का प्रयोग न्यून हो गया है। इसके पश्चात् की निमाड़ी ही वास्तव में आधुनिक निमाड़ी है। इसके गद्य में लगभग ३ प्रतिशत विदेशी शब्दों के, लगभग ४ प्रतिशत राजस्थानी के, इतने ही प्रतिशत गुजराती के, २ प्रतिशत मराठी के और शेष ८७ प्रतिशत पश्चिमी हिन्दी के रूप मिलते हैं। पद्य में विदेशी शब्दों का प्रायः अभाव है और राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि के शब्दों का प्रयोग भी किंचित् ही मिलता है।

निमाड़ी की शब्द-सम्पत्ति

हमें किसी भी आधुनिक भारतीय आर्यभाषा अथवा उसकी बोली में पाँच प्रकार के शब्द मिलते हैं—संस्कृत के तत्सम शब्द, अर्धतत्सम शब्द, तद्भव शब्द, देशी शब्द और विदेशी शब्द। निमाड़ी में भी ये पाँचों प्रकार के शब्द प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु यह एक बोली है, भाषा नहीं; इसका साहित्य सर्वथा जन-साहित्य है, भाषा-साहित्य नहीं; अतः इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की संख्या अत्यल्प है। इसमें जो तत्सम शब्द मिलते हैं, वे प्रायः सन्तों की वाणी में ही हैं। आगम, अपरम्पार, एकाकार, ओंकार, कमल, गगन, मीन, घट, जीव, पत्रिका, बुद्धि, मत्सर, मुक्ति, विस्तार, माया, रवि, ब्रह्म, सोहं, त्रिकुटी, निया आदि ऐसे ही शब्द हैं।

अर्धतत्सम शब्दों की संख्या अवश्य ही तत्सम शब्दों से अधिक है; पर इसकी ...-सम्पत्ति का अधिकांश भाग तद्भव शब्दों से ही पूर्ण है। अगनी, अमरित,

अमावस, अम्मर, करम, धरम, मरम, गरम, निश्चय, निरमल, परगट, परजा, वचन, बज्जर, भरम, मारग, रोस, लगन, सास्तर, सकुन आदि निमाड़ी में प्रयुक्त अर्धतत्सम शब्द हैं। तद्भव शब्दों की संख्या अत्यधिक है।

निमाड़ी के देशी शब्दों की संख्या लगभग अर्धतत्सम शब्दों के समान ही है। वास्तव में इन्हें ही निमाड़ी के मूल शब्द कहना चाहिए। अल्याग (इस ओर), अहेलड़ी (आनेवाली), आकरी (तीखी), आखो (पूरा), ऊण्डो (गहरा), एत्तो (इतना), कणगी (बाँस की कोठी), कंदोरी (कर्धना), काचलई (चोली), खासड़ो (जूता), खुसल (खुशमिजाज), गोरड़ी (गोरे रंग की), ठापुर (घोड़े की टाप), ढाडो (मूर्ख), चिबल्ली (शरारती), चोखा (चावल), छमटी (पूँछ), जेर (विष), दोयड़ी (रस्सी), धुतड़ा (दूती), पोट्या (छोटी मटकी), बेरू (स्त्री), मांदो (बीमार), राबड़ (नर्त्तक), सेरो (पानी का झल्ला), सेंगली (फली) आदि निमाड़ी के देशी अथवा स्थानीय शब्द हैं।

निमाड़ी के कुछ क्रिया-सूचक शब्द भाव की दृष्टि से बहुत ही सूक्ष्मता के द्योतक हैं। हमें इस प्रकार के सूक्ष्म भाव व्यक्त करनेवाले शब्द अन्य भारतीय भाषाओं में बहुत ही कम मिलते हैं। उदाहरणार्थ चलने के विभिन्न प्रकार बतलानेवाले शब्द देखिए—

धमधम (पैर पटकते हुए चलना)
बागुबागु (पैरों की आवाज न होते हुए चलना)
मच-मच (पंजों पर बल देते हुए चलना)
जुगुजुगु (सँभल-सँभल कर चलना)
खस्स खस्स (पैर अधिक ऊपर उठाकर चलना)
तुरुक तुरुक (नजदीक-नजदीक पैर रखकर तेजी से चलना)
डलंग डलंग (ढीले पैरों से चलना)
डफांग भरीए (डग डालते हुए चलना)
वाकड़ो वाकड़ो (टेढ़े-टेढ़े चलना)

हँसने, बोलने, देखने, सोने आदि के विविध प्रकारों के लिए भी इसी प्रकार के अनेक शब्द हैं।

निमाड़ी में प्रयुक्त मिश्र शब्दों में दो भाषाओं के शब्दों से बने शब्द हैं। यथा—कराई-लाईक, तानोबा, बाबाराम, बेपव्यो आदि।

निमाड़ी मे प्रयुक्त अन्य भारतीय भाषाओं के शब्दों में मराठी, राजस्थानी, गुजराती और मालवी शब्द ही अधिक हैं। आन (शपथ), उंदरा (चूहा), उभा (खड़ा), उस्टी (जूठी), एवढ़ो (इतना), कवळी (कोमल), काळजी (चिंता), काळी (काली), कोण (कौन), गाई (गाय), डोळा (आँख), दग्गड़ (पत्थर), चेण्डू (गेंद), छन्द (बुरा शौक), पातळ (पतला), बायको (स्त्री), माहिती (जानकारी), लेकरु (लड़का), हाक (पुकार) आदि मराठी के शब्द हैं।

ऊँग्यो (उदय हुआ), कांई (क्या), कुकड़ो (मुर्गा), ठेकाणू (ठिकाना), छोरो (लड़का), मुलाड़सा (मुलायेंगे), बेण (बहिन), म्हारो (मेरा), आदि राजस्थानी के तथा आयो (देखो), कीदा (किया), केम (क्यों), छे (है), जिण (जिन), जेवी (जिसकी), तड़ाय (पहचानो जाय), तणे (पास), तमे (तुम्हारी), दीदा (दिया), पछी (पीछे) आदि निमाड़ी में प्रचलित शब्द गुजराती हैं। मालवी के शब्दों में अड़माप, अमरपट्टो, आदो, कंकोतरी, तीस (प्यास), फेरा, वाण्यो, मंगता, कोरा, खिन, दीठ, सांज आदि हैं।

विदेशी भाषा के शब्दों में से अरबी, फारसी, तुर्की, अँगरेजी और पुर्तगाली भाषा के कुछ शब्दों का प्रयोग वर्त्तमान निमाड़ी में मिलता है, किन्तु इन शब्दों का प्रयोग उनके तद्भव-रूप में ही हुआ है। यथा—

अरबी के शब्द—अकल, इजहार, इतवार, इलाको, काबिज, कबूल, कसूर, गरज, जरीवाना, जुरम, नसीब, फौज, बरकत, मरज, रइयत आदि।

फारसी के शब्द—अगर, अरदास, उजर, कागद, चसमो, जखम, जबर, जवान, तावीज, दरखास, नगदी, नालिस, पेसगी, फिकर, रोजी आदि।

तुर्की के शब्द—कलगी, काबू, गलीचो, चकमक, तमगो, तोप, दरोगा, मुचलको आदि।

अँगरेजी के शब्द—अरदली, आडर, इसकुल, कमीसन, कारट, कुमेटी, टिकट, टेम (टाइम), ठेसण (स्टेशन), डिगरी, जाकट, फारम, बकस, बालिस्टर, बोरड, मास्तर, रपोट, रसीद, लैन (लाईन), लोटिस (नोटिस) आदि।

पुर्त्तगाली के शब्द—अलमारी, अलपीन, कमान, किरस्तान, पादरी, बालटी, लिल्लाम आदि।

निमाड़ी की अन्तर्गत बोलियाँ

कहा जाता है कि प्रत्येक योजन पर बोली बदलती है; अतः इस विशाल क्षेत्र में सर्वत्र निमाड़ी का एक ही रूप सम्भव नहीं है। इस क्षेत्र में देखे जानेवाले निमाड़ी के भिन्न भिन्न रूपों को इसकी अन्तर्गत-बोलियाँ अथवा उपबोलियाँ ही कहना चाहिए। इन उपबोलियों का एक-एक निश्चित क्षेत्र तो निश्चित नहीं किया जा सकता, पर इनका विभाजन स्थानगत और जातिगत रूपों में अवश्य किया जा सकता है।

स्थानगत रूप की दृष्टि से हम पूर्ण निमाड़ी-भाषी क्षेत्र को उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी, पश्चिमी और मध्य भाग में विभाजित कर सकते हैं। उत्तरी भाग की सीमावर्ती बोली मालवी है, जिससे इस भाग में बोली जानेवाली निमाड़ी में मालवी के शब्दों का अधिक मिश्रण मिलता है। इस भाग में निमाड़ी के सम्प्रदान कारक की विभक्ति 'काजेस' मालवी के अनुसार 'वास्ते' तथा करण और अपादान की विभक्ति 'सी', 'से' उपयोग [illegible] है। उत्तर-पूर्वी भाग में बुन्देली के प्रभाव के कारण 'काजेस' के स्थान पर

'का लाने' का भी प्रयोग सुनाई पड़ता है। इसी प्रकार भूतकालीन क्रिया 'थो' के स्थान पर 'हतो' का प्रयोग मिलता है।

निमाड़ी-भाषी क्षेत्र की दक्षिणी सीमा से खानदेशी-भाषी क्षेत्र आरम्भ होता है, जिससे दक्षिणी भाग की निमाड़ी में खानदेशी के पर्याय से मराठी के शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है। इस क्षेत्र की पूर्वी सीमा से बुन्देली का क्षेत्र आरम्भ होता है। इस सीमा से आरम्भ होनेवाली होशंगाबाद जिले की हर्दा तहसील की भाषा वास्तव में बुन्देली है, पर निमाड़ी के मिश्रण से उसका एक अजीब रूप हो गया है। वहाँ के लोग इस मिश्रित रूप को 'भुवाने की बोली' कहते हैं। बुन्देली के प्रभाव से पूर्वी निमाड़ में बुन्देली-प्रभावित निमाड़ी बोली जाती है। इस भाग की निमाड़ी में जुगत, जोत, सुओ, दानो, काज, एको, दादो आदि शब्दों का प्रयोग बुन्देली के प्रभाव का ही परिणाम है। निमाड़ी का प्रथमपुरुष एकवचन सर्वनाम 'हऊँ' तथा द्वितीय पुरुष एकवचन का षष्ठी रूप 'थारो' इस भाग में नहीं सुना जाता। निमाड़ी की सम्प्रदान की विभक्ति 'कालेण' के स्थान पर भी 'के लाने' का प्रयोग किया जाता है। निमाड़ी के काच, आच, ऊट, ईट, आचल, ऊचो आदि निरनुनासिक उच्चरित शब्द इस भाग में सानुनासिक उच्चरित होते हैं।

निमाड़ी-भाषी क्षेत्र की पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तर सीमा से भीली-भाषी भाग आरम्भ होता है; अतः इस भाग की निमाड़ी पर भीली का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इस प्रभाव के कारण इस भाग की निमाड़ी में हमें भीली शब्द—डेडर (मेंढक), मुंडो, (मुँह), एंडानो (चिल्लाना), खुनुस (गुस्सा), जरांका (मालदार), परवाड़ (मोट का मुँह) आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। दूसरे आदर्श निमाड़ी (Standard Nimadi) में क्रिया के भविष्यकालीन प्रत्यय गा, गो हैं, पर पश्चिमी निमाड़ी में गुजराती के अनुसार 'से', 'सी' प्रत्ययों का प्रयोग होता है। ये ही प्रत्यय भीली के भी हैं।

पश्चिमी निमाड़ी की एक विशेषता और भी है। इस भाग की निमाड़ी के षष्ठी रूप म्हारो, थारो तथा अन्य अनेक शब्दों से हकार का लोप हो गया है। इस प्रकार म्हारो के स्थान में मारो तथा थारो के स्थान में तारो शब्दों का प्रयोग होता है।

खरगोन से खण्डवा तक का भाग इस क्षेत्र का मध्य भाग है। यह भाग सीमावर्ती बोलियों के प्रभाव से अछूता है। अतः इसी भाग के निमाड़ी को *'आदर्श निमाड़ी'* कहना चाहिए, जिसे हम इस भाग में निवास करनेवाले नगर-निवासियों से नहीं, वरन् ग्रामों के वृद्धों और स्त्रियों से सुन सकते हैं।

निमाड़ी के जातिगत रूपों के अन्तर्गत इस निमाड़ी-भाषी क्षेत्र में बसी विभिन्न जातियों द्वारा बोली जानेवाली निमाड़ी पर विचार किया जा सकता है। भील, भिलाले, बंजारे आदि आदिवासी ही इस क्षेत्र के मूल निवासी हैं। शेष सभी जातियाँ बाहर से आकर इस क्षेत्र में बसी हैं। उनकी अपनी मातृभाषाएँ हैं, पर सार्वजनिक रूप से ये सब जातियाँ निमाड़ी ही बोलती हैं, जिसपर उनकी मातृभाषा का प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है। भील,

भिलालों और बंजारों द्वारा बोली जानेवाली निमाड़ी में भीली शब्दों के अतिरिक्त मुण्डा-परिवार की कुछ भाषाओं के भी शब्द रहते हैं। राजपूतों तथा राजस्थान-वासियों द्वारा बोली जानेवाली निमाड़ी राजस्थानी की बोलियों—मारवाड़ी, मेवाड़ी और खड़ी जयपुरी—से प्रभावित होती है। नार्मदीय ब्राह्मणों द्वारा बोली जानेवाली निमाड़ी में मराठी के शब्दों का अधिक प्रयोग मिलता है। उत्तर-भारतीय ब्राह्मणों तथा अग्रवालों द्वारा बोली जानेवाली निमाड़ी में खड़ी बोली के शब्द अधिक होते हैं। सौराष्ट्र से आकर बसे नागर और औदीच्य ब्राह्मणों तथा गुजरों और गुजराती तेलियों एवं कुन्बियों की निमाड़ी पर गुजराती का अधिक प्रभाव देखा जाता है। इसी प्रकार मुसलमानों और जुलाहों द्वारा बोली जानेवाली निमाड़ी में अरबी-फारसी के तद्भव शब्दों तथा नगरों के अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों की निमाड़ी में हिन्दी के अतिरिक्त अँगरेजी के शब्दों का भी मिश्रण रहता है।

निमाड़ी के सामान्य लक्षण

(१) देवतावाची और अधिकारवाची शब्दों का प्रयोग बिना किसी विकार के होता है। यथा—हनुमान, नारद, राजा, साहेब आदि।

(२) आकारान्त संज्ञा, विशेषण और सामान्य क्रिया के रूप ओकारान्त होते हैं। यथा—घड़ो, छोरो, काको, अच्छो, गानो, बजानो आदि।

(३) ब्रज और बुन्देली की तरह निमाड़ी के भी बहुवचन-रूप एकवचन के आगे 'न' प्रत्यय लगाने से बनते हैं। यथा—छोरी—छोरीन, घर—घरन, अदमी—अदमीन आदि।

(४) निमाड़ी के कारकों के परसर्ग हिन्दी से कुछ भिन्न निम्नलिखित प्रकार के हैं—

कर्त्ता—न—रामन। कर्म—ख—रामख।
करण—स अथवा सी—घरस, घरसी।
सम्प्रदान—ख, कालेण—छोरा ख, छोरा कालेण।
अपादान—स अथवा सी (करण की तरह ही)
सम्बन्ध—का, को, की ...अदमी का, अदमी को, अदमी की।
अधिकरण—म, पर, उप्पर—घर म, घर पर, घर का उप्पर।
संबोधन—अरे, ओ—अरे पोर्‍या, ओ दाजी!

(५) निमाड़ी के सामान्य वर्तमानकाल के रूप धातु के आगे 'ज' प्रत्यय लगाने से बनते हैं। यथा—लिखज, जावज, करज आदि।

(६) भविष्यत्कालीन क्रियाओं के एकवचन रूप धातु के आगे 'गा' अथवा 'से' प्रत्यय लगाने से बनते हैं। यथा—जावगा, जासे; करगा, करसे आदि। 'से' वास्तव में गुजराती का प्रत्यय है, जो निमाड़ी में रूढ़ हो गया है।

(७) निमाड़ी के सामान्य भूतकाल के एकवचन रूप ब्रज और बुन्देली की तरह [illegible] होते हैं। यथा—गयो, लग्यो, मार्‍यो आदि।

(८) सामान्य भूतकाल के बहुवचन रूप ओकारान्त से आकारान्त हो जाते हैं। यथा—उभा, रह्या, गया, कह्या आदि।

(९) क्रिया की धातु में 'ईन' प्रत्यय लगाने से निमाड़ी की पूर्वकालिक क्रिया के रूप बन जाते हैं। यथा—उठईन (उठाकर), कहीन (कहकर), लिखीन (लिखकर) आदि।

(१०) निमाड़ी के स्थानवाची क्रियाविशेषण के कुछ रूप हिन्दी की अन्य बोलियों से भिन्न अपने हैं। यथा—अल्यांग (इस ओर), वल्याग (उस ओर), कल्यांग (किस ओर), पल्याग (आगे की ओर)। कुछ रूप ब्रज और बुन्देली की तरह ही हैं। यथा—ह्याँ, व्हाँ, काँ आदि।

(११) निमाड़ी में 'नी' का प्रयोग निषेधात्मक क्रियाविशेषण के रूप में होता है। यथा—ऊ नी आयो (वह नहीं आया)।

(१२) निमाड़ी के बहुवचन प्रत्यय 'न' का प्रयोग संयोगी समुच्चयबोधक अव्यय के रूप में भी होता है। यथा—राजा न रानी आया था (राजा और रानी आये थे)।

(१३) ब्रज और बुन्देली की तरह निमाड़ी में भी हकार के लोप की प्रवृत्ति देखी जाती है। यथा—कहो—कयो, रहा—रयो; हाथ—हात, महीना—मयना आदि।

(१४) निमाड़ी में हिन्दी की अन्य बोलियों से भिन्न अनेक स्थानों में 'ल' के स्थान पर मराठी के 'ळ' वर्ण का प्रयोग होता है। यथा—फल—फळ, काल—काळ, नीला—नीळो आदि।

(१५) निमाड़ी में अधिकांश सानुनासिक आद्य वर्ण निरनुनासिक उच्चरित होते हैं। यथा—दाँत—दात, ऊँट—ऊट, बाँस—बास, सँवारना—सवारनो आदि।

निमाड़ी की प्रवृत्ति

निमाड़ी में मुख्य दो प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से देखी जाती हैं। एक तो अन्य लोकभाषाओं की तरह निमाड़ी में अधिकांश तत्सम शब्दों का प्रयोग तद्भव रूप में ही होता है। यथा, सन्ध्या—साँज, ईश्वर—इसवर, ब्राह्मण—बामन, कार्य—काज, क्रोध—क्रोध, ज्योतिषी—जोसी आदि।

दूसरे, निमाड़ी के अनेक शब्दों में हमें द्विरुक्ति की प्रवृत्ति मिलती है। यथा—कुटकुट, कुडकुड, गमगम, गटगट, धमधम, टपटप, डगडग, चटचट, धड़धड़, पटपट, बड़बड़, मनमन आदि।

निमाड़ी का साहित्य

निमाड़ी का साहित्य तीन रूपों में उपलब्ध है—मुद्रित, अमुद्रित और मौखिक। इनमें से मुद्रित साहित्य बहुत कम है। मुद्रित से अधिक अमुद्रित और सबसे अधिक मौखिक साहित्य है।

१. मुद्रित साहित्य

मुद्रित साहित्य में दृढ उपदेश, सिंगाजी की परिचरिया, सलिता नो याग, श्रीर रंकनाथपदावली, दीनदासपदावली, निमाड़ी लोकगीत श्रौर श्रनामी सम्प्रदाय के उपलब्ध हैं। इनमें सलिता नो याग, रंकनाथपदावली, दीनदासपदावली तथा लोकगीत—ये पुस्तकें ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनके श्रतिरिक्त निमाड़ी की कुछ रचनाएँ सुधार-वाणी' तथा पाक्षिक 'निमाड़' में भी समय समय पर प्रकाशित होती रही हैं। साहित्य के प्रकाशन की दृष्टि से मंडलेश्वर से प्रकाशित होनेवाला 'पाक्षिक निम चार वर्षों से महत्त्वपूर्ण सेवा कर रहा है। उस पत्र से निमाड़ी भाषी तरुण को विशेष प्रोत्साहन मिल रहा है।

२. श्रमुद्रित साहित्य

निमाड़ी-भाषी क्षेत्र के कुछ स्थानों में इसका श्रमुद्रित साहित्य उपलब्ध है, जो प्रकार के गीतों, पदों, लावनियों, भजनों श्रौर कलगी-तुर्रे के ढंग के गीतों से ही पू इस साहित्य में सर्वाधिक साहित्य संत सिंगा का है। मुझे सिंगाजी के वर्तमान म सिंगाजी का जो हस्तलिखित साहित्य प्राप्त हुआ है, उसमें भागवत महापुराण द्वादश महिम्नस्तोत्र, सिंगाजी को दृढ उपदेश, जयदेव महाराज की श्राठरपद, पद्रतीत, श्र सिंगाजी, बाणावद्दे, श्रात्मध्यान, जाप श्रौर नराज नामक पुस्तकें हैं। इनमें म महापुराण द्वादश स्कन्द तथा सिंगाजी को दृढ उपदेश बड़ी पुस्तकें हैं। प्रथम दोहा-चौपाई के सात श्रध्यायों में श्रौर द्वितीय पुस्तक २०१ पदों में रचित हैं। श्रतिरिक्त सिंगाजी द्वारा रचित गीतों (भजनों) की संख्या एक सहस्र से भी अधिक ब जाती है, किन्तु इन गीतों की कोई लिपिबद्ध पुस्तक प्राप्त नहीं है। कुछ गीत सिं के भक्तों के पास यत्र-तत्र लिखे मिलते हैं। मुझे अपने अनुसंधान में ऐसे लगभग गीत प्राप्त हुए हैं।

सिंगा-साहित्य के पश्चात् सिंगा-सम्प्रदाय के साहित्य का क्रम है। इस साहि सन्त दलूदास श्रौर सन्त धनजीदास की रचनाएँ प्रमुख हैं। दलूदास के भक्ति-सम्ब स्फुट पद ही मिले हैं। धनजीदास के स्फुट पदों के अतिरिक्त अभिमन्यु का सुभद्राहरण, लीलावती तथा सेठ तारनसा महाजन की कथा भी उपलब्ध है।

साधू फकीरानाथ-रचित गउलीला, भीलनीचरित्र, कथा मोतीलीला तथा कथा विदा भी निमाड़ी के हस्तलिखित साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके अतिरिक्त निमाड़ी जो अमुद्रित साहित्य प्राप्त है, उसमें महाभारतकथा, नरसिंगकथा, रुक्मिणी का ब्या नागमंथनलीला, श्रीकृष्णचन्द्र की बारामासी श्रौर संमनकथा उल्लेखनीय हैं।

महाभारत-कथा सम्भवतः निमाड़ी में रचित सबसे बड़ा ग्रन्थ है। यह लगभग सात पदों के श्रठारह पर्वों में लिखा गया है। इसका रचयिता 'हालू' नामक कोई लोककवि है नरसिंग-कथा ६ भजनों में लिखी गई है। प्रत्येक भजन में ४ से २८ तक पद हैं भजनों की अन्तिम पंक्तियों से इसका रचयिता कोई 'नरोत्तमदास' जान पड़ता है।

'रुक्मिणी का ब्याह' २२ गीतों में रचित पुस्तक है। इसके मंगलाचरण के पद में रचयिता का नाम 'दलू' आया है, शेष गीतों के अन्त में किसी का नाम नहीं है। सम्भव है, यह सिंगा-सम्प्रदाय से सम्बन्धित दलूदास की रचना हो। शेष पुस्तकें बहुत छोटी हैं। इनमें से कृष्णचन्द्र की बारामासी पुस्तक में कृष्ण-वियोग में गोपियों की व्यथा का वर्णन बारह मासों के क्रम से बहुत सुन्दर ढग से किया गया है। रचयिता के नाम के स्थान में 'सूरदास' लिखा है। पर कृष्ण-काव्य के गायक महाकवि सूरदास इसके रचयिता नहीं हो सकते। निमाड़ी में अनेक ऐसे गीत मिलते हैं, जिनके अन्त में कबीर, सूरदास, तुलसीदास, मीरा आदि के नाम जुड़े हैं, पर ये गीत इन कवियों के द्वारा रचित नहीं कहे जा सकते। ऐसा जान पड़ता है कि इनकी विशेष प्रसिद्धि के कारण ही गीतकारों ने इनके नाम अपनी रचनाओं के अन्त में जोड़ दिये हैं।

३. मौखिक साहित्य

निमाड़ी के मौखिक साहित्य में गीत, गाथाएँ, लोककथा, लोकोक्तियाँ, मुहावरे, सूक्तियाँ, पहेलिकाएँ आदि सभी हैं। यदि परिश्रम के साथ इनका संग्रह कर इन्हें प्रकाशित कराया जाय, तो हिन्दी-साहित्य की शृंखला में एक अत्यन्त मूल्यवान् कड़ी जुड़ सकती है। इस दिशा में अभीतक जो प्रयत्न किया गया, वह इस साहित्य की विशालता को देखते हुए नाममात्र का ही समझा जा सकता है। मैंने निमाड़ीभाषी क्षेत्र के पाँच बार के भ्रमण में लगभग दो सौ स्त्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न अवसरों पर गाये जानेवाले गीत, लगभग इतने ही पुरुषों द्वारा गाये जानेवाले गीत, लगभग तीन सौ सिंगाजी, दलूदास, धनजीदास आदि संत गायकों द्वारा रचित कहे जानेवाले गीत, लगभग डेढ़ सौ अनामी सम्प्रदाय के संतों द्वारा रचित पद, बीस लोकगाथाएँ, सौ से अधिक लोककथाएँ, लगभग चार सौ लोकोक्तियाँ, इतने ही मुहावरे और लगभग सौ पहेलिकाएँ एकत्र की हैं। इनमें से प्रत्येक के कुछ उदाहरण लीजिए।

(क) गीत

गीतों में संत गायकों द्वारा रचित निर्गुण और सगुण उपासना से सम्बन्धित गीतों के अतिरिक्त विविध संस्कारों और सामाजिक समारोहों के अवसर पर स्त्री-पुरुषों द्वारा गाये जानेवाले गीत, धार्मिक पर्वों के गीत, ऋतु-सम्बन्धी गीत, जीवन-गीत, शिशुगीत आदि सभी प्रकार के गीत हैं[१]। निर्गुण और सगुण उपासना से सम्बन्धित गीतों में कुछ उच्चकोटि के हैं। उदाहरणार्थ संत सिंगा-रचित एक गीत देखिए—

पिया राम रस प्याला, हरिजन मतवाला ॥
मूल कमल पर बन्द लगाया, उलटी पवन चलाई।
जरा मरण भव व्यापे नाही, सतगुरु सेन चलाई ॥
धरणी नहिं, जहाँ मन्दिर दीसे, बिन सरवर जहाँ पानी।
बिन दीपक मन्दिर उजियालो, सतगुरु बोलउ बानी ॥

१. लेखक की 'निमाड़ी के लोकगीत' पुस्तक देखिए।

ईगला पिंगला सुखमन मिलके, उनी सुनी घर आया ।
अष्ट कमल सें उलट देखो, जहाँ साहेब अलबेला ॥
सूरज चन्द्र एकहि घर आया, सूना मन समझाया ।
कहे जन सिंगा सुनो भाई साधु, मखरी न भंग लगाया ॥

यह संत कबीर की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करनेवाला निमाड़ी के श
संत सिंगा का गीत है ।

सगुणोपासक संत दीनदास का एक पद इस प्रकार है—

मन, रघुवर क्यों नहीं गावऽ हरि छोड़ि अवर कम भावऽ रे ॥
गयो कुपथ करि दुरजन-संगत, लघु लालच-सा धावऽ रे ।
कल्पवृक्ष सो संत समागम, अरथ रामरस भावऽ रे ॥
यदु साधन फल देनु न करि मैऽ, राम करि वय-स गमावऽ रे ।
नाम-सुधा सारि त्यागि करि फेऊँ, तू मृगजल-स धावऽ रे ॥
सन्त कल्पतरु अविचल छाया, सो तरु पर नहिं जावऽ रे ।
मन अभिमान मोह ग्रह बांधिन, चुमतो ज्ञान छुपावऽ रे ॥
सुर नर नाग असुर नृप संनिध, जान न कोई गुड़ावऽ रे ।
दीनदास आलसी कुपात्र-से, राम का पेट समावऽ रे ॥

संस्कारों तथा जीवन के विविध क्रिया-कलापों से सम्बन्धित गीतों की संख्या वि
कोई ऐसा संस्कार और मानव-जीवन से सम्बन्धित कार्य नहीं, जिस पर निमाड़ी-सा
कोई गीत उपलब्ध न हो । सभी गीत एक से-एक सुन्दर भावात्मक हैं । एक स
विवाह-गीत की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

वधू—*बना, थारो देस देख्यो न मुलुक देख्यो;*
काई थारा देस को रहवास ?
बनड़ाजी धीरा चलो, धीरा चलोजी सुकमार ॥

वर—*बनी म्हारो देस मालवो, मुलुक निमाड़,*
गावड़ा को छे रहिवास ।
बनी, म्हारा घर घर कुवा न चौक बावड़ी;
गाव मऽ रतन तलाव,
बनी तुम घर चलो, घर चलोजी सुकमार ॥

वधू—*बना, थारो देस देख्यो न मुलुक देख्यो;*
काई थारा देस को जिमणार ?
काई थारा देस को पैरवास ?
बनाजी धीरा चलो, धीरा चलोजी सुकमार ॥

वर—*बनी, म्हारा ज्वार तुवर का खेत घणा,*
घीव दूध की छे भरमार ।

म्हारा घर घर रहट्यो चलावणो;
काचलई लुगड़ा को छे पेरवास ।
वनी तुम घर चलो, घर चलोजी सुकमार ॥

लोकगीत केवल सरस, मधुर और मनोरंजक ही नहीं होते; अनेक गीत काव्य की दृष्टि से भी बहुत उच्चकोटि के होते हैं। उदाहरणार्थ, निमाड़ी का एक गनगौर—सम्बन्धी-गीत देखिए। इसका नख-सिख-वर्णन भाषा-साहित्य से किसी प्रकार कम आकर्षक और मूल्यवान् नहीं है। लोककवि की कल्पना और अलंकार-विधान देखकर आप मुग्ध हो जायँगे। गीत इस प्रकार है—

हाँ ये म्हारी[1] गोरल,[2] सीस वागड़ियो[3] नारेल[4] ये।
तलवाट[5] उग्यो[6] सूरज, गोरी गोरल न ईसर सावलो[7] ॥
मुखड़े तो चन्द्र पवासिया,[8] नाक सुवा की चोच ये।
हाँ ये म्हारो गोरल भवरा[9] तो भवर[10] भवी [11] रह्या ॥
आखी अम्बा[12] की फाक ये, गोरी गोरल न ईसर सावळो ॥
जीभ कमड़ की फाकड़ी,[13] दात दाड़िम का बीज ये।
हाँ ये म्हारी गोरल, दाता तो मिस्सी रची रई।
मुखड़ो रचो ये तमोल,[14] गोरी गोरल न ईसर सावला ॥
खांदा[15] कलस[16] ढुली रह्या, हात चम्पा की डाल[17] ये।
हाँ ये म्हारी गोरल पेट पवन का पान ये।
हिवड़ा[18] तो संचे[19] ढालिया, गोरी गोरल ईसर सावलो ॥
मूंगफली-सी आंगड़ी[20] पोंचो सो भीनी लोघ ये।
हाँ ये म्हारी गोरल, जाँघ देउल[21] का खम्भ ये।
पिन्ड्या[22] तो बेलन बेलिया, गोरी गोरल ईसर सावळो ॥

गीत का भावार्थ इस प्रकार है—

"मेरी गौर का सिर बड़े नारियल की तरह है। ललाट उदय होते सूर्य की तरह जान पड़ता है। गौर गोरी और उसके पति साँवले हैं। मुख पूर्णिमा के चन्द्र-सा सुन्दर, नाक तोते की चोंच-सी सुघर है। उसकी भौंहें देखकर भ्रमरों का भ्रम हो जाता है। मेरी गौर की आँखें कच्चे आम की फाँकों के समान, जीभ कमल की पँखुरी-सी सुन्दर और दाँत अनारदानों के समान सुगठित हैं। मेरी गौर ने अपने दाँतों में मिस्सी लगा रखी है और उसके मुँह में पान रचा हुआ है। उसके कंधे ऐसे जान पड़ते हैं, मानों, दोनों ओर कलश ढुल रहे हों। हाथ चम्पे की डालियों की तरह सुन्दर और पेट वायु के पंखे की

१. मेरी, २. गौर (पार्वती), ३. बड़ा, ४. नारियल, ५. ललाट, ६. उदय, ७. साँवला, ८. पूर्णिमा, ९. भौंह, १०. भ्रमर, ११. भ्रम में पड़ना, १२. आम, १३. पँखुरी, १४. पान १५. कंधा, १६. कलश, १७. डाली, १८. हृदय, १९. साँचा, २०. अँगुलियाँ, २१. मन्दिर, २२. पिंडलियाँ।

जाता है। [illegible]

[illegible] ईश्वर [illegible] कल्पना के दर्शन कीजिए। एक [illegible] अपने पति से कहती है—

> सुक को तारो रे ईश्वर चमकी रह्यो,
> मेरी मगाइ टीकी घड़ाव।
> धुर की बदली रे ईश्वर झुकी रही,
> मेरी मगाइ लहँगो रँगाव।
> सरग की बिजली रे ईश्वर कड़की रही,
> मेरी मगाइ किनोरी लगाव।
> नौ लख तारा रे ईश्वर चमकी रह्या,
> मेरी मगाइ आँगिया सिवाव।
> चाँद सूरज रे ईश्वर ऊगी रह्या,
> मेरी मगाइ टुकी लगाव।
> वासुकी नाग रे ईश्वर देखाई रह्यो,
> मेरी मगाइ बेनी गुथाव।

वह कहती है—"हे पतिदेव! आकाश में शुक्र-तारा चमक रहा है, उसकी मुझे टिकली बनवा दीजिए। यह धुर के पास जो बदली छाई हुई है, उससे मेरी साड़ी रंगवा दीजिए। उस साड़ी में स्वर्ग में कड़कनेवाली बिजली की किनारी लगवा दीजिए। आकाश में चमकनेवाले नौ लाख तारों की मुझे चोली बनवा दीजिए और उस चोली में चन्द्र और सूर्य की टुकड़ी लगवा दीजिए। यह जो वासुकी नाग दिखाई दे रहा है, उससे मेरी बेनी गुथवा दीजिए।" इस गीत में वास्तव में प्रकृति के विराट् शृंगार की कल्पना है।

(ख) लोककथाएँ

निमाड़ी में अनेक प्रकार की लोककथाएँ प्रचलित हैं। हम इन कथाओं को उनके विषय के अनुसार नौ प्रकारों में विभाजित कर सकते हैं—व्रत-कथाएँ, पशु-पक्षियों से सम्बन्धित अथवा पंचतंत्रीय कहानियाँ, परियों की कहानियाँ, जादू की कहानियाँ, वीरता और साहस की कहानियाँ, साधु-फकीरों की कहानियाँ, ऐतिहासिक कहानियाँ, नीति और सिद्धांत-सम्बन्धी कहानियाँ तथा अन्य कहानियाँ[१]।

---

१. लेखक द्वारा सम्पादित 'निमाड़ी की लोककथाएँ' भाग १ और २ (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली द्वारा प्रकाशित) देखिए।

व्रत-कथाओं में वे कहानियाँ हैं, जो स्त्रियों द्वारा किये जानेवाले भिन्न-भिन्न व्रतों के अवसर पर कही और सुनी जाती हैं। प्रत्येक कथा का अपना-अपना महत्त्व है और व्रत करनेवाली स्त्रियों का उन्हें कहना या सुनना आवश्यक माना जाता है। धर्मराज की कथा, हेमराज की कथा, छठी माता, सेली सातव, बोज बारस तथा दीवाली की कथाएँ इसी प्रकार की हैं। वास्तव में निमाड़ी की ये व्रत-कथाएँ ही मौलिक हैं। निमाड़ी क्षेत्र में प्रचलित धर्मराज की कथा इस प्रकार है—

"एक डोकरी थी। वरत-नेम करती थी। करत-करत मरी गई। भगवान घर गई। वहाँ धर्मराज-न ओखऽ पूछ्यो—तू नऽ वरत कर्‌या, पर धर्मराज को वरत तो कर्‌यो नी। ये यासी तू पाछी जाइन म्हारो वरत कर। डोकरी वापस आई। ओंकार महाराज की पुन्नो-सी वरत लई लियो। दरोज वार्त्ता कथा कर। बारा मयना पूरा हुआ। एक दिन बामन को भेष लईन भगवान गोह्या पर उभ्या था। एतरा-म डोकरी पोइची। भगवान-न पूछ्यो—माय, तू काँ जाई रईन? कयो बेटा, हऊँ धर्मराज का जोड़ा-ख न्यूतो देण जाई रईज। भगवान-न कयो, हम-ख न्योतो दईज, हम विंदराबन-सी अई जाऊंगा। डोकरी तब हो कईन वापस आई गई। रोटी-पाणी करी। भगवान राधाजी-ख सात-म लईन डोकरी घर जीमण आया। जीमण का बाद डोकरी-न संपूरण बाण दियो। डोकरी थोका बाद पाच पाय जाईन भगवान का पोयचई आई। घर आईन बठी थी न विमाण आयो। विमाण-म बठीन गई न बैकुण्ठ चली गई। ओ-ख धरमराज महाराज जसा तुस्टवान भया, वसा सब-ख होय।"

निमाड़ी में प्रचलित पशु-पक्षियों की कहानियाँ पंचतंत्र के ढंग की कहानियाँ हैं। लॉ-फाउण्टेन ने इन कहानियों को आदिम मानव की प्रथम सूझ कहा है। ये कहानियाँ ईसप की कहानियों के रूप में संसार के अनेक देशों में सुनी जाती हैं। निमाड़ी में कही जानेवाली इन कहानियों में कुछ पंचतंत्र अथवा ईसप की कहानियों के निमाड़ीकरण तथा कुछ परिवर्तित रूप में मिलती हैं। कुछ इन कहानियों के आधार पर गढ़ी गई नई कहानियाँ भी हैं। *सियार की गवाही, मनुष्य की स्वार्थपरता, पृथ्वी-आकाश का ब्याह*, सौदागर का बेटा आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं।

परियों की कहानियों में स्वर्ग की परियों का विभिन्न वेश में पृथ्वी पर आना और उनका किसी राजा या राजकुमार आदि से प्रेम करना बतलाया गया है।

जादू की कहानियों में अन्य भारतीय लोकभाषाओं में प्रचलित कहानियों की तरह चमत्कार की प्रवृत्ति विशेष रूप से देखी जाती है। एक दिन को राजा, जादू की अंगूठी आदि निमाड़ी की ऐसी ही कहानियाँ हैं।

निमाड़ी में जो वीरता विषयक कहानियाँ प्रचलित हैं, ...नी में गाय और शेरनी से मनुष्य के बच्चे होने की भी कहानी ... विवाह दो राजकुमारियों से होता है। साधू-फकीरों ... ...रिव के अनुसार उनमें अधिक ... ऐतिहासिक

कहानियों में टंटिया भील, सादुल्ला डाकू आदि क्षेत्रीय कहानियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके सिवाय अश्वत्थामा की भी एक कहानी है, जिसका निमाड़ जिले के असीरगढ़ किले में अभी भी होना बतलाया गया है। नीति और सिद्धांतविषयक कहानियों में परोपकार, सत्य, अहिंसा, गो-सेवा आदि के महत्त्व के अतिरिक्त नीति के विपरीत आचरण करनेवालों की दुर्दशा दिखाई गई है। अन्य कहानियाँ विचित्रताओं से पूर्ण हैं।

मानव-प्रवृत्तियों का स्वाभाविक चित्रण, जातिगत स्वभाव का चित्रण, भारतीय लोक-भावनाओं का प्रतिनिधित्व, भाग्यवाद का समर्थन, मानव का मानवेतर प्राणियों से जन्म, विवाह आदि विचित्र घटनाओं का समावेश, अन्ध परम्पराओं की मान्यता तथा नीति-तत्त्वों का समावेश निमाड़ी की लोक-कथाओं की विशेषताएँ हैं। निमाड़ी की व्रत-कथाओं के अतिरिक्त अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं, जो अन्य भारतीय एवं अभारतीय भाषाओं में भी मूल-रूप में अथवा किंचित् परिवर्त्तन के साथ वर्त्तमान हैं।

(ग) लोकोक्तियाँ

निमाड़ी में जो लोकोक्तियाँ उपलब्ध हैं, उनका काल-विभाजन तो सम्भव नहीं है, पर विषय-विभाजन की दृष्टि से यह अवश्य कहा जा सकता है कि उनसे मानव-जीवन का कोई क्षेत्र अछूता नहीं है। निमाड़ी की लोकोक्तियों का क्षेत्र विशाल है। उनमें प्राचीन संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध लोकोक्तियों से लेकर वर्त्तमान विचारधारा की समर्थक लोकोक्तियाँ तक वर्त्तमान हैं। रूप के अनुसार इन लोकोक्तियों का वर्गीकरण पाँच श्रेणियों में कर सकते हैं :—

१. **प्राचीन संस्कृत-साहित्य पर आधारित लोकोक्तियाँ**—सन्दीप्ते भवने यद्वत्कूपस्य खननं—आग लगना पर कुवा खोदनो, न क्षुधार्त्तोऽपि सिंहस्तृणञ्चरति—सेर-ख मास न बदल-ख घास आदि।

२. **मध्यकालीन हिंदी काव्य पर आधारित**—निमाड़ी में ऐसी अनेक लोकोक्तियाँ हैं, जिनका प्रयोग हमें मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में मिलता है। यथा—जाको राखे साइयाँ, मारि सकै नहीं कोय (हिन्दी)—जे-खऽ रामजी राखऽ, तेखऽ कोई नी चाखऽ (निमाड़ी), चलना भला न कोस का, बेटी भली न एक (हिन्दी)—एक बेटी, कपार ठोकी (निमाड़ी) आदि।

३. **अनुवादित लोकोक्तियाँ**—निमाड़ी की अधिकांश लोकोक्तियाँ ऐसी हैं, जो अन्य भारतीय भाषाओं में भी प्रचलित हैं। अतः ऐसी लोकोक्तियों को अनुवादित कहना ही उचित है। धोबी को कुत्तो घर को न घाट को, एक दुबली न दुई अषाड़, घरम की गाय का दांत काई देखणू आदि इसी प्रकार की लोकोक्तियाँ हैं।

४. **मौलिक लोकोक्तियाँ**—निमाड़ी में मौलिक लोकोक्तियों की भी न्यूनता नहीं है। ये वास्तव में क्षेत्रीय लोकोक्तियाँ हैं, जिनका प्रचलन निमाड़ी-भाषी क्षेत्र के बाहर प्रायः नहीं देखा जाता। इनमें कुछ लोकोक्तियाँ ऐसी हैं, जिनमें हमें समान गुण, कार्य,

स्वभाव आदि की तुलना मिलती है। ओको रंग कसो ? माइ को कोयला जसो, दोई रयज कसी ? सौक सादड़ जसी, जसा तुम तसा हम, कूदा धमाधम—आदि इसी प्रकार की लोकोक्तियाँ हैं।

५. सर्वदेशीय लोकोक्तियाँ—निमाड़ी की इस वर्ग की लोकोक्तियाँ ऐसी हैं, जिनकी भाव-द्योतक लोकोक्तियाँ भारतीय तथा अभारतीय भाषाओं में भी प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ निम्नांकित दो लोकोक्तियाँ देखिए—

(१) निमाड़ी—अंधा-मऽ काणो राजा।
हिन्दी—अंधों में काना राजा।
अँगरेजी—A figure among cyphers.

(२) निमाड़ी—नाच नी आवऽ आगन तेढ़ो।
हिन्दी—नाच न आवे, आँगन टेढ़ा।
अँगरेजी—A bad workman quarrels with his tools.

निमाड़ी की अन्य मौलिक लोकोक्तियों में—आटो-साटो, तेमऽ काई नवल टोटो (आटे-साटे में होनेवाली हानि पर आश्चर्य करना व्यर्थ है); आदमीना की बात, न कुम्हार को चाक (आदमियों की बातें कुम्हार की चक्के की तरह अस्थिर होती हैं); गावड् या गाव-मऽ ऊट को तमासो (गँवारों के गाँव में ऊँट भी तमाशा बन जाता है), लाड़ीबाई को लटको, न सुपारी को कटको (नई दुलहन का नखरा सुपारी के कोमल छिलके से भी नाजुक होता है) आदि लोकोक्तियों का स्थान है।

(घ) मुहावरे

निमाड़ी-साहित्य में लोकोक्तियों की तरह मौलिक और अनुवादित—दोनों प्रकार के मुहावरे हैं। इनमें से मौलिक मुहावरों की संख्या बहुत कम है। अधिकांश मुहावरे संस्कृत, प्राकृत, अँगरेजी, फारसी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में प्रचलित मुहावरों का निमाड़ीकरण ही है। यथा—

(अ) संस्कृत से—कर्णे लगति—कान लगणू, घासमुष्टिमपि—मुट्ठी भर घास, मनः कथमपि न करोति—मन नी होनो आदि।

(आ) प्राकृत के द्वारा संस्कृत से—मुखेपु मुद्रा (सं०), महमु मुद्दा (प्रा०), मुंडा पर मुहर लगानो (नि०), जलांजलिःदीयते (सं०), जलंजली दिज्जति (प्रा०), पाणि देणो (नि०) आदि।

(इ) अंग्रेजी से—To take the wrong turning—बुरी रस्ता चलनो,
To slay the slain—मरा-मऽ मारनो,
Something at the bottom—दाल-मऽ कालो आदि।

(ई) फारसी से—चिरागे मद्री—मुदा को तारो, पोस्त कशीदन—खाल खींचनो, घरकशोद करदन—आग् पोछनो आदि।

कहानियों में खंडेराव ढोला, भगडूलाल दादू आदि क्षेत्रीय कहानियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके सिवाय [illegible] की [illegible] कहानी है, जिसका [illegible] किये के [illegible] किये में [illegible] बताया गया है। नीति और शिक्षात्मक कहानियों में पंचतंत्र, [illegible], हितोपदेश आदि के प्रसंग के [illegible] के विविध उपाख्यान कार्यकलापों की पूर्ति दिखाई गई है। सभी कहानियाँ विविधताओं से पूर्ण हैं।

प्रकृत कहानियों का स्वाभाविक चित्रण, चरित्र [illegible] का चित्रण, प्राचीन लोक-मान्यताओं का प्रतिबिम्बन, [illegible] का वर्णन, मानव का मानवेतर प्राणियों से [illegible], विवाह आदि विविध घटनाओं का समावेश, अन्य समस्याओं की [illegible] नीति-तत्वों का समावेश निमाड़ी की लोक-कथाओं की विशेषताएँ हैं। निमाड़ी की इन कथाओं के अतिरिक्त अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं, जो अन्य भारतीय एवं अभारतीय भाषाओं में भी मूल रूप में अथवा किंचित् परिवर्तन के साथ वर्तमान हैं।

(ग) लोकोक्तियाँ

निमाड़ी में जो लोकोक्तियाँ उपलब्ध हैं, उनका काल विभाजन तो सम्भव नहीं है, पर विषय-विभाजन की दृष्टि से यह अवश्य कहा जा सकता है कि उनमें मानव-जीवन का कोई क्षेत्र अछूता नहीं है। निमाड़ी की लोकोक्तियों का क्षेत्र विशाल है। उनमें प्राचीन संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध लोकोक्तियों से लेकर वर्तमान विचारधारा की द्योतक लोकोक्तियों तक वर्तमान हैं। रूप के अनुसार इन लोकोक्तियों का वर्गीकरण पाँच श्रेणियों में कर सकते हैं :—

१. प्राचीन संस्कृत-साहित्य पर आधारित लोकोक्तियाँ—सन्दीप्ते भवने पद्मकूपस्य खननं—आग लगना पर कुआ खोदनो, न सुप्तानोऽपि सिंहस्य प्रविशन्ति—सेर-न्‍ मास न पड़ल-न्‍ घास आदि।

२. मध्यकालीन हिंदी काव्य पर आधारित—निमाड़ी में ऐसी अनेक लोकोक्तियाँ हैं, जिनका प्रयोग हमें मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में मिलता है। यथा—जाको राखे साइयाँ, मारि सकै नहीं कोय (हिन्दी)—जे-खड रामजी राखड, तेखड कोई नी चाखड (निमाड़ी), चलना भला न कोस का, बेटी भली न एक (हिन्दी)—एक बेटी, कपार टोकी (निमाड़ी) आदि।

३. अनुवादित लोकोक्तियाँ—निमाड़ी की अधिकांश लोकोक्तियाँ ऐसी हैं, जो अन्य भारतीय भाषाओं में भी प्रचलित हैं। अतः ऐसी लोकोक्तियों को अनुवादित कहना ही उचित है। धोबी को कुत्तो घर को न घाट को, एक दुबली न दुई असाढ, धरम की गाय का दात काई देखणू आदि इसी प्रकार की लोकोक्तियाँ हैं।

४. मौलिक लोकोक्तियाँ—निमाड़ी में मौलिक लोकोक्तियों की भी न्यूनता नहीं है। ये वास्तव में क्षेत्रीय लोकोक्तियाँ हैं, जिनका प्रचलन निमाड़ी-भाषी क्षेत्र के बाहर प्रायः नहीं देखा जाता। इनमें कुछ लोकोक्तियाँ ऐसी हैं, जिनमें हमें समान गुण, कार्य,

छत्तीसगढ़ी भाषा और साहित्य

ाय है छत्तीसगढ़-प्रदेश में बोली जानेवाली 'बोली'। छत्तीसगढ़
: भारत के मध्य में स्थित है। रामायण में इस प्रदेश का नाम
ल्लिखित हुआ है। इतिहास के पृष्ठों में छत्तीसगढ़ के वैभव,
उत्थान का विशद वर्णन है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस
नाम नवीन है। पहले इस प्रदेश का नाम था 'चेदीशगढ़'।
ोई विशेष मत नहीं मिलते हैं। पठान-काल में यह प्रदेश
से प्रसिद्ध था। अँगरेजों के राज्यकाल, संवत् १८१६ में इस प्रदेश
, पड़ा। छत्तीसगढ़ी प्रायः एक करोड़ मनुष्यों द्वारा बोली जानेवाली
छत्तीसगढ़ी पूर्वी हिन्दी की बेटी तथा अवधी, बघेली और गोंड़ी की
िया' सम्बलपुर जिले के पास की बोली (ललौटी) और बालाघाट जिले के
ही छत्तीसगढ़ी के परिवार की बोली है। छत्तीसगढ़ी की अपनी कोई
कभी नहीं रही है। देवनागरी के माध्यम से ही छत्तीसगढ़ी की अभिव्यक्ति
त्तर की ओर बघेली से, पूर्व की ओर उड़िया से, दक्षिण की ओर तेलुगु से
न की ओर मराठी से छत्तीसगढ़ी प्रभावित है। खैरागढ़, दुर्ग, रायपुर, रायगढ़,
बिलासपुर, रत्नपुर, सिरपुर, कांकेर, कवर्धा, शिवरीनारायण आदि जनपद
ी के केन्द्र-स्थान हैं। छत्तीसगढ़ी के शब्द-भाण्डार में अवधी, बैसवारी, बिहारी,
आदि के शब्द भरे पड़े हैं। इनके अतिरिक्त बँगला, मराठी, उड़िया और
ी के शब्द भी इस बोली के शब्द-भाण्डार में प्राप्त होते हैं। डॉ० सर जार्ज
न ने छत्तीसगढ़ी को निम्नलिखित ६ भागों में विभाजित किया है।

१. सरगुजिया
२. सदरी कोरवा
३. कलंगा अउ भुलिया
४. बिंझावरी
५. बिलासपुरिया
६. कवर्धा
७. खैरागढ़
८. बैगानी
९. खल्ताही

इस प्रदेश में सभी धर्मों का प्रचार है। इस प्रदेश में ब्राह्मण-विरोधी धर्म का विशेष प्रचार हुआ। कबीर-पन्थ और सतनाम-पन्थों का यहाँ विशेष उत्कर्ष हुआ। इनके बाद जैन, ईसाई और मुसलमानों का बाहुल्य है। छत्तीसगढ़ में चमार, कोरी,

छत्तीसगढ़ी भाषा और साहित्य

'छत्तीसगढ़ी' से अभिप्राय है छत्तीसगढ़-प्रदेश मे बोली जानेवाली 'बोली'। छत्तीसगढ़ विन्ध्याचल पर्वत के निकट भारत के मध्य मे स्थित है। रामायण में इस प्रदेश का नाम दण्डकारण्य के रूप में उल्लिखित हुआ है। इतिहास के पृष्ठों में छत्तीसगढ़ के वैभव, ऐश्वर्य एवं सांस्कृतिक उत्थान का विशद वर्णन है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस प्रदेश का छत्तीसगढ़ नाम नवीन है। पहले इस प्रदेश का नाम था 'चेदीशगढ़'। इसके पक्ष-विपक्ष में कोई विशेष मत नहीं मिलते हैं। पठान-काल में यह प्रदेश 'गोंडवाना' के नाम से प्रसिद्ध था। अँगरेजों के राज्यकाल, संवत् १८१६ में इस प्रदेश का नाम छत्तीसगढ़ पड़ा। छत्तीसगढ़ी प्रायः एक करोड़ मनुष्यों द्वारा बोली जानेवाली क्षेत्रीय भाषा है। छत्तीसगढ़ी पूरबी हिन्दी की बेटी तथा अवधी, बघेली और गोंड़ी की बहन है। 'लरिया' सम्बलपुर जिले के पास की बोली (खलौटी) और बालाघाट जिले के पास की बोली इसी छत्तीसगढ़ी के परिवार की बोली है। छत्तीसगढ़ी को अपनी कोई विशिष्ट लिपि कभी नहीं रही है। देवनागरी के माध्यम से ही छत्तीसगढ़ी की अभिव्यक्ति हुई है। उत्तर की ओर बघेली से, पूर्व की ओर उड़िया से, दक्षिण की ओर तेलुगु से और पश्चिम की ओर मराठी से छत्तीसगढ़ी प्रभावित है। खैरागढ़, दुर्ग, रायपुर, रायगढ़, सारंगढ़, बिलासपुर, रत्नपुर, सिरपुर, काकेर, कवर्धा, शिवरीनारायण आदि जनपद छत्तीसगढ़ी के केन्द्र-स्थान हैं। छत्तीसगढ़ी के शब्द-भाण्डार में अवधी, बैसवारी, बिहारी, बघेली आदि के शब्द भरे पड़े हैं। इनके अतिरिक्त बँगला, मराठी, उड़िया और गुजराती के शब्द भी इस बोली के शब्द-भाण्डार में प्राप्त होते हैं। डॉ० सर जार्ज ग्रियर्सन ने छत्तीसगढ़ी को निम्नलिखित ६ भागों में विभाजित किया है।

१. सरगुजिया
२. सदरी कोरवा
३. कलंगा अउ भुलिया
४. बिंझावरी
५. बिलासपुरिया
६. कवर्धा
७. खैरागढ़
८. बैगानी
९. खल्टाही

इस प्रदेश में सभी धर्मों का प्रचार है। इस प्रदेश में ब्राह्मण-विरोधी धर्म का विशेष प्रचार हुआ। कबीर-पन्थ और सतनाम-पन्थों का यहाँ विशेष उत्कर्ष हुआ। इनके बाद जैन, ईसाई और मुसलमानों का बाहुल्य है। छत्तीसगढ़ में चमार, कोरी,

डॉ॰ बलदेवप्रसाद मिश्र छत्तीसगढ़ी प्रदेश के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। इनकी दो पुस्तकों—'साकेत-संत' तथा 'तुलसी-दर्शन'—को प्रचुर ख्याति मिली। मिश्रजी दार्शनिक, कवि, आलोचक और समाज-सुधारक हैं। आजकल वे राजनांद गाँव में निवास करते हैं।

श्रीशुकलालप्रसाद पाण्डेय का जन्म बिलासपुर जिले के सौरीनरायन में सन् १८८६ ई॰ में हुआ। इनके पिता का नाम पं॰ गोविन्दहरि था। इनके चरित्र पर माता के उपदेशों का विशेष प्रभाव पड़ा। बाल्यावस्था से ही ये काव्य-रचना करते थे। प्रसिद्ध व्याकरण-लेखक श्रीकामताप्रसाद गुरु के आदेश से ये खड़ीबोली में काव्य-रचना करने लगे। उस समय इनकी कविताएँ तत्कालीन प्रसिद्ध पत्रिकाओं—'स्वदेश-बाधव', 'नागरी-प्रचारक', 'मनोरंजन', 'प्रभा', 'मर्यादा', 'हितकारिणी', 'सरस्वती' तथा 'शारदा'—में निकलती थीं। जनवरी सन् १९५१ ई॰ में इन्होंने पार्थिव शरीर का परित्याग किया। शब्द-माधुर्य के साथ इनकी कविता वर्णन-प्रधान होती है। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा इनके प्रिय अलंकार हैं। इनकी कविता से प्रकृति एवं सौंदर्य-प्रेम का आभास मिलता है। इनकी प्रकाशित पुस्तकों में उल्लेखनीय हैं—'गिया', 'बाल-शिक्षण-पहेली' तथा 'भूल-भुलैया'। छत्तीसगढ़ी में लिखित इनकी कविता से कतिपय उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

हमर देश

ये हमर देश छत्तीसगढ़,
आगू रहिस जगत सिर मौर।
दक्खिन कौसल नांव रहिस हे,
मुलुक मुलुक मां जेकर सोर।
रामचन्द्र सीता अउ लछिमन,
पिता हुकुम ले बिहरिन बन बन।
हमर देस मां आ तीनो झन,
रतनपुर के रामटेक मां करे रहिन हैं ठौर।
घूमिन इहाँ ओ ऐती ओती,
फैलिस पद रज चारो कोती।
ये ही हमर बढ़िया हे बपौती,
आ देवता इहाँ ओ रजला आंजे नैन निटोर।
राम के महतारी कौसिल्ला
इहे के राजा के हैं बिटिया
हमर भाग कैसन हे बढ़िया,
इहे हमर भगवान राम के कभू रहिस ममिओर॥

कविराम खण्डेरावजी का घराना नागपुर के भोंसला राजा के लश्करा से संबंधित है। इनका जन्मकाल आज भी अज्ञात है। अनुमान है कि ये आज से १७५ वर्ष पूर्व हुए थे।

ये अपने समय के बड़े निर्भीक साहित्यकार थे। 'राधाविनोद' और 'विरदावली' इनके दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। ये अभी तक हस्तलिखित रूप में ही हैं। इनमें एक महान साहित्यकार के सभी गुण विद्यमान हैं। इन्होंने अपने समकालीन शासक के अत्याचारों का बड़ी निर्भीकता के साथ वर्णन किया है। 'राधाविनोद' का रचनाकाल संवत् १८८६ है। यहाँ पर कलियुग वर्णन का कुछ अंश उद्धृत किया जाता है।

दोहा——जन्म भयो कलिकाल महं, देखि चरित जिय हारि।
पापपरायन नारि नर, दिन प्रति करहि बिकारि॥
चौपाई——सो कलिमह भयो जनम हमारा।
तेहि अवगुन कहि सहउ न पारा॥
जदपि कछुक बरनौ कलि करनी।
प्रथमहि चाल भूप कइ बरनी॥
यह कलि काल कठिन है भाई।
चलहि सकल नृप नीत-विहाई॥
पर धन देखि जरहि नृप गाता।
केहि विधि हरउ तास धन पाता॥
यह प्रकार संसय दिन राती।
पल भर तांहि कल्प सम जाती॥
पुनि मंत्री कह बोली पठायो।
सादर जुत निज कथा सुनायो॥

हमारे आलोच्य कवि की भाषा अवधी के अधिक निकट है।

गिरवरदास वैष्णव के पिता हरिदास भी प्रसिद्ध कवि थे। इन्होंने 'ध्यान-प्रकाश' नामक एक धार्मिक ग्रन्थ की रचना की थी। 'ध्यान-प्रकाश' का प्रकाशन वेङ्कटेश्वर प्रेस (बंबई) से हो चुका है। इनके बड़े भाई प्रेमदास की कई एक रचनाएँ 'मथुरा-विजय', 'नायिका-निदर्शन', 'साध्वी-सुलोचना' भानु प्रेस, बिलासपुर से प्रकाशित हो चुकी हैं। गिरवरदास वैष्णव का निधन प्रायः पाँच वर्ष पूर्व हो चुका है। वैष्णवजी-कृत 'छत्तीसगढ़ी सुराज' राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत ग्रन्थ है। उक्त ग्रन्थ से कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

सामवाद के राज कौन ढंग के होथे तेला जांचव।
बड़े-बड़े पंडित घलोमन ओहिच राज ला अब कहिथे॥
नई दिखाय भलाई सामवाद बिन ओहिच ला सबझन कहिथें।
ओही राज ला हमर देश मा लाने के लाईक रहिस।
सभा रायपुर मा जब हो इस वीर जवाहर घलो कहिस।
रूस नाव के देस जवाहरलाल के मुह ले हम सुनथन।
सामवाद के राज उहाँ है कहिथे तेला हम गुनथन॥

सामवाद के अरथ यही है, सब समाज बस है जानौ।
सब समाज मिल करै राज सब इहाँ नहीं राजा मानौ॥
सामवाद के दूसर अरथ सब होके रहब बरोबरिहा।
बनिहार किसान हुकुमत करथे सबों हो जाईन जेवरिहा॥

इन चार प्रमुख कवियों के अतिरिक्त छत्तीसगढ़ी के अन्य सफल कवियों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—सर्वश्रीनारायण परमार, पाण्डेय वंशीधर शर्मा, नारायणलाल परमार, मेहत्तरराम साहु, लालजी रायगढ़िया, ऊधोराम पाण्डुका, मनोहर शर्मा, श्यामलाल चतुर्वेदी, ध्रुवराम वर्मा तथा चेतराम व्यास। इन कवियों के सम्बन्ध में थोड़ा-सा विचार कर लेना आवश्यक है। हमारी सूची के प्रथम उदीयमान कवि हैं—*नारायण परमार।* वर्त्तमान छत्तीसगढ़ी के ये अच्छे कवि हैं। इनकी कविता में ओज, प्रेरणा, राष्ट्रीयता और प्रगतिशील भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। धरती माता, गाँधी देवता, विनोबाजी तथा बादर करिया, इनकी सुन्दर रचनाएँ हैं। गाँधी देवता से यहाँ पर कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

गांधी देवता

तै भारत के भाग ला फेरे
अपन के साहिबी बाना हेरे
गांधी देवता
घर घर दुख दरिद के मारे
निचट घुना गे रिहिस गा देवता
तै जिनगानी देये सबन ला
तोला भुलावो कइसे देवता
गांधी देवता
गोरिया मन के करत गुलामी
दिन बीतत गा रिहिस हमार
नंगा के हमरेय कौंरा हमला
कहें निपोरवा मुकहा गंवार

नारायण परमार के अनन्तर मेहत्तर राम साहु का उल्लेख होना आवश्यक है। साहुजी समर्थ कवि हैं। 'गोहार', 'रोवई नोहे गीद आय' तथा 'सुख-दुःख' इनकी प्रसिद्ध कविताएँ हैं। 'रोवई नोहे, गीद आय' कविता से यहाँ कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

पापी पेट बर
ये समुन्दर बर
दू कौड़ी ले मँहगा होथन
केतक दुःख उठाथन

तव थोरकिन पाथन
हमर मन के कारज ह
नस-नस के हाडा हाडा के
गांठ गांठ ह ढील होगे हे
बासी खाथन तव पेट भरथे
पसिया पीथन प्यास बुझाथे...

वंशीधर शर्मा एक उदीयमान नवयुवक कवि हैं। इनकी रचनाओं में राष्ट्रीयता और उत्साहवर्द्धक भावों की अभिव्यक्ति हुई है। इनकी 'जागो' कविता से यहाँ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

उठौ उठौ छत्तिसगढ़ लाल,
अपना जाग के देखौ हाल।
मोरध्वज कस राजा महा,
रहिन सत्तपन धारी जहां।
नृप कल्याणराय के सुन्दर,
रहिस गोपल्ला वीर धुरन्धर।
जे दिल्ली मां नाम कमाइस,
छत्तिसगढ़ बलवीर देखाइस।
कवि गोपाल चंद पहलाद,
रहिन जहाँ कविता अहलाद।

वंशीधर शर्मा की भाषा स्पष्ट, प्रभावशाली और सुन्दर है। जागरण-गीत का गान करने में भी ये बड़े कुशल हैं।

ऊधोराम पाण्डु का लिखित चार कविताएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। इन कविताओं के शीर्षक हैं—'बढ़ो', 'मोरो हाय ला सुनो', 'विहाय'। 'मोरो हाय ला सुनो' बड़ी रोचक रचना है। उसमें से यहाँ कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

पेट के मारे काम ला, करतेच रहिथन घाम में।
लकलकात रथे घेर ह,
तब ले हर्माच कमाथों।
चलतेच रइही गेरे ह,
कोंपेच में हाथ लमाथों।
बिना काम के देह ला पूछे न कोंह छदाम में।
दिनभर चलने भोंभ ह
तरर पसीना भरथे
रात चंदैनी खिल-खिल हांसे,
जाम धकानी सरथे।

इन कवियों के अतिरिक्त लालजीराय, मनोहरलाल चतुर्वेदी, चेतराम व्यास, श्यामलाल शुक्ल तथा ध्रुवराम वर्मा वर्त्तमान छत्तीसगढ़ी के प्रतिनिधि नवयुवक कवि हैं। लालजीराय की 'गँवई की जिनगी', मनोहरलाल चतुर्वेदी-कृत 'गोहार' तथा 'सुनौ', चेतराम व्यास-कृत 'रोवत-हँमत', चतुर्वेदी-लिखित 'बेटी के विदा' तथा ध्रुवराम वर्मा-विरचित 'मुरहा पोटरा लइका' अपने-अपने ढंग की सुन्दर और अद्भुत रचनाएँ हैं। इनकी कविताओं में रोचकता और भावोद्रेक करने की शक्ति है।

छत्तीसगढ़ी के राष्ट्रीय कविता के लिखनेवालों में डॉ० खूबचंद बघेल, कुञ्जविहारी चौबे, बंशीधर पाण्डेय, गिरवरदास वैष्णव, द्वारकाप्रसाद मिश्र, गणेश प्रसाद त्रिपाठी तथा धानुलाल श्रीवास्तव प्रमुख हैं।

इसी प्रकार धार्मिक काव्य के रचयिता के रूप में लोचनप्रसाद पाण्डेय तथा सुन्दरलाल शर्मा प्रसिद्ध हैं।

छत्तीसगढ़ी के वर्त्तमान कवि जागरण के गीतों के गायक हैं। संघर्ष, द्वन्द्व, दैन्य और विद्रोह इनकी कविता के केन्द्र-बिन्दु हैं। जन-जीवन से इनकी कविता का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

वर्त्तमान छत्तीसगढ़ी काव्य-साहित्य पर विचार कर लेने के अनन्तर अब छत्तीसगढ़ी गद्य पर विचार करना आवश्यक है। छत्तीसगढ़ी का गद्य साहित्य पद्य की तुलना में अत्यन्त आधुनिक और अविकसित अवस्था में है। गद्य-रचना करने की प्रथा अभी कुछ वर्षों से प्रचलित हुई है। गद्य-रचना के लिए प्रोत्साहन देने का श्रेय है—'छत्तीसगढ़ी' पत्रिका को, जो उदय लेने के लगभग चार-पाँच मास बाद अस्तंगत हो गई। इस पत्रिका के माध्यम से गद्य-साहित्य के विविध रूप—कहानी, संस्मरण, रिपोर्ताज, इण्टरव्यू, टिप्पणियाँ आदि—विकसित हुए हैं। छत्तीसगढ़ी गद्य के प्रमुख लेखक हैं—

सर्वश्री लोचनप्रसाद पाण्डेय, खूबचन्द बघेल, नवकुमार पटेल, शंकरलाल शुक्ल, विद्यार्थी, बंशीधर पाण्डेय, धनञ्जय, गयाप्रसाद बसेदिया, नारायण परमार, ध्रुवराम नगरगाँव, घुमक्कड़, भूषण, परदेशी, केयूर, सुखदेव सिंह अंगारे आदि।

इन लेखकों की शैली प्रौढ़, सजीव, प्रभावशाली और समर्थ है। इनमें अपनी बात कहने की पूर्ण क्षमता है। ये जीवन और समाज के प्रति सचेत और जाग्रत हैं। ये लेखक भाषा के धनी और अधिकारी हैं। इनमें हास्य और विनोद की विशेषताएँ भी विद्यमान हैं। इनके व्यंग्य बड़े प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी होते हैं। इनके व्यक्तित्व का उत्थान और शैली का विकास समाज के मध्य में हुआ है। उपर्युक्त लेखकों में किसी को कुछ विशेष अच्छा और किसी को विशेष हीन कहना कठिन है। इनकी साहित्य-साधना और गद्य-रचना सर्वथा प्रशंसनीय है। गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में 'केहि बड़ छोट कहत अपराधू'। इनमें से कुछ लेखकों की शैली की बानगी देखिए—

"छत्तीसगढ़िया मन के आगू मों आज हम मन 'छत्तीसगढ़ी' मासिक पत्र ला लेये आवत हन। 'छत्तीसगढ़ी' के जनम एक उद्देश ला लेके होइसे। जनम अउ मरन हर

भगवान के नियम हे। एमा फरक नई होय। इही जनम अउ मरन के बी 'छत्तीसगढ़ी' के जिनगी रइही, भले ए हर जादा होय के कम।"

"छत्तीसगढ़ के माने होये छत्तीस किला। ऐसे कहे जाये के तैहा-तैहा राजा म ताकत, उनका मन के किला के गिनती उपर माने जात रहिस। छत्तीसगढ़ के देहा अमू अपन गीत माँ तैहा के राजा मन के बखान करथे।"

श्री ध्रुवराम का गद्य—

"आज फागुन तिहार ये। गाँव भर म बड उछा-मंगल होये। गाँव के सुघ्घर मोटियारी छोकरी मन नवा नवा छिटही बुंदही लुगए-पोलखा पहिरे-ए घर ले ओ घ चाउर अउ तिहरहा रोटी अभरावथे।"

विस्तार-भय से सभी लेखकों की रचनाओं से उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये जा रहे इन सभी की शैली बड़ी रोचक और प्रभावशाली है।

प्राचीन छत्तीसगढ़ी गद्य के जो कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं, उनसे आज का बहुत भिन्न है। वर्त्तमान गद्य का क्या स्वरूप है, इसका अनुमान उपर्युक्त उदाहरणों हो जाता है। प्राचीन गद्य के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए यहाँ कु अवतरण उद्धृत किये जाते हैं। वाक्यों के गठन, शब्द-संचय और अभिव्यंजना शै का भेद तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है।

छत्तीसगढ़ी के प्राचीन गद्य के उदाहरण—

"एक ठन गाँव माँ केवट औ केवटिन रहिस। तेकर एक ठन लइका रहिस। के हर महाजन के रुपिया लागत रहिस। तब एक दिन साव रुपिया माँगे बर आइस तब सियान मन घर माँ न रहय। लइका घर रावत बैठे रहय। साव ह पूंछिस कस रे बाबू, तोर दाई ददा मन कहाँ गये हैं। सो ते क माँ टूरा हर कहिस के मोर दाई गये है एक के दु करे बर, और ददा हर काटा माँ काटा रून्धे बर गये है। तब साव हर कथय, के कैसे गोठियात हस रे टूरा! तब टूरा कथय, मैं तो ठीक गोठियायौं। आखिर माँ टूरा के औ साव के लराई मच गय! साव हर कहिस के तैं जौन बात ला गोठियाये हस तौन बात ला निरवार कर दे। नहीं करबे तो तोला साहेब के कचहरी माँ ले जाहौं। तब तोला सजा हो जाही। टूरा हर कहिस मोर दाई ददा मन जतका तोर रुपिया लागत है तेला तैं छांड देव तब मैं ये बा भेद ला नहीं बताहौं तो तोला कैद करवा देहौं। तब टूरा हर कहिस, हो महाराज मन! साहेब लग चलौ।

"केवट के टूरा औ साव दूनो झन साहेब लग साव हर फरियाद कहिस के महाराज मैं आज बिहनिहा केवट के घर गयौं तब केवट औ केवटिन घर माँ नहीं रहिन। ओ बर लइका रहिस तब मैं ओला पूंछेव के कस रे बाबू, तोर दाई ददा मन कहाँ गये हैं, ये टूरा हर कथय कि मोर दाई गये हैं एक के दुई करे बर, औ ददा गये हैं काँटा

न्याँ काटा रुंधे बर। तब येकर श्री मोर लराइ भय गय। ये कर मोर हार जीत लगे है। ये कर नियाव ला कर दे, ये हर जैसन गोठियात हवै। साहेब हर टूरा ले पूंछिस के कस रे टूरा ये कर भेद ला बतेबे। टूरा कहिस, ही महराज साव हर सबो रुपिया ला छांड़ देवे ना। साव कहिस हो महराज! श्री नहीं बताहीं तो सजा हो जाही न महराज! साहेब कहिस अच्छा तुम मन चुपे-चुप ठाढ़े रहा।

"साहेब टूरा ला पूछिस, कस रे टूरा तैं, कैसे सावला गोठियाये। टूरा कहिस मैं ऐस न गोठियायों के साव पूंछिस के कस रे बाबू तोर दाई ददा कहाँ गये हैं! तब मैं कहयो के मोर दाई गये हैं एक के दूई करे बर, और ददा गये है काटा माँ काटा रुंधे बर सुना महराज, मोर दाई गये हैं नना दरे बर। तब भय महराज! दूसर बात ऐसन अय की मोर ददा हर भाटा बारी माँ काटा होत है। तब मैं कहयों काटा माँ काटा रुंधे गये हैं। इया माव हर लराई लरिस मोर लंग। साव हर बीतेक माँ बड़ बड़ाये लागिस। साहेब कहिस, चुप रहो साव। तैं तो हार गये। इया टूरा हर जीत गइस! टूरा हर सिर तोन बातला बताइस है। रुपिया ला छांड़ दे।"

वर्त्तमान छत्तीसगढ़ी में एकाकी तथा नाटकों की रचना भी हो रही है। नाटककारों में सर्वश्रीभूषणलाल मिश्र, घनंजय तथा नारायण परमार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

छत्तीसगढ़ी एक सजीव भाषा है। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि न तो इसका प्राचीन साहित्य मिलता है, न इसके पास अपना सुव्यवस्थित व्याकरण है, न रंगमंच है, न कोष है, न लोक-साहित्य का संग्रह है, न पत्र-पत्रिकाएँ हैं। यह हमारा अभोभाग्य है कि लगभग ३९ लाख व्यक्तियों द्वारा बोली जानेवाली उपभाषा या बोली इतनी पिछड़ी है! हिन्दी की उन्नति के साथ-ही-साथ इसकी भी आशातीत उन्नति हो, यही हमारी आकांक्षा है।

छत्तीसगढ़ी साहित्य के विषय में विचार कर लेने के अनन्तर अब उसके व्याकरण की ओर ध्यान देना होगा। सबसे पहले हम छत्तीसगढ़ी के सर्वनामों पर विचार करेंगे—

छत्तीसगढ़ी में सर्वनाम के रूप

उत्तम पुरुष

	खड़ीबोली	अवधी	ब्रज	भोजपुरी	छत्तीसगढ़ी
मूलरूप एकवचन	मैं	मइ	मैं, हौं	मैं, हम	मं, मैं
मूलरूप बहुवचन	हम	हम	हम	हमनीका हमरन	हम, हममन
विकृतरूप एकवचन	मुझ, मेरे	मइ	मो, मोय	मोहि, मो, हमरा	मो, मोर
विकृतरूप बहुवचन	हम, म्हारे	हम	हम, हमै	हमरा	हम, हमार
सम्बन्ध एकवचन	मेरा, म्हारा	मोर	मेरो	मोर, मोरे हमार,	मोर
सम्बन्ध बहुवचन	हमारा, म्हारा	हमार	हमारो	हमनी, हमर	हमनार

मध्यम पुरुष

	खड़ीबोली	अवधी	ब्रज	भोजपुरी	छत्तीसगढ़ी
मूलरूप एकवचन	तू	तई	तू	तूं, तैं	तें, तैं
मूलरूप बहुवचन	तुम, तम	तुम, तूं	तुम	तोहनी का, तोहरन	तुम, तुम-मन
विकृतरूप एकवचन	तुझ	तुइ	तो (च० तोय)	तोहि, तो, तोहरा	तो, तोर
विकृतरूप बहुवचन	तुम	तुम	तुम (च० तुमै)	तोहनी, तोहरन	तुम्ह, तुम्हार
सम्बन्धरूप एकवचन	तेरा (थारा)	तोर, तोहार	तेरो	तोर, तोरे तोहार	तोर तोहारे
सम्बन्धरूप बहुवचन	तुमारा (थारा)	तुम्हार	तुमारो, तिहारो	तोहार, तोर	तुम्हार

प्रथम पुरुष

	खड़ीबोली	अवधी	ब्रज	भोजपुरी	छत्तीसगढ़ी
मूलरूप एकवचन	वह, (वो)	ऊ, वा	वु, वौ	ऊ, ओ	उओ
मूलरूप बहुवचन	वे	उइ, वइ	वे	ऊ सभ उन्हका	उन, ऊओमन
विकृतरूप एकवचन	उस	उइ	वा (च० वाय)	ओहि ओह, ओ	उओ, उओकर
विकृतरूप बहुवचन	उन, विन	उन	विन (च० विनै)	उन्हुका उन्हुकरा	उन, उन्ह

क्रिया के मुख्य रूप एवं काल-रचना

मुख्यरूप

	खड़ी बोली	अवधी	ब्रज	भोजपुरी	छत्तीसगढ़ी
क्रियार्थक संज्ञा	चलना	चलैं	चलिवो	चलल	चलँ
वर्त्तमान कृदंत कर्त्तरि	चलैं	चलै	चलु	चलिल	चलै
भूत कृदन्त कर्मणि	चला	चला	चल्यो	चलल	चलै

काल-रचना

प्रथमपुरुष एकवचन					
क्रियार्थक संज्ञा	चलै है	चलतु है	चलु ऐ है	चलल	चलत
वर्त्तमान कृदन्त कर्त्तरि	चलै था	चलत रहै	चल्त ओ (हो)	चलिल	चलत रहै
भूत कृदन्त कर्मणि	चलैगा	चली	चलैगो	चलल	चले

मुख्य रूप

	खड़ी बोली	अवधी	ब्रज	भोजपुरी	छत्तीसगढ़ी
क्रियार्थक संज्ञा	—	देखब	—	देखल	देखब
वर्त्तमान कृदन्त कर्त्तरि	—	देखत, देखात	—	देखत, देखित	देखत, देखते
भूत कृदन्त कर्मणि	—	देखा	—	देख-ला, देख-लस	देखे

प्रथमपुरुष एकवचन	अवधी	भोजपुरी	छत्तीसगढ़ी
वर्त्तमानकाल	देखत अहै	देखत-बा, देख-ता	देखत हवै
भूतकाल	देखत रहइ	देखत रहे	देखे रहिस
भविष्यकाल	देखी, देखिहै	देखी	देख-ही, देखि है

सहायक क्रिया

	खड़ी बोली	अवधी	ब्रज	भोजपुरी	छत्तीसगढ़ी
प्रथमपुरुष एकवचन	है	है, अहै, बाटै	है	बा, बाटे, हा, हवे	हवै, है
प्रथमपुरुष बहुवचन	है	हैं, अहैं, बाटैं	हैं	बाटन, हवन	हवें, हैं
मध्यमपुरुष एकवचन	है	है, अहै, बाटे	है	बाट, हौवा	हवस, हस
मध्यमपुरुष बहुवचन	हो	हौ, अहौ, बाटौ	हौ	बाटा, हौवा	हवौ, हौ
उत्तमपुरुष एकवचन	हूँ	हौं, अहौं, बाटौं	हौं	बाटों, हौंई	हवौं, हौं
उत्तमपुरुष बहुवचन	हैं	हैं, अहैं, बाटैं	हैं	बटीं, हौंई	हवन, हन

भूतकाल

	खड़ी बोली	अवधी	ब्रज	भोजपुरी	छत्तीसगढ़ी
भिन्न पुरुषों में पु० ए० व०	था	रहौं, रहै, रहै	हो, हतो	रह-लौं, रह-ले, रह ल	रह्येउँ, रहे, रहिस
भिन्न पु० में बहु०	थे	रहन, रहौ, रहैं	हे, हते	रह-ली, रह-ला, रह-लन	रहेन, रह्येउँ रहिन
सब पुरुषों में स्त्री० एक० व०	थी	रहौं, रहै, रहै	ही, हती	रहलौं, रहली, रहली	रह्येउ, रहे, रहब
स्त्री० बहु० व०	थीं	रहन, रहौ, रहैं	हीं, हतीं	रहल्यूँ, रहलू, रहलिन	रहेन, रह्येउ, रहिने

विभक्ति या कारक-चिह्न

	खड़ी बोली	अवधी	ब्रज	भोजपुरी	छत्तीसगढ़ी
कर्त्ता	ने	—	नै	—	—
कर्म	को, कू	का, की	कौ, कूं	के	का
करण	से	से, ते, सेनी	तै, सूं	से, ते, सन्ते	से, ले

क्रियामूलक संज्ञाएँ—(१) देख; तिर्यक्, देखें (२) देखन् (३) देखब, देखना।
कृदन्तीयपद-वर्त्तमान—देखन्, देखते (देखते हुए)
अतीत—देखे (देखा हुआ)
असमापिका—देख्के (देखकर)

वर्त्तमान सम्भाव्य—यदि मैं देखूँ

एकवचन	बहुवचन
देखौ	देखन्
देखस्	देखन्
देखै, देखय	देखैं, देखंव

आज्ञा या विधिक्रिया

एकवचन	बहुवचन
—	देखी
देख, देखे	देखौ, देखी, देखा
देखै	देखैं

भविष्यत्—मैं देखूँगा

अशिष्ट

एकवचन	बहुवचन
देख-हूँ	देख-बो-देखवों
देखबे, देखिबे	देखहूँ
देखहीं	देखहीं

शिष्ट

एकवचन	बहुवचन
देखिहौं	देखिलन् देखिब
देखबे, देखिबे	देखिहौं
देखि-है, देखी	देखि-हैं

अतीत—मैंने देखा

एकवचन	बहुवचन
देखेव, देख्यौं	देखेन्
देखे, देखेस्	देखेव्
देखतिस्	देखिन्

अतीत सम्भाव्य यदि मैं देखा होता

एकवचन	बहुवचन
देखतेव, देखत्यौं	देखतेन्
देखते, देखतेस्	देखतेव्
देखतिस्	देखतिन

यहाँ व्याकरणविषयक कतिपय विशेषताओं का उल्लेख कर देना असंगत न होगा।

१. वर्त्तमान निश्चित (मैं देख रहा हूँ) के अशिष्ट रूप 'देखत् हवउं' तथा शिष्ट रूप 'देखतह' होते हैं। इसका संक्षिप्त रूप 'देखथों' का भी प्रयोग होता है।

२. अतीत घटमान के रूप—(मैं देखता था), 'देखत रहेंव' होता है।

३. घटमान वर्त्तमान के रूप—(मैंने देखा है) आदि के रूप, अशिष्ट में, 'देखे हवउं' तथा शिष्ट में 'देखे हो' होते हैं। 'मैं देख रहा था' का 'देखत रहेंव' होता है। 'मैंने देखा है' का अशिष्ट रूप 'देखे हवउं' एवं शिष्ट रूप 'देखे हौं' है। 'मैंने देखा था' का रूप 'देखे रहेंव' होता है।

४. स्वरांत धातुएँ—मडान्, रखना, वर्त्तमान सम्भाव्य (१) मडौआ या मडाव् (२) मडास या मडावस। भविष्यत् (१) मडाहौं (२) मडावो। 'अतीत' मडायेव, वर्त्तमान कृदन्तीय रूप 'मडात्'।

५. अनियमित क्रिया पर-क्रिया सूचक संज्ञा—होन् (होना), जान् (जाना), करन् (करना), देन् (देना), लेन (लेना) आदि। अतीत के (अनियमित) कृदन्तीय रूप होये या भये,

असमापिका—भय्, वह गया के लिये 'गये' या 'गय' रूप होते हैं। इसी प्रका
'किये' या 'किहे' 'दिये' या 'दिहे' तथा 'लिये' या 'लिहे' रूप होते हैं।

६. कर्तृवाच्य के रूप अतीत के कृदन्तीय रूप 'जान्' संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं
यथा—'देखे गेयेंव'—मैं देखा गया।

७. छत्तीसगढ़ी के णिजन्त रूप हिंदी की भाँति ही होते हैं।

८. अव्यय के ए, च तथा एच लघुरूप 'तक' अर्थ में तथा, ओ, ओच, एवहूँ रू
'भी' अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यथा—दाई-च-ला-(या तक को), तोर-ओच्-(तुम्हारा भी)।

१०. छत्तीसगढ़ी में तत्सम शब्दों की कमी है।

११. छत्तीसगढ़ी में संज्ञा-सर्वनाम के बाद निश्चय के लिए 'हर' का प्रयोग होता है
यथा—'वोहर'।

१२. बहुवचन में 'मन' का प्रयोग होता है, यथा—'मनखे मन'

१३. कर्म सम्प्रदान में 'ला' का प्रयोग होता है, यथा—'वोला'।

१४. करण कारक में 'ले' का प्रयोग होता है, यथा—'लौकर ला'।

छत्तीसगढ़ी व्याकरण पर विचार कर लेने के बाद अब हम छत्तीसगढ़ी के मुहावरों क
उल्लेख करेंगे। इनकी संक्षिप्त सूची निम्नलिखित है—

१. अन्ते तन्ते गोठियान
२. अइला जान
३. अबूझ होन
४. अनीत करन
५. अकबका जान
६. अटेलहा होन
७. अपन टाँग उघारन
८. अँखमूदा करन
९. अररवसा होन
१०. अघात करन
११. अब्बड़ करन
१२. आड़ी काड़ी नइ टारन
१३. आँय बाँय बकन
१४. आँख देख के सुख होन
१५. आँखी फार के देखन
१६. आगी फूंकन
१७. आँखी लटकन
१८. आनके तान होन
१९. आसरा देन
२०. आँखी लड़ेरन
२१. आँखी गरुवा जान
२२. ऊँट के चोरी अउ मिमौरा के ओदहा
२३. उत्ता धुर्रा करन
२४. उपर संसी करन
२५. उदुप ले
२६. एती ओती करन
२७. एक बोलिया होन
२८. एक दू करन
२९. कुकुर गत होन
३०. कोरखे कोरखे भागन
३१. करेजा पोट पोट करन
३२. कुकुर कोलिहा खान
३३. कौरभान होन
३४. किरिया खावन
३५. कौरा परन
३६. किसबिन बाना धरन
३७. गुर्री गुर्री देखन
३८. गरू देह होन
३९. गाय रूप होन
४०. गदहा जान

७. बैसवारी और उसका साहित्य : डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० ।

८. छत्तीसगढ़ी-पत्रिका के प्रथम ४ अंक ।

इनके अतिरिक्त डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र,. एम० ए०, डी० लिट्० तथा डॉ० विनयमोहन शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्० से समय-समय पर सहायता मिली। लेखिका इन सब उदारचेता मनीषियों के प्रति कृतज्ञ है।

रीवां
सोनपारी
28
म घे ली
गोंडी
सुरगुजिया
बैरागनी मंडली
रतनपुर
कोरबा
बिलासपुर
शिवनारायण
खैरागढ़
सारंगढ़
कालंगा
रायपुर
दुर्ग
कालंकेर
20
बसार
जगदलपुर

नेपाली भाषा और साहित्य
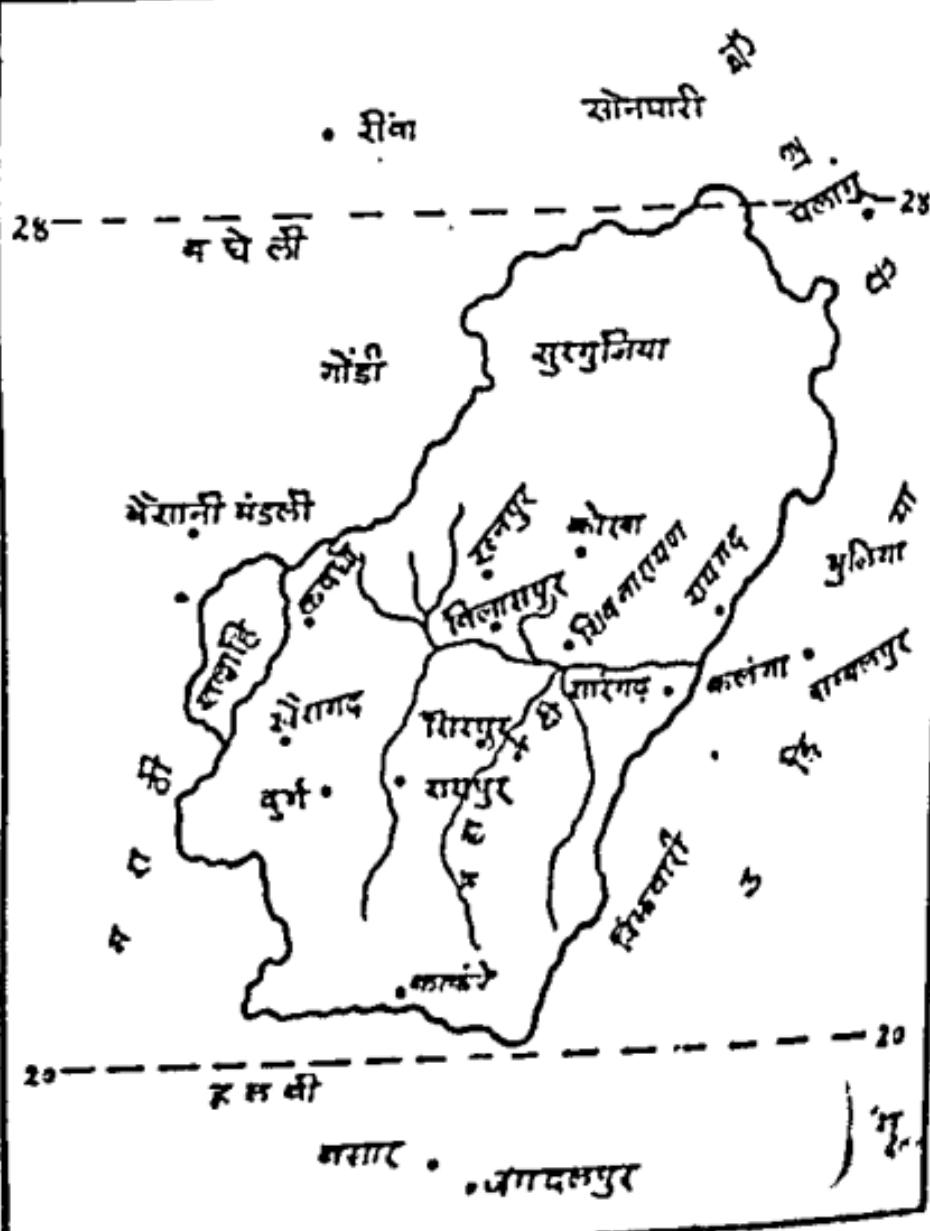
नेपाल २२८ कोस लम्बा तथा ३५ से ६० कोस तक चौड़ा है और यह हिमालय के दक्षिण केन्द्र में स्थित है। इसका क्षेत्रफल १०,००० वर्ग कोस है। इसके उत्तर की ओर तिब्बत, पूर्व और दक्षिण तथा पश्चिम—तीनों ओर भारत के राज्य हैं।

नेपाल में कोसी, गण्डकी और कर्णाली—ये तीन बड़ी-बड़ी नदियाँ बहती हैं। इन्हीं नदियों से नेपाल तीन भागों में विभाजित हुआ है। नेपाल के इन भागों को क्रमशः पूर्व, मध्य और पश्चिम कहते हैं। ये तीनों नदियाँ गंगाजी से मिल जाती हैं।

कुछ लोग ८ कोस लम्बी और ६ कोस चौड़ी उपत्यका को ही नेपाल समझते हैं। लेकिन आयुर्वेद के आचार्यों ने नेपाल में प्राप्त जिन जड़ी-बूटियों के नाम लिये हैं, वे नेपाल उपत्यका में नहीं; बल्कि नेपाल-राज्य में मिलती हैं।

सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रयागवाले अभिलेख में कामरूप (आसाम), नेपाल, कर्तृपुर (कत्यूर; कुमाऊं-गढ़वाल)—पूर्व से पश्चिम तक के—इन राज्यों के क्रमशः नाम मिलते हैं और 'कल्हण' के लेखानुसार नेपाल राज्य में घुसनेवाले कश्मीरी राजा जयापीड को नेपाली राजा 'अरमुडी' ने अपने राज्य की काली गण्डकी नदी के किनारे कैद कर लिया था। इन उपर्युक्त कारणों से भी सिर्फ छः-सात कोस लम्बी-चौड़ी नेपाल उपत्यका को ही नेपाल कहना उचित नहीं है।

विक्रम की षष्ठ शताब्दी के नेपाल के लिच्छवी राजा मानदेव की प्रशस्ति-अंकित चांगु के स्तम्भ से यह बात और भी स्पष्ट होती है। यक्षमल्ल के बाद सोलहवीं शताब्दी में नेपाल छिन्न-भिन्न हो गया था, इसीलिए वास्तविक बात का पता लगाने की सुविधा न होने से ही कुछ लोगों को यह भ्रम हुआ है।

नेपाल में बहुत वर्गों की भाषाएँ पाई जाती हैं। इन (क्षेत्रिय) भाषाओं के बोलने-वाले स्वभाषा-भाषी लोगों से तो अपनी ही भाषा में बोलते हैं; लेकिन किसी भी अन्य वर्ग से बोलने के लिए नेपाली भाषा का व्यवहार करना आवश्यक हो जाता है। बाजार में जहाँ-तहाँ रसुवा के भोटे (तिब्बती) से कम्बल खरीदते समय महोत्तरी के मैथिल को नेपाली भाषा में ही बोलते हुए हमलोग देखते आये हैं। जबरदस्ती नहीं, सुगमता से ही नेपाली भाषा सर्वप्रिय हुई है। विभिन्न क्षेत्रिय भाषा-भाषी प्रवासी नेपाली भी आपस में बात-चीत करने के लिए नेपाली भाषा का ही आश्रय लेते हैं। चाहे वे दार्जिलिंग, सिक्किम, भूटान, आसाम, देहरादून, बर्मा में रहते हों अथवा कहीं अन्यत्र।

संस्कृत भाषा से रूपांतरित होकर बनी हुई नेपाली भाषा का, आर्यभाषा कहलानेवाली अन्य भाषाओं से कुछ सादृश्य होना स्वाभाविक है। यह भी स्वाभाविक है कि संस्कृत-प्राकृत-जन्य भारतीय भाषाओं से तो नेपाली भाषा विशेष मिलती-जुलती है। अतः संस्कृत से रूपान्तरित किसी भी भारतीय भाषा से यदि हम नेपाली भाषा की तुलना करें, तो सहज ही सादृश्य दिखाई देता है। यथा—

संस्कृत	हिन्दी	नेपाली
हस्त	हाथ	हात
संस्कृत	राजस्थान	नेपाली
कुतः	कठ	कता

नेपाली भाषा के प्राप्त लेखों में विक्रम-संवत् १४१३ के कर्णाली प्रान्त के राजा पृथ्वीमल्ल के राजकीय आज्ञा का लेख सबसे पुराना है। 'छन्ती कर छाडि अग्र्‌याछ' इस प्रकार के वाक्य उस शिला-लेख में मिलते हैं। यहाँ 'अग्र्‌याछ' पद 'गरेकोछ' (किया है) पद का पूर्वज है। इसके अलावा अन्य शब्द नेपाली के साथ बिलकुल मिलते हैं। इससे 'पृथ्वीमल्ल' के राजकीय आदेश के लेखक शिवदेव पंडित ही नेपाली भाषा के सर्वप्रथम लेखक विदित होते हैं, तथापि जन-भाषा में ही राजकीय आदेश लिखे जाने के कारण दावे के साथ कहा जा सकता है कि शिवदेव पण्डित के पहले और भी लेखक रहे हैं। *कर्णाली प्रान्त के इसके बाद कई लेख नेपाली भाषा में मिलते हैं।* इससे यह स्पष्ट है कि इस भाषा की अविच्छिन्न धारा बहती आ रही है।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में स्थापित गण्डकी प्रान्त के राजा अपने राजकाज में इसी भाषा का प्रयोग करने लगे थे। कर्णाली गण्डकी के साधारण जन भी इसी भाषा को अपने व्यवहार में लाते थे। काठमांडू के राजा लक्ष्मी नरसिंह मल्ल के विक्रम-संवत् १६६८ के काठमांडूवाले शिलालेख में निम्नोद्धृत पंक्तियाँ पाई जाती हैं —

येतो भूमि मह पन्नु रोजो हान्यार गर्नु नाहि
जसइले गर्‌या महादेव घात् गर्‌याको पापू

उस समय नेपाली भाषा का रूप यही था।

काठमांडू की यह घटना आकस्मिक नहीं थी। लक्ष्मीनरसिंह के पुत्र राजा प्रतापमल्ल ने भी पिता का अनुसरण किया है। कोसी प्रान्त के सेन राजाओं से प्रयुक्त भाषा भी नेपाली भाषा थी, जिसका सम्पर्क एक प्रकार की देहाती भाषा से था।

विक्रम की उन्नसवीं शताब्दी में गोरखालियों ने नेपाल-राज्यों को एक सूत्र में बाँधा, *किन्तु उससे पहले भी नेपाली भाषा नेपाल राज्य में* ... धर्म-कर्म के लेखों में संस्कृत की बहुलता और मुगलों से सम्बन्धित ... ले ... में उर्दू की बहुलता पाई जाती है।

जिस तरह पाणिनि ने वैदि— ... की जन-भाषा को *प्रथमायाश्च ... से, विशेषण-रहित

भाषावाद का नाम दिया है, उसी तरह श्री लक्ष्मी-नरसिंह प्रतापमल्ल आदि ने इस जन-भाषा को केवल 'भाषा' शब्द से व्यक्त किया है। जिस तरह पाणिनि की भाषा को संस्कृत भाषा, देवभाषा इत्यादि नाम देने का काम बाद के लोगों ने किया है, उसी तरह इस भाषा को खस भाषा, पर्वते भाषा, गोरखाली भाषा, नेपाली भाषा इत्यादि विशेषण-सहित नाम औरों ने दिये हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् पंडित वाणीविलास पाण्डेय ने भी इस भाषा के लिए केवल भाषा शब्द का ही प्रयोग किया है।

इस तरह से, यद्यपि इस भाषा का प्रयोग आम जनता और राजकाज में होता था, तथापि इसे विद्वानों का आदर प्राप्त नहीं था। सभी विद्वान् संस्कृत भाषा में ही लिखते थे। आपस में संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करते थे। परन्तु विद्वानों के घरवाले सभी व्यक्ति संस्कृत नहीं समझते थे। इसीलिए कोई-कोई विद्वान गृहजनों के अनुरोध से कभी-कभी भाषा में भी लिखते थे। परन्तु वे लेख साधारण अपठित मनुष्यों के लिए ही लिखे जाने के कारण उनके विषय साधारण होते थे। यहाँ प्रसिद्ध पं० 'प्रेमनिधि पन्त' का उदाहरण दिया जा सकता है। कभी-कभी बड़ों के अनुरोध से भी विद्वानों को भाषा में लिखने के लिए विवश होना पड़ता था। भीमसेन थापा के प्रशंसक 'वाणीविलास' ने संस्कृत न समझनेवालों के लिए अपने संस्कृत लेख का अनुवाद भी 'थापायली' के स्तम्भ में खुदवा दिया है। किन्तु जो सौन्दर्य उनके संस्कृत लेख में है, उसका थोड़ा भी अंश उनके नेपाली लेख में नहीं उतरा है।

इस तरह देखते हैं कि विक्रम-संवत् १८७३ के पहले नेपाली लेखों में अधिकतर ऐसे ही लेख हैं, जिन्हें संस्कृत के नेपाली पंडितों ने केवल अपठितों के ऊपर कृपा करके ही लिख भर दिया था। इनमें कृष्ण-भक्ति में लगे हुए भक्त कवियों ने श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि से नेपाली भाषा में कुछ तो पद्यानुवाद किया है। तथा कुछ भाव भर लेकर स्वतन्त्र कविताएँ की हैं। 'इन्दिरस' आदि भक्त कवि इनके उदाहरण हैं!

विक्रम-संवत् १८७३ की लड़ाई में अंग्रेजों से हार जाने के कारण उस समय के नेपाल के शासक जनरल भीमसेन थापा के मन में बड़ी चोट लगी। इस हार का बदला लेने के लिए उनका मन हर वक्त उद्विग्न रहता था। अतः सेना को सुसज्जित करना उनका मुख्य काम हो गया था। यही कारण है कि उनके प्रशंसकों ने भी सिपाहियों को और जनता को उत्तेजित करने के लिए वीर रस के गद्य तथा पद्य लिखे थे। यदुनाथ पोखरेल और सुन्दरानन्द बाडा के नाम दृष्टान्त स्वरूप यहाँ दिये जा सकते हैं। ये सब भीमसेन थापा के प्रशंसक तथा अंग्रेज-विरोधी भाव के लेखक थे।

गोरा त शूरा दुइ एक हुन्छन्
गोर्खा यहाँ कातर आज कुन्छन्
गारत् डराई पनि चिठि लेख्यो
नेपाल का वीर सिपाहि देख्यो ॥

नेपालयहाँ कम्पु तयार भयाको
डिल्ली तसल्ला त खबर गयाको।
लखनौ नबाफ् को थरहर पय्याको
चारै दिसा बन्दुक बम भयाको॥
अंग्रेज लाट्ले सुनि टोप पटक्यो
दांतले त ओठ च्यापि तमित्र सटक्यो॥

—जदुनाथ का स्तुति-पद्य, 'पुराना कविर कविता' से

दक्षिण दिशा का फिरंगी का नाथ बादसाहादि फिरंगी
हुरुकन पनि आफना बशमा राखि नेपाल कान्तिपुर राजधानी
विषे श्री ५ मन्महाराजाधिराज श्री ५ राजराजेन्द्र विक्रम
शाहदेवका चिरकाल पर्यन्त जय जयकार रहोस्

—सुन्दरानन्द की 'त्रिरत्न सौन्दर्य गाथा' से

विक्रम-संवत् १८०३ से राणाओं का शासन नेपाल में जम गया। राणाओं की नीति अँगरेजों के साथ मित्रता रखने की थी। इसलिए अँगरेज-विरोधी लेख अँगरेजों के विरुद्ध लिखना छोड़ना पड़ा। भोट (तिब्बत) के साथ राणा जंगबहादुर ने लड़ाई छेड़ी थी, इसलिए उस समय कुछ लोक गीत बने। जैसे—

सुन सुन पांच म केही भन्छु
भोटका लड़ाई को सवाइ कहन्छु

किन्तु अपने देश को जीतनेवाले शत्रु के विरोध में जोश न दिखा सकने के कारण नेपाल में वीर रस की कविताओं का रंग नहीं जमा। इसी युग में भानुभक्त आचार्य, रघुनाथ पोखरेल, पतंजलि गजरेल आदि साहित्य रचने लगे। इन लोगों ने रामायण, महाभारत और पुराणों से कथा ले-लेकर कविता रची और कुछ इधर-उधर के स्फुट भावों की कविताएँ भी लिखी हैं। भानुभक्तकृत 'अध्यात्म रामायण' का अनुवाद प्रसादगुण-पूर्ण है। अतः अपने युग के कवियों से *भानुभक्त ही श्रेष्ठ हैं।* इस समय तक लेखकों को मुद्रण यन्त्रालयों का सहयोग न मिलने के कारण उनके लेखों का प्रचार नहीं हो सका था।

विक्रम-संवत् १८४४ से मोतीराम भट्ट नेपाली भाषा की पुस्तकें छपाने लगे। भानुभक्त की रामायण मोतीराम द्वारा प्रकाशित होकर प्रचारित होने लगी। इसके कुछ ही पहले गोपालदत्त पाण्डे ने नेपाली भाषा में अपनी 'व्यक्त-चन्द्रिका' मुद्रित करवाई थी। परन्तु यह पुस्तक गणित की थी, साहित्य की नहीं। इस युग में मोतीराम भट्ट और उनके सहयोगी राजीवलोचन जोशी आदि ने नेपाली भाषा की पुरानी पुस्तकों की खोज करके उन्हें प्रकाशित करवाया। मोतीराम भट्ट के अल्पायु होने के कारण इस काम में बहुत बाधा पड़ी। किन्तु मोतीराम की यह प्रकाशन-कार्य

लाभदायक व्यवसाय हो चला था, इसलिए काशी के मुन्शी होमनाथ आदि नेपालियों ने नेपाली पुस्तक प्रकाशित करने की परम्परा जारी रखी।

विक्रम-संवत् १८६२ से बभ्रांग के राजा जयपृथ्वी बहादुर सिंह नेपाली भाषा में पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित करने लगे। लगभग उसी समय राममणि दीक्षिताचार्य ने 'माधवी' पत्रिका निकाली। किन्तु, कुछ समय के बाद ही उक्त दोनों सज्जनों को अपने काम से हटना पड़ा। लेखनाथ पौड्यालय उसी युग में अपनी कविताएँ प्रकाशित करने लगे। उनकी कविताएँ व्याकरण-संगत तथा काव्य-सौन्दर्य-मण्डित थीं। उन्होंने नेपाली कविता को पुरानी परिपाटी से हटाकर नई पद्धति पर चलाया। इसी समय से नेपाली भाषा का वर्त्तमान युग प्रारम्भ होता है। शम्भुप्रसाद आदि के लेख भी इसी युग के हैं। राजगुरु हेमराज का 'नेपाली भाषा व्याकरण' भी इसी युग में प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशित होने के बाद नेपाली भाषा के गद्य में एकरूपता आने लगी। ऐसे गद्यों में चक्रपाणि चालिसे आदि के गद्य-लेख प्रसिद्ध हैं।

पण्डित कुलचन्द्र गौतम का 'अलंकार-चन्द्रोदय' प्रशंसनीय अलंकार ग्रन्थ है—

तीव्र सन्ताप रहदा अर्कोरहक कोच्छ है
चंद्रशीतल मेरा तिन् हर दुःखपरम्परा।

उपर्युक्त रीति की संस्कृत नेपाली मिश्रित कही जा सकनेवाली आलंकारिक भाषा का भी कुलचन्द्र ने प्रयोग किया है। इसी युग के पण्डित सोमनाथ सिग्यालय का 'आदर्श राघव' भी आलंकारिक भाषा का उत्कृष्ट उदाहरण है।

न अब शीतल शीत लटक्क छन्
न सर आतप आँत पगाल्दछन्।
न नव बादल या दल बांध्दछन्
न त विप्लव पल्लव पाउँछन् ॥

श्री बालकृष्ण शमशेर नेपाली भाषा में नई बोली के नाटक लिखकर प्रकाशित करने लगे। उनकी भाषा पूर्ण व्याकरण-संगत है। उनके परिष्कृत विचारों को साधारण लोग भले ही ग्रहण न कर सकते हों, लेकिन शिक्षित नवयुवकों में उनके लेखों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। उनकी कविताओं में हृदय को स्पर्श कर सकने का सामर्थ्य भी है। यथा—

माथिबाट यहाँ आँले मने-अमर मर्दछन्
चिनाको तापले सुक्ने कि ता पत्थर बन्दछन्
—'मुटुको व्यथा बाट' से

बालकृष्ण शमशेर की कविताओं में गद्यशक्ति भी प्रचुर मात्रा में है।

गद्य-लेखकों में मेरी अपनी रचना 'रूपमति' ने साधारण बोलचाल की भाषा में लिखने की परम्परा चलाई। गृहस्थ की बातों को गृहस्थ की ही भाषा में लिखी गई यह पुस्तक जनता को

रुचिकर लगी। विक्रम-संवत् १८८१ से 'शारदा' आदि नेपाली मासिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। इससे नेपाली भाषा के गद्य और पद्य की गति कुछ तीव्र होती गई। बालकृष्ण शमशेर, पुष्कर शमशेर, सिद्धिचरण, कृपानारायण सिंह आदि की लेखनी तीव्र गति से चलने लगी। इससे पहले की परम्परा के लेखनाथ, चक्रपाणि आदि भी इन्हीं के साथ-साथ डग भरने लगे।

प्रतिभाशाली कवि लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा की 'मुनामदन' ने नेपाली जातीय गीत 'भया-डेर' की कविता प्रकाशित की। इसके बाद जातीय गीत सम्बन्धी कविता लिखनेवाले अनेक नवयुवक निकले। इनमें धर्मराज थापा के जातीय गीत ने जनता के मन को बहुत-कुछ खींचा है।

भीमनिधि तिवारी के नाटक और कहानियों ने नेपाली गृहस्थों के चित्र सामने रख दिये हैं। उनके लेखों का प्रचार बढ़ता जा रहा है। राजनीति में भाग लेनेवाले केदारमान 'व्यथित' आदि भावुक कवियों की कविताएँ जनता को युगपरिवर्त्तन की ओर आकृष्ट कर रही हैं।

नेपाल सरकार की 'नेपाली भाषा-प्रकाशिनी-समिति' ने पाठ्य पुस्तकों का अनुवाद और कुछ नये ग्रन्थों का भी प्रकाशन किया है। नेपाली भाषा का कोश तैयार करने में इस समिति ने प्रशंसनीय कार्य किया है।

धरणीधर कोइराला, सूर्य विक्रम ज्ञवाली आदि की कविताओं से 'नेपाली साहित्य-सम्मेलन' (दार्जिलिंग) ने भी नेपाली भाषा की कई संग्रह-पुस्तकें प्रकाशित की हैं।

पारसमणि प्रधान इत्यादि की कोशिश से नेपाली भाषा की कुछ पाठ्यपुस्तकें निकली हैं। हृदयचन्द्र प्रधान, माधव प्रसाद घिमिरे, गोपाल प्रसाद रिमाल, जनार्दन शमशेर, वाइदेल आदि लेखक अपनी-अपनी प्रतिभा से नेपाली भाषा के साहित्य को उन्नति की ओर ले जा रहे हैं। गद्य-काव्य में भी उत्कृष्ट रचनाएँ निकल रही हैं। नेपाली साहित्य में कितने और भी अच्छे-अच्छे लेखक हैं, जिनका उल्लेख यहाँ विस्तार-भय से नहीं किया गया है।

■

निबंधकारों के परिचय

१. डॉ० उमेश मिश्र

आपका जन्म दरभंगा जिले के गजहरा ग्राम में, सन् १८९६ ई० में १८ जून हुआ था। आपके पिता महामहोपाध्याय काशीवासी पं० जयदेवमिश्रजी थे। पन में आपकी शिक्षा अपने पितृव्य पं० मधुसूदनमिश्रजी के निर्देशन में हुई। नी आठ वर्ष की अवस्था में आगे की शिक्षा के लिए आप अपने पिता के पास शी चले गये। थोड़े ही काल में आपने संस्कृत के विविध शास्त्रों का अध्ययन मात कर लिया। आपने पाश्चात्य ढंग के दर्शनों का भी अध्ययन स्वर्गीय ध्रुव, ० गंगानाथ झा तथा महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जैसे विद्वानों के सान्निध्य में या।

सन् १९२२ ई० में आपने काशी-विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा पास की। न् १९२१ ई० में ही आपने कलकत्ता-संस्कृत-एसोसिएशन से काव्यतीर्थ की उपाधि ाप्त की। सन् १९२३ ई० में आप प्रयाग-विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक नियुक्त हुए। तब से आप उक्त विश्वविद्यालय में संस्कृत, दर्शनशास्त्र, पालि तथा प्राकृत भाषा की शिक्षा देते रहे हैं। सन् १९४९ ई० में बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग के आमंत्रण पर आप 'मिथिला संस्कृत-विद्यापीठ' के निर्देशक होकर दरभंगा चले आये। लगभग साढ़े तीन वर्ष यहाँ रहने के बाद आप पुनः अपने पुराने स्थान पर प्रयाग-विश्वविद्यालय में लौट गये। वहाँ से आपने सन् १९५९ ई० में अवकाश प्राप्त किया। आपके द्वारा लिखी पुस्तक 'कन्सेप्शन ऑफ मैटर' (भौतिक पदार्थ-विवेचन) पर प्रयाग-विश्वविद्यालय ने आपको 'डॉक्टर ऑफ् लेटर्स' की उपाधि से विभूषित किया था। यह उपाधि इसके पहले महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झाजी को ही मिली थी।

आपकी लिखी पुस्तकें संस्कृत, अँगरेजी, हिन्दी और मैथिली—इन चार भाषाओं में हैं। हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन फिलॉसफी (तीन भाग), कन्सेप्शन ऑफ् मैटर, ड्रीम-थ्योरी इन इण्डियन थॉट, फिजिकल थ्योरी ऑफ् साउण्ड, भास्कर स्कूल ऑफ् वेदान्त और निम्बार्क स्कूल ऑफ् वेदान्त अँगरेजी भाषा की पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी की पुस्तकों में 'प्राचीन वैष्णव-सम्प्रदाय', 'भारतीय दर्शन', 'विद्यापति ठाकुर', 'सांख्ययोग-दर्शन', 'मैथिली संस्कृति और सभ्यता', 'तर्कशास्त्र की रूपरेखा' आदि प्रसिद्ध हैं। मैथिली की पुस्तकों में गद्यकुसुममाला, गद्यकुसुमाञ्जली, साहित्यदर्पण (अनु०), शंकरमिश्र, नलोपाख्यान आदि मुख्य हैं।

आप प्रयाग में स्थापित 'गंगानाथ झा अनुसंधान-केन्द्र' के, इसके स्थापना-काल सन् १६४३ ई० से ही, मंत्री हैं। 'अखिलभारतीय प्राच्यविद्या-सम्मेलन' के दर्शन और प्राच्यधर्म-विभाग के कई बार सभापति हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त आप प्रयाग की 'मैथिली साहित्य-समिति' के भी सभापति हैं।

२. श्रीकृष्णदेव प्रसाद

श्रीकृष्णदेव प्रसाद का जन्म महल्ला कमंगर गली, पटना सिटी, में १८८२ ई० के २७ जून को हुआ था। बचपन से ही वे पढ़ने में बड़े मेधावी थे। उन्होंने सन् १६०८ ई० में इन्ट्रेंस की परीक्षा पास की और १५) रु० की मासिक छात्रवृत्ति प्राप्त की। फिर उन्होंने १६१२ ई० में, कलकत्ता-विश्वविद्यालय से बी० ए० की परीक्षा में सफलता पाई और उसी वर्ष 'काव्यतीर्थ' उपाधि-परीक्षा में भी उत्तीर्ण हुए। संस्कृत की शिक्षा उन्होंने स्व० महामहोपाध्याय रामावतारशर्मा के सान्निध्य में पाई थी। वे उनके परमप्रिय छात्रों में से एक थे। संस्कृत-साहित्य में शोधकार्य के लिए उन्होंने ओरिएंटल स्कॉलरशिप प्राप्त किया था, जिसके लिए उन्हें लन्दन जाना आवश्यक था। पर उनके पिता और अभिभावक पुराने विचार के थे, जो समुद्र-यात्रा को हेय मानते थे, इसलिए इच्छा रखते हुए भी वे विदेश-यात्रा न कर सके। फिर उन्होंने कलकत्ता-विश्वविद्यालय से एम्० ए० और बी० एल्० की परीक्षाएँ, सन् १६१४ ई० में, साथ-साथ पास कीं। उसी साल बाद सबडिवीजनल कोर्ट में वकालत करना शुरू किया। उसके बाद सन् १६१८ ई० से पटना जिला-कोर्ट में वकालत करने लगे और जीवन के अंतिम क्षण तक उनकी यह वृत्ति वहीं चलती रही। १८ नवम्बर, सन् १६५५ ई० को उनका देहात हुआ।

उन्होंने हिन्दी में पहले-पहल कुछ रचनाएँ की थीं, पर सभी स्वान्तः सुखाय थीं। उसके बाद मगही में लिखने की ओर उनकी प्रवृत्ति हुई और इस ओर उन्होंने कुछ अधिक लिखा भी। मगही भाषा और साहित्य पर जो निबन्ध यहाँ प्रकाशित हो रहा है, उससे उनके भाषा-प्रेम का परिचय मिलता है।

३. श्रीगणेश चौबे

आपका जन्म सन् १९१२ ई० में चम्पारन जिले के बँगरी नामक गाँव में हुआ था। आप सन् १९३२ ई० में प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। तब से आपका स्वाध्याय निरन्तर जारी है। सन् १९३९ ई० से आपने भोजपुरी लोक-साहित्य एवं लोक-वार्त्ताओं के विभिन्न अंगों का संकलन किया है। संकलित सामग्री लगभग ६ हजार पृष्ठों में है। भोजपुरी साहित्य, लोक साहित्य एवं लोक-वार्त्ता पर विद्वत्-परिषदों के मुखपत्रों एवं सामयिक पत्रिकाओं में आपके तीन दर्जन से अधिक निबन्ध हिन्दी और अँगरेजी में प्रकाशित हुए हैं। सन् १९५६ ई० से आप कलकत्ता के इण्डियन फॉक-लोर-सोसाइटी के त्रैमासिक मुखपत्र 'इण्डियन फॉक-लोर' (अँगरेजी) के बिहार के लिए अवैतनिक क्षेत्रीय सम्पादक हैं। चम्पारन जिले से आपने हिन्दी और संस्कृत की लगभग ६ सौ प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का सकलन किया है, जो बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् में दान-स्वरूप 'चौबे-संग्रह' नाम से सुरक्षित है।

४. डॉ० माहेश्वरी सिंह 'महेश'

आपका जन्म भागलपुर जिले के पकड़िया ग्राम में सन् १९१३ ई० में हुआ था। आपने पटना-विश्वविद्यालय से बी० ए०, कलकत्ता विश्वविद्यालय से हिन्दी और मैथिली में एम० ए० तथा लन्दन विश्वविद्यालय से पी-एच्० डी० की उपाधियाँ प्राप्त की हैं। पी-एच्० डी० की उपाधि आपको सन् १९५३ ई० में मिली थी। इस उपाधि के लिए अनुसन्धान का विषय था 'मध्यकालीन हिन्दी पिंगल का ऐतिहासिक विकास'। आपने कई पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन-कार्य भी किया है। आप तेज-नारायण-बनैली-कॉलेज, (भागलपुर) में कई वर्षों से हिन्दी के प्राध्यापक हैं। बीच में कुछ दिनों तक राँची-कॉलेज में भी आप प्राध्यापक रहे। इस समय आप उक्त भागलपुर-कॉलेज के स्नातकोत्तर-विभाग के हिन्दी-प्राध्यापक हैं। आपके द्वारा रचित पुस्तकें ये हैं—१. सुहाग, २. युगवाणी और ३. अनल-वीणा। इनके अतिरिक्त आपने स्कूल-कॉलेजों के लिए भी कई पुस्तकों का प्रणयन और सम्पादन किया है।

५. प्रो० केसरीकुमार सिंह

आप हिन्दी के एक समालोचक तथा हिन्दी काव्य मे 'प्रपद्यवाद' अथवा 'नकेनवाद' के प्रवर्त्तकों में एक हैं। आपका जन्म पटना जिला के सैदनपुर ग्राम में, सन् १६१६ ई० में, हुआ था। आपने १६३२ ई० में गृह त्याग करके स्वतंत्रता-आन्दोलन मे भाग लिया था, जिसके कारण आपको जेल यात्रा भी करनी पड़ी थी। आप पटना-विश्व विद्यालय से सन् १६४० ई० में, प्रथम श्रेणी में, बी० ए० (ऑनर्स) तथा १६४२ ई० मे प्रथम श्रेणी मे एम्० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे। सन् १६४२ ई० में आप बी० एन्० कॉलेज (पटना) में हिन्दी-प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हुए थे। उक्त पद पर आपने लंगटसिंह-कॉलेज (मुजफ्फरपुर) तथा पट कॉलेज में भी कार्य किया। इन दिनों आप राँची-कॉलेज मे हिन्दी विभागाध्यक्ष आप बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्थायी समिति और कार्य-समिति के सदस्य तो हैं राँची जिला हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी हैं। आपकी प्रकाशित पुस्तकें हि साहित्य और समीक्षा, हिन्दी के कहानीकार, भारतेन्दु और उनके नाटक, प्रसाद उनके नाटक, हरिऔध और उनका महाकाव्य, गुप्तजी : यशोधरा तक, आधुनिक कवि नकेन, नवनिबंधावली तथा निवेदिता।

६. श्रीडोमन साहु 'समीर'

सन् १६२४ ई० में संतालपरगना जिले के पंदाहा नामक ग्राम में आपका जन्म हुआ था। प्राथमिक शिक्षा हिन्दी और संताली में साथ-साथ हुई। गोड्डा (दुमका) हाई स्कूल से सन् १६४२ ई० में मैट्रिक की परीक्षा पास की। मैट्रिक में आपका वैकल्पिक विषय संताली ही था। सन् १६५० ई० में प्रयाग के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की 'विशारद' परीक्षा पास हुए। सन् १६५७ ई० के जून महीने से संताली भाषा से साप्ताहिक 'होड़-सोम्बाद' के

सम्पादक हैं। आप बिहार-पाठ्य-पुस्तक-समिति (पटना) की संताली भाषा की पाठ्य-समिति के संयोजक सदस्य हैं। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) की संताली-समिति के सदस्य हैं। आपकी संताली-भाषा की छोटी-बड़ी निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हैं—

(१) सेदाय गाते (समाजोपयोगी), (२) महात्मा गांधी (जीवन-चरित), (३) 'दिसोम-बाबा (काव्य), (४) बुलमुण्डा (कहानी-संग्रह), (५) रामायण (संक्षिप्त गद्यानुवाद), (६) संताली-प्रवेशिका (भाषा-ज्ञान)।

आपने संताली भाषा की विशिष्ट ध्वनियों के लिए देवनागरी-लिपि में कतिपय आवश्यक चिह्नों का आविष्कार किया है। आप संताली-लोकसाहित्य तथा संताली संस्कृति पर हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखकर हिन्दी की खासी सेवा कर रहे हैं। हिन्दी के साथ संताली, अँगरेजी और बँगला भाषा के जानकार हैं।

७. पण्डित जगदीश त्रिगुणायत

आप उत्तर-प्रदेश के देवरिया जिले के निवासी हैं। किन्तु अनेक वर्षों से बिहार-राज्य के राँची जिले में अध्यापक हैं। राँची जिला हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के प्रचार-मन्त्री के रूप में आप वहाँ साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आयोजनों के सफल बनाने में निरन्तर तत्पर रहे हैं। आदिवासी-क्षेत्र की भाषाओं के लोक-साहित्य का संकलन और अध्ययन मनन करते रहने में ही आपने अपने समय का सदुपयोग किया है। उन अविकसित भाषाओं के सम्बन्ध में आपकी खोज आज भी जारी है। मुण्डा-लोकगीत पर आपकी जो पुस्तक (बाँसरी बज रही) इस परिषद् से प्रकाशित हुई है, उसके लिए बिहार-सरकार ने आपको ढाई हजार रुपये का पुरस्कार दिया है। उस पिछड़े प्रदेश के लोकसाहित्य का उद्धार और उसमें राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार करना ही आपका जीवन-व्रत है। आप हिन्दी के कवि भी हैं। आपने अँगरेजी और बँगला की कई कविताओं का हिन्दी-पद्यानुवाद किया है। 'अरुणोदय' और 'छायागान'-नामक पुस्तकों में [illegible] मौलिक और अनूदित कविताएँ प्रकाशित हैं। आदिवासी लोक-साहित्य-[illegible] पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहते हैं।

८. श्रीजयदेव दास 'अभिनव'

आपका जन्म दरभंगा जिले के इमादपट्टी ग्राम में, सन् १६२० ई० में हुआ था। आपने राजनगर (दरभंगा) से मैट्रिक की परीक्षा पास की और सन् १६४० में बी० एन० कॉलेज (पटना) से ग्रेजुएट हुए। नवम्बर सन् १६४२ से दिसम्बर, १६४५ ई० तक आपने देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के सिलसिले में जेल-जीवन बिताया। मार्च, सन् १६४६ से नवम्बर, १६४८ ई० तक आप तत्कालीन स्वास्थ्य मंत्री श्रीजगलाल चौधरी के निजी सचिव रहे। तत्पश्चात् डिप्टी कलक्टर के पद पर नियुक्त होकर प्रमंडल-हरिजन-कल्याण-अफसर के रूप में कार्य करने लगे। सन् १६५१ ई० में राष्ट्रसंघ के फेलो नियुक्त होकर आपने 'समाज-कल्याण-योजना और प्रशासन' के अध्ययनार्थ संयुक्त-राज्य अमेरिका, पोर्टिको, जमाइका तथा मिस्र-देश का भ्रमण किया। नवम्बर १६५८ ई० तक आप छोटानागपुर के प्रमंडल-हरिजन-कल्याण-अफसर रहे। अभी आप पूर्णिया जिले में उपसमाहर्त्ता तथा उपदण्डाधिकारी के रूप में काम कर रहे हैं। आपकी काव्य-रचनाएँ हैं—१. नैश निराशा, २ अरुणा, ३. शतदल, ४. क्रान्ति-किरण। इनमें अभी केवल 'अरुणा' ही प्रकाशित हो सकी है। आपके अन्य अप्रकाशित गद्य-ग्रन्थ है—१. पूँजी (कार्लमार्क्स के कैपिटल का संक्षिप्त अनुवाद), २. वितरण, ३. मार्क्स के आर्थिक दृष्टिकोण: रूस और भारत। आपकी 'हो' भाषा सम्बन्धी दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं—१. मरजांग-बा-हुम्बा (शाल-पुष्प-गुच्छ), २. आंदी (विवाह-विधि)। हो-मुण्डारी-भाषा पर आपकी अन्य पुस्तकें अभी प्रकाशित नहीं हो पाई हैं।

११. श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

श्रीजवाहरलाल चतुर्वेदी मथुरा के निवासी और व्रजभाषा-साहित्य के विशेषज्ञ हैं। आपने 'सूरसागर' का सम्पादन बड़े परिश्रम से किया है। इसके लिए आपको भारतवर्ष के सभी बड़े ग्रन्थागारों में घूम-घूमकर 'सूर-सागर' की हस्तलिखित पोथियों का अध्ययन और संग्रह करना पड़ा है। व्रजभाषा-काव्य-सम्बन्धी हस्तलिखित पोथियों की, जो विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित हैं, आपने एक विवरणात्मक सूची तैयार की है। अयोध्या-नरेश के 'शृंगार-लतिका' नामक काव्य-ग्रन्थ, 'कन्हैयालाल पोद्दार-अभिनन्दन ग्रन्थ' तथा आचार्य भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय' का भी आपने सम्पादन किया है। आपकी व्रजभाषा-काव्य की ओर भी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आप कई वर्षों से व्रजभाषा का प्रामाणिक कोश बनाने के काम में संलग्न हैं। आपके पास व्रजभाषा के अनेक महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह है।

१२. पण्डित बदरीदत्त शास्त्री

शास्त्रीजी का जन्म बीकानेर के दरेरना ग्राम में, १ नवम्बर सन् १९११ ई० में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० नाथूरामजी ओझा है। आपकी शिक्षा काशी, लाहौर, जयपुर और पूना में हुई। आपने व्याकरणाचार्य (वाराणसी) साहित्याचार्य, पुराणाचार्य, वेदाचार्य, (बिहार) साहित्यरत्न (प्रयाग) तथा हिन्दी-प्रभाकर (पंजाब) की परीक्षाओं में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त की और दस स्वर्ण-पदक पाये। आपके अध्ययन का क्रम १९२८ ई० से सन् १९३५ ई० तक रहा। सन् १९३६ ई० में आपने शिला-लेखों का हिन्दी-अनुवाद ...। आप संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पंडित हैं और उसमें ऊँची-ऊँची उपाधियाँ

श्रीजवाहरलाल चतुर्वेदी मथुरा के निवासी और ब्रजभाषा-साहित्य के विशेषज्ञ हैं। आपने 'सूरसागर' का सम्पादन बड़े परिश्रम से किया है। इसके लिए आपको भारतवर्ष के सभी बड़े ग्रन्थागारों में घूम-घूमकर 'सूर-सागर' की हस्तलिखित पोथियों का अध्ययन और संग्रह करना पड़ा है। ब्रजभाषा-काव्य-सम्बन्धी हस्तलिखित पोथियों की, जो विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित हैं, आपने एक विवरणात्मक सूची तैयार की है। अयोध्या-नरेश के 'शृंगार-लतिका'-नामक काव्य-ग्रन्थ, 'कन्हैयालाल पोद्दार अभिनन्दन-ग्रन्थ' तथा आचार्य भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय' का भी आपने सम्पादन किया है। आपकी ब्रजभाषा-काव्य की ओर भी अनेक पुस्त... वर्षों से ब्रजभाषा का प्रामाणिक कोष बनाने... ब्रजभाषा के अनेक महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्र...

शास्त्रीजी का जन्म बीकानेर के ददेरवा ग्राम में, १ नवम्बर सन् १६११ ई० में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० नाथूरामजी ओझा है। आपकी शिक्षा काशी, लाहौर, जयपुर और पूना में हुई। आपने व्याकरणाचार्य (वाराणसी) साहित्याचार्य, पुराणाचार्य, वेदान्ताचार्य (बिहार) साहित्यरत्न (प्रयाग) त... हिन्दी-प्रभाकर (पंजाब) की परीक्षा... सर्वप्रथम स्थान प्राप्त की और दस... पदक पाये। आपके अध्ययन... सन् १६१८ ई० से सन् १६३५... चलता रहा। सन् १६३६ ई०... कुछ शिला-लेखों का ...

प्राप्त की हैं। संस्कृत की अनेक पाठय-पुस्तकों का प्रणयन आपने किया है।
भारत-गौरव-गाथा का संस्कृत में अनुवाद प्रस्तुत किया है।

सन् १९२८ से १९४० ई० तक आप पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन-का
रहे हैं। हिन्दी और राजस्थानी भाषा के संयुक्त मासिक-पत्र 'समाजबन्धु' का आपने
पूर्वक सम्पादन-कार्य किया है। संस्कृत के अतिरिक्त आप पालि, प्राकृत, अ
डिंगल, पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी, नेपाली आदि कई भाषाओं के विद्वान् हैं।

आपने हिन्दी के महाकवियों की सूक्तियाँ संगृहीत की हैं, जो अप्रकाशित हैं।
संस्कृत-रचना 'दुर्गावती-चरित्र' काव्य भी अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका है। अ
आप सन्त कोलम्बा कॉलेज (हजारीबाग) में संस्कृत और हिन्दी-विभाग-यक्ष हैं।

१३. डॉ० कृष्णलाल हंस

आप हिन्दी के एक सुपरिचित कवि और लेखक हैं। आपका जन्म श्रावण शुक्ल पंचमी, सं० १९६६ वि० में, मध्यप्रदेश के बैतूल नामक स्थान में, हुआ था। आपने सन् १९५२ ई० में एम० ए० तथा सन् १९५७ ई० में नागपुर-विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधियाँ प्राप्त कीं। प्रवेशिका से एम० ए० तक की सारी परीक्षाएँ आपने 'प्राइवेट' छात्र के रूप में ही दी हैं। लगभग १२ वर्षों तक आपने अध्यापन तथा १२ वर्षों तक पत्र-सम्पादन का का कार्य सफलतापूर्वक किया है। आप एक सफल अनुवादक भी हैं। मराठी और अँगरेजी भाषाओं से अनूदित आपकी छोटी-बड़ी पुस्तकों की संख्या २० है। साहित्य-सेवा आप सन् १९२५ ई० से करते आ रहे हैं। अथवा
दस मौलिक पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—म
मराठी-साहित्य का इतिहास, सूर-दर्शन, हिन्दी-साहित्य दर्शन, निमाड़ी के ल
निमाड़ी की लोककथाएँ (दो भागों में) तथा निमाड़ी और उसका लोक-म
इनमें 'निमाड़ी के लोकगीत' पर मध्यप्रदेश-राज्य द्वारा आपको एक सहस्र
पुरस्कार मिला है।
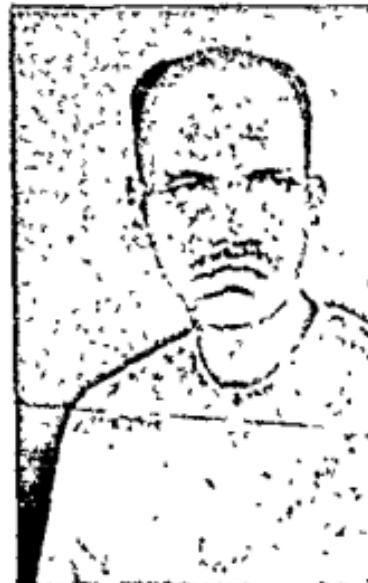
१४. डॉ० सावित्री शुक्ल

आपका जन्म लखनऊ के सुप्रसिद्ध एडवोकेट श्रीगंगाप्रसाद वाजपेयी के परिवार में सन् १६२६ ई० में, १६ जुलाई को हुआ। आपकी प्रारम्भिक एवं माध्यमिक शिक्षा लखनऊ के महिला-विद्यालय में हुई। आपने लखनऊ-विश्वविद्यालय से सन् १६५० ई० में बी० ए०, सन् १६५२ में एम० ए० और सन् १६५७ में एम० एड्० की परीक्षाएँ पास कीं। सन् १६५८ई० में उक्त विश्वविद्यालय ने आपको 'संत साहित्य की सामाजिक एव सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' नामक शोध-सम्बन्धी ग्रंथ पर डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी' की उपाधि प्रदान की। इस समय आप डी० लिट्० की उपाधि के लिए, निरंजनी-सम्प्रदाय' विषयक शोध-प्रवन्ध प्रस्तुत कर रही हैं। साहित्य के कविता, कहानी आदि क्षेत्रों में आप अपनी प्रतिभा दिखा चुकी हैं। आपकी प्रकाशित पुस्तकें हैं—(१) नाटककार सेठ गोविन्ददास, (२) मैथिल-कोकिल विद्यापति। आपकी 'संत-साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' नामक पुस्तक छप रही है।

१५ सरदार श्रीरुद्रराज पाण्डेय

इनका परिचय और चित्र हमें प्राप्त न हो सका।